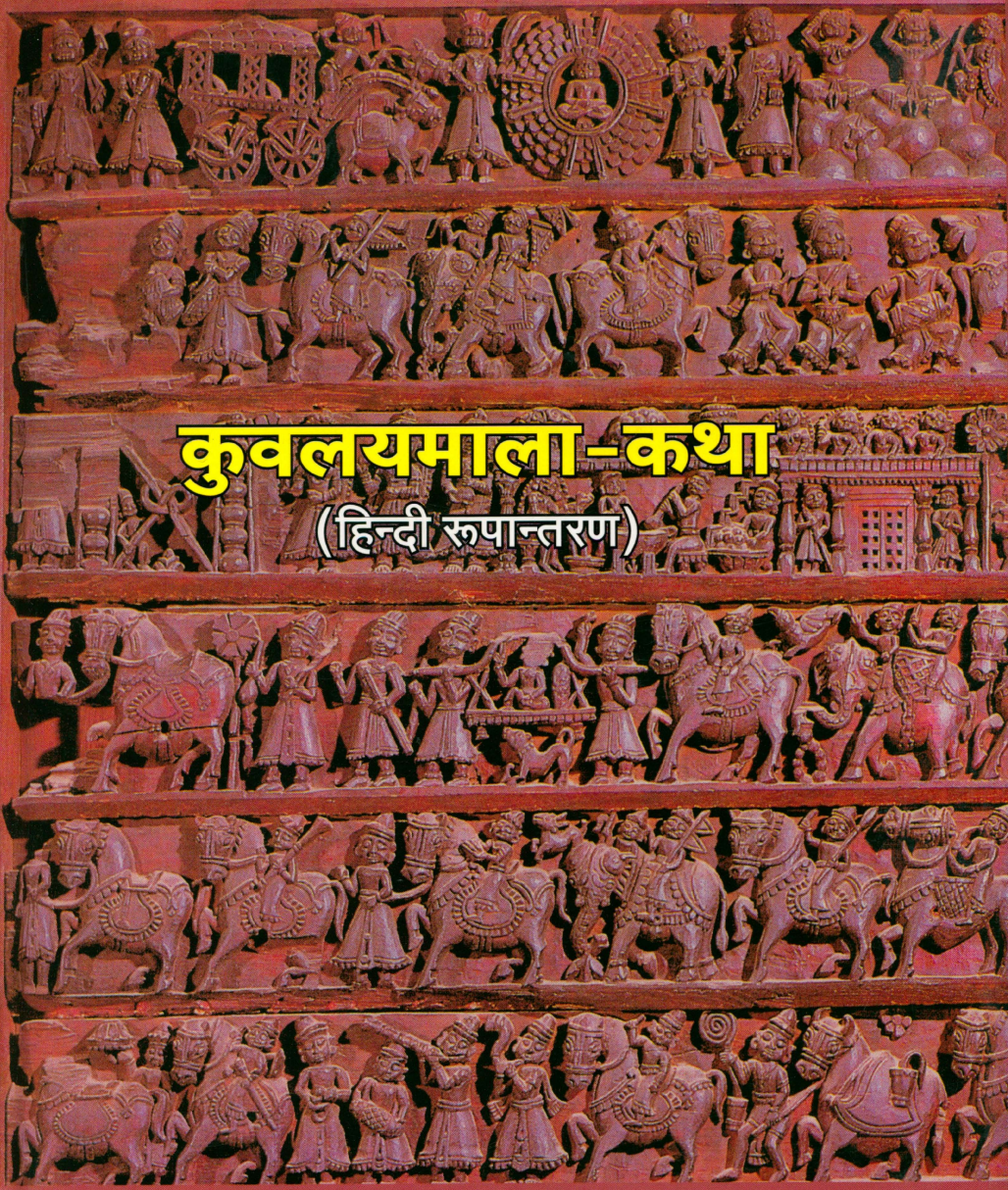

कुवलयमाला-कथा

(हिन्दी रूपान्तरण)

रूपान्तरकार एवं सम्पादक

साहित्य वाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर

आचार्य डॉ. नारायण शास्त्री काङ्कर

ग्रन्थ परिचय

'कुवलयमालाकहा' ग्रंथ मूल प्राकृत भाषा में है। इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् उद्योतनसूरि हैं। आठवीं शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र इसमें उपलब्ध है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। जल एवं स्थल मार्गों द्वारा व्यापारी दूर-दूर की यात्रा करते थे। उन दिनों विजयपुरी एवं सोपारक प्रमुख मण्डियाँ थीं। समाज में विभिन्न आयोजन होते थे। अनेक जातियों का उस समय अस्तित्त्व था। भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र, अलंकार एवं वाद्यों का व्यवहार होता था।

आचार्य उद्योतनसूरि भारतीय वाङ्मय के बहुश्रुत विद्वान् थे। उनकी एकमात्र कृति कुवलयमालाकहा उनके पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का पर्याप्त निष्कर्ष है। उन्होंने न केवल सिद्धान्त ग्रन्थों का गहन अध्ययन और मनन किया था, अपितु भारतीय साहित्य की परम्परा और विधाओं के भी वे ज्ञाता थे। अनेक प्राचीन कवियों की अमर कृतियों का अवगाहन करने के अतिरिक्त लौकिक कलाओं और विश्वासों के भी वे जानकार थे। अतः सिद्धान्त, साहित्य और लोक-संस्कृति के सुन्दर सामञ्जस्य का प्रतिफल है उनकी कृति कुवलयमालाकहा। कुडुंगद्वीप, जुगसमिला-दृष्टान्त, प्रियंकर एवं सुन्दरी की कथा, रण्युन्दुर आदि के दृष्टान्त धार्मिक वर्णनों में जान डाल देते हैं। धर्मकथा होते हुए भी कुवलयमाला की साहित्यिकता बाधित नहीं हुई है।

उद्योतनसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में 'कुवलयमालाकहा' की रचना विक्रम संवत् ८३५ के चैत्र वदी १४, ईस्वी संवत् ७७९ मार्च माह की २१ तारीख को १३००० श्लोक प्रमाण के रूप में पूर्ण की गई थी। लगभग १०० वर्ष पूर्व आचार्य जिनविजयमुनि की जानकारी में यह ग्रन्थ आया था। उन्होंने सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक ४६ के रूप में प्राकृत भाषा में सम्पादन कर प्रकाशित कराया। यद्यपि स्व. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा कुवलयमाला का समालोचनात्मक संस्करण १९५९ ई. में तथा प्रस्तावना आदि १९७० में भारतीय विद्या भवन, मुम्बई से प्रकाशित हुए।

प्राकृत भारती पुष्प 326

प्राकृतभाषा में विद्वरत्न दाक्षिण्य चिह्नाङ्कित श्री उद्योतन सूरिजी द्वारा प्रणीत
'कुवलयमाला कहा' का
श्रीयुत परमानन्द सूरि जी के शिष्य श्रीरत्नप्रभ सूरि जी द्वारा
संस्कृत में अनूदित

कुवलयमाला-कथा

(हिन्दी रूपान्तरण)

रूपान्तरकार एवं सम्पादक
साहित्य वाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर
तथा
म०म० राष्ट्रपति-सम्मानित
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार,डी.लिट्.

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
एम. एस. पी. एस. जी. चेरीटेबल ट्रस्ट, जयपुर

प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर,
जयपुर-302017
दूरभाष : 0141- 2524827 / 2520230

मंजुल जैन
मैनेजिंग ट्रस्टी
एम. एस. पी. एस. जी. चेरीटेबल ट्रस्ट
१३-ए मैन मालवीय नगर,
जयपुर-302017
मोबाइल नं० : 93148-89903

प्रथम संस्करण 2013

ISBN 13 : 978-93-81571-27-9

मूल्य : 250/- रुपये

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक :
दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
फोन : 0141—2562901

Kuvlayamala-Katha

Translated & Edited by :
M. Vinay Sagar, Dr. Narayan Shastri Kankar

Prakrit Bharti Academy, Jaipur
M. S. P. S. G. Charitable Trust, Jaipur

प्राकृत से संस्कृत में अनूदित

कुवलयमाला-कथा

(हिन्दी रूपान्तरण में)

रूपान्तरण-कर्ता

साहित्य-वाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर

आचार्य डॉ० नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार

प्रकाशकीय

'कुवलयमालाकहा' ग्रंथ मूल प्राकृत भाषा में है। इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् उद्योतनसूरि हैं। आठवीं शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र इसमें उपलब्ध है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। जल एवं स्थल मार्गों द्वारा व्यापारी दूर-दूर की यात्रा करते थे। उन दिनों विजयपुरी एवं सोपारक प्रमुख मण्डियाँ थीं। समाज में विभिन्न आयोजन होते थे। अनेक जातियों का उस समय अस्तित्त्व था। भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र, अलंकार एवं वाद्यों का व्यवहार होता था।

आचार्य उद्योतनसूरि भारतीय वाङ्मय के बहुश्रुत विद्वान् थे। उनकी एकमात्र कृति कुवलयमालाकहा उनके पाण्डित्य एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का पर्याप्त निष्कर्ष है। उन्होंने न केवल सिद्धान्त ग्रन्थों का गहन अध्ययन और मनन किया था, अपितु भारतीय साहित्य की परम्परा और विधाओं के भी वे ज्ञाता थे। अनेक प्राचीन कवियों की अमर कृतियों का अवगाहन करने के अतिरिक्त लौकिक कलाओं और विश्वासों के भी वे जानकार थे। अतः सिद्धान्त, साहित्य और लोक-संस्कृति के सुन्दर सामञ्जस्य का प्रतिफल है उनकी कृति कुवलयमालाकहा। कुडुंगद्वीप, जुगसमिला-दृष्टान्त, प्रियंकर एवं सुन्दरी की कथा, रण्युन्दुर आदि के दृष्टान्त धार्मिक वर्णनों में जान डाल देते हैं। धर्मकथा होते हुए भी कुवलयमाला की साहित्यिकता बाधित नहीं हुई है।

उद्योतनसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में 'कुवलयमालाकहा' की रचना विक्रम संवत् ८३५ के चैत्र वदी १४, ईस्वी संवत् ७७९ मार्च माह की २१ तारीख को १३००० श्लोक प्रमाण के रूप में पूर्ण की गई थी। लगभग १०० वर्ष पूर्व आचार्य जिनविजयमुनि की जानकारी में यह ग्रन्थ आया था। उन्होंने सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक ४६ के रूप में प्राकृत भाषा में सम्पादन कर प्रकाशित कराया। यद्यपि स्व. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा कुवलयमाला का समालोचनात्मक संस्करण १९५९ ई. में तथा प्रस्तावना आदि १९७० में भारतीय विद्या भवन, मुम्बई से प्रकाशित हुए।

इस ग्रन्थ के अनुवाद का कार्य मूर्धन्य विद्वान् सा. वा. महोपाध्याय विनयसागरजी द्वारा किया गया है। आपने अपनी उम्र के इस पड़ाव में इस ग्रन्थ को अनुवादित कर साहित्य जगत् में अभूतपूर्व योगदान दिया है। इस कृत्य के लिए हम आपके आभारी हैं। आशा है सुधी पाठकगण इससे लाभान्वित होंगे।

प्रकाशन से जुड़े सभी सदस्यों को धन्यवाद!

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

रूपान्तरकार-वक्तव्य

कोई भी देश हो, वहाँ के सहृदय व्यक्ति की अन्तरात्मा सदाचार से विरुद्ध हो रहे दुराचार से व्यथित हुए बिना नहीं रहती, भले ही व्यक्तिगत रूप से वह इस दुराचार का शिकार नहीं हुआ हो। परन्तु कुटुम्ब की इकाई व्यक्ति, समाज की इकाई कुटुम्ब, प्रदेश की इकाई समाज, राष्ट्र की इकाई प्रदेश और विश्व की इकाई राष्ट्र को दुराचारों से आक्रान्त और दुःखी देखता है तो सहृदय व्यक्ति का हृदय स्वतः ही पिघल जाता है।

वह इन दुराचारों का मूल कारण व्यक्ति के मन को प्रदूषित होना मानता है। वह अच्छी तरह जानता है कि जब मन प्रदूषित होता है, तभी व्यक्ति उसके प्रभाव में आकर नाना अनर्थ और उत्पात करने की ओर प्रवृत्त होता है। उस समय उसको कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नहीं रहता है। उसे स्वार्थ दृष्टि के सम्मुख यह भी बोध नहीं होता है कि मेरे किये गये अनर्थों से दूसरों को भी कष्ट पहुँचता है।

यह भी सत्य है कि भले ही उस प्रदूषित मन वाले व्यक्ति को उसके दुराचार से लाभ मिल जाता हो, अभीष्ट सुख हो जाता हो, परन्तु वह सब स्थायी नहीं होता। वह स्वयं भी उन अनर्थकारी दुराचरणों के कारण अपने आपको सुखी नहीं समझता। उसको भी सुख की नींद नहीं आती। क्या आज विश्व में फैली नाना प्रकार की आतङ्ककारी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले, प्रोत्साहित करने

वाले सुखी हैं? ज्यों-ज्यों इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए उपाय/प्रयास किये जाते हैं- त्यों-त्यों वे रक्तबीज के समान बढ़ते ही जाते हैं।

इस प्रकार समस्त विश्व की सुख-शान्ति की स्थिति उत्पन्न होती न देखकर सहृदय व्यक्ति शास्त्रोक्त बातों से, दृष्टान्तों से जनमानस को प्रदूषण से दूर रखने के लिए कथा, उपन्यास, नाटक, काव्य आदि के माध्यम से स्वत: स्फूर्त्त प्रेरणा से ही उद्यत हुए बिना नहीं रहते। उनकी लेखनी में वह अहिंसक शक्ति होती है जो बड़े-बड़े आयुधों में नहीं होती। यह निर्विवाद सत्य है कि आयुधों से वह स्थायी विजय नहीं मिलती है जो मानसिक प्रदूषण को दूर करने से मिलती है।

इसी बात को ध्यान में रखकर सभी देश विदेश के महामना विद्वान् ऋषि-मुनियों और साधु-सन्तों ने विश्वकल्याण की कामना से समय समय पर मनुष्य के मानसिक प्रदूषण को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए अपनी त्रिकाल-जयी जो कृतियाँ प्रस्तुत कीं, वे अवश्य ही जीवन में सदैव मानवमात्र द्वारा अनुसरणीय हैं।

उन्हीं महामना विद्वद् रत्नों में दाक्षिण्य चिह्नाङ्कित उद्योतन सूरिजी भी एक हैं। इन्होंने अपने समय की सर्वसामान्य द्वारा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त की जाने वाली ''प्राकृत'' भाषा में ''**कुवलयमाला-कथा**'' प्रस्तुत की जो जनमानस को प्रदूषण से बचन-बचाने का उपाय बताती है। प्रमुख रूप से इस कृति में जैन-शास्त्र में निर्दिष्ट स्थायी सुख प्राप्ति के उपाय बताये गये हैं। उनका अनुसरण करने से व्यक्ति को जहाँ सुखशान्तिमय जीवनयापन की प्राप्ति होती है, वहीं किसी के भी पूर्व जन्म और जीवन को जानने की भी अपूर्व सिद्धि मिल जाती है।

आगे चलकर जब ''प्राकृत'' भाषा जनसामान्य की भाषा नहीं रही और इससे प्राकृतभाषा में प्रस्तुत इस ''**कुवलयमाला-कथा**'' के उपयोग न करने से जनसामान्य वञ्चित रहने लगा तो तत्कालीन व्यावहारिक भाषा ''संस्कृत'' में इसका रूपान्तरण श्रीयुत परमानन्द सूरि जी के शिष्य श्रीरत्नप्रभ सूरि जी ने किया। गद्य-पद्य रूप में मिश्रित यह कृति 'चम्पू' काव्य है और एक प्रकार

से महाकवि बाण की कादम्बरी जैसी शैली मैं विरचित मनोहर दीर्घ कथा है। मुख्य कथा को बीच-बीच में अनेक अवान्तर कथाओं ने विस्तार का रूप प्रदान किया है। कथा इतनी रोचक और हृदयग्राही है कि उसे एक ही बैठक में पढ़ जाने को मन करता है।

सम्पूर्ण कथाकृति को चार प्रस्तावों में विभाजित किया गया है। कृतिकार ने परम्परानुसार प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करके कथा का उद्देश्य बताते हुए इसको संवेगजननी धर्मसंकीर्ण कथा का रूप दिया है। कथा का सारांश प्रस्तुत करके कथा प्रारम्भ की गयी है जो अन्त में चतुर्थ प्रस्ताव में समाप्त हुई है। अपने कथ्य को प्रभावी बनाने के लिए जहाँ इसमें क्रोध पर चण्डसोम, मान पर मानभट, माया पर मायादित्य, लोभ पर लोभदेव, मोह पर मोहदत्त आदि की अवान्तर कथायें दी गयी हैं वहीं व्रतदृष्टान्त, विनयदृष्टान्त, युगसमिलादृष्टान्त, परमाणुदृष्टान्त प्रभृति भी दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

स्वनामधन्य उद्योतन सूरि जी को 'ह्री' नाम की देवी ने प्रसन्न होकर जो वृत्तान्त सुनाया था, वही इस "**कुवलयमाला-कथा**" में ग्रथित हुआ है।

कालक्रम से अब संस्कृत भाषा भी सर्वसामान्य की दैनिक व्यवहार की भाषा न होकर कुछ पण्डित समाज तक ही सिमिट कर रह गयी। इस कारण प्राकृतभाषा से संस्कृत में रूपान्तरित कुवलयमाला कथा का लाभ जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं उनको भी मिले, इस दृष्टि से संस्कृत में रूपान्तरित कुवलयमाला का यह राष्ट्रभाषा हिन्दी में अद्वितीय रूपान्तरण तैयार कर प्रकाशित किया जा रहा है। वैसे भी विश्व की सभी भाषाओं में यह रूपान्तरित हो तो मानवमात्र को इससे अनिर्वचनीय लाभ होने की परम आशा है।

आभार

मेरे शिरश्छत्र पूज्य पाद श्रीयुत जिनमणिसागरसूरिजी महाराज के अमोघ शुभाशीर्वाद का ही सुफल है कि मैं साहित्य-यज्ञ में सम्मिलित हो सका, उन्हीं की अन्तःप्रेरणा से आज भी इस साहित्य-क्षेत्र में प्रवृत्त हूँ।

इसके सम्पादन एवं रूपान्तरण में मेरे अनुजकल्प पण्डित नारायणशास्त्री काङ्कर जो कि राष्ट्रपति पुरस्कार से भी सम्मानित हैं, उन्होंने इसमें पूर्ण रस लेकर

सर्वात्मना सहयोग दिया है। चतुर्थ प्रस्ताव उन्हीं के द्वारा रूपान्तरित है। इसके लिये मैं उनको अपना अत्यन्त हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

मैं अपनी दिवङ्गत पुण्यात्मा धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोष जैन के प्रति भी अपनी भूयसी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिसने मुझे गार्हस्थ्य-चिन्ता से मुक्त होकर इस दुष्कर साहित्य साधना व्रत के निर्वहण में सतत संलग्न रहने के लिए अविरत प्रोत्साहित किया है।

ज्येष्ठ पुत्र आयुष्मान् मञ्जुल, पुत्रवधू नीलम, कनिष्ठ पुत्र विशाल, पौत्री तितिक्षा और पौत्र वर्द्धमान के सौजन्य, स्नेह, समर्पण और सहयोग के लिए उनको भी ढेर सारे साधुवाद और अन्तरङ्ग आशीर्वाद।

अन्त में प्राकृत भारती अकादमी के संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक साहित्यानुरागी, परम श्रद्धेय श्रीमान् देवेन्द्रराज जी मेहता के प्रति भी सदा सर्वथा सकार्त्तज्ञ्य नतमस्तक हूँ, जिनके महान् अनुग्रह से प्राकृत भाषा से संस्कृत में अनूदित **'कुवलयमाला-कथा'** अब हिन्दी रूपान्तरण में प्रकाशित होकर साहित्यानुरागी पाठक-वृन्द के करकमलों में पहुँच रही है। परमपिता परमेश्वर इनको सारोग्य, समृद्धिमय और सुदीर्घायुष्य प्रदान करें।

विनयावनत

म० विनयसागर

मानद निदेशक,

प्राकृत भारती अकादमी

श्री वीतरागाय नमः

कुवलयमाला-कथा

(हिन्दी रूपान्तरण)

प्रथम प्रस्ताव

जिन्होंने अपने तेज से दूसरे सब तेजों को अस्त कर दिया है जो अज्ञान-रूपी अन्धकार से रहित हैं, जिन्हें बुद्धिमान् जन पुराणपुरुष कहते हैं, उन सुवर्ण- सरीखे वर्ण वाले परमात्मा को प्रणाम हो।

लोक और अलोक सम्बन्धी सब बातों को जानने वाले, मोक्ष के खुले हुए द्वार, सद्गुणों के स्थान, जिनके चरण कमल तीनों लोकों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं, जिनके धर्म का प्रभाव तीनों लोकों के जीवों का हित करने वाला है, ऐसे प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभनाथ तथा अन्य तीर्थंकर चिरकाल तक मनुष्यों को आनन्द देवें।

जैसे चन्द्रमा किरणों से कुमुद का विकास तथा अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार श्रीशान्तिनाथ रूपी चन्द्रमा मनुष्य के दोनों नेत्रों को आनन्द देवें।

मोक्ष के स्थान रूप, शिवा रानी के सुपुत्र श्री नेमिनाथ ऐसे मोक्ष को देवें, जिससे कभी फिर जन्म न लेना पड़े। जन्म से लेकर अन्त तक पालन किये हुए उन जिनेन्द्र के ब्रह्मचर्य को कौन नहीं जानता?

जो भगवान् नम्र हुए नाग की मणियों में प्रतिबिम्बित होकर, ऐसे शोभित हुए, मानों आठमूर्ति वाले हों और जो भगवान् अहङ्कार और क्रोध-रूपी चिता को निस्तेज करने में समर्थ हैं, वे भगवान् पार्श्वनाथ तुम्हारा कल्याण करें।

जिन परमात्मा महावीर के नाम रूपी मन्त्र के जपने से सारे पाप ऐसे भाग जाते हैं, मानो भगवान् के चरण के अग्र भाग में चिह्न के बहाने से रह रहे

सिंह के डर से हाथी भाग जाते हैं, वे भगवान् तुम्हारे मोक्ष रूपी सुख का विस्तार करें।

कवि लोग जिस देवी की कृपा से अमूल्य और अविनश्वर तथा सुगुण में मनोहर काव्य रूपी वस्त्र की रचना करते हैं, वह सरस्वती देवी तुम्हारे मनोरथ को पूरा करे।

जिन गुरु के गो-संग से ज्ञान रूपी कमल अवश्य खिल जाते हैं, उन अज्ञानरूपी अन्धकार के समूह को नाश करने वाले तथा दो प्रकार शारीरिक और आध्यात्मिक कान्ति से शोभायमान गुरु को मैं हर्ष के साथ प्रणाम करता हूँ।

अर्थ के विस्तार रूपी सुगन्ध को सूँघने के लिए पण्डित रूपी भौंरे जिसमें इकट्ठे हुए हैं, ऐसी कुवलय-कमल की माला की तरह यह कुवलयमाला नाम की कथा, इस कुवलय भूमण्डल में जयवन्ती होवे।

पण्डितों के मन रूपी मानस-सरोवर में राजहंसी जैसी यह 'कुवलयमाला' नाम की कथा पहले-पहल श्री दाक्षिण्यचिह्न सूरि ने प्राकृत भाषा में रची थी। उसी को मैं (रत्नप्रभसूरि) चम्पू रूप से संस्कृत भाषा में रचता हूँ। विद्वान् लोग प्रसन्नता के साथ इसका अवलोकन करें।

चार गतियों में उत्पन्न होने वाले पापों से भरे हुए इस अपार संसाररूपी समुद्र में घूमते-घूमते बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। उसमें भी पुरुषत्व बड़ा दुर्लभ है। इसलिए जिन पुरुषों को पुरुषत्व प्राप्त हुआ है उन्हें पुरुषार्थों में आदर करना चाहिए। पुरुषार्थ तीन प्रकार के हैं- धर्म, अर्थ और काम। तथा किसी-किसी पुरुष को मोक्ष नाम का चौथा पुरुषार्थ भी सिद्ध करने योग्य है। इन पुरुषार्थों रहित मनुष्य, चाहे वह कैसा ही सुन्दर हो, तो भी उसका जीवन जंगल में खिले हुए मालती के फूल की तरह वृथा है। इन पुरुषार्थों में एक धर्म पुरुषार्थ ही विशेष कल्याण करने वाला है। धर्म संसार में अनेक तरह का फैला हुआ है। किन्तु जैसे सब मणियों में कौस्तुभ मणि, हाथियों में ऐरावत हाथी, समुद्र में क्षीर समुद्र, मनुष्यों में चक्रवर्ती, वृक्षों में कल्पवृक्ष, पर्वतों में सुमेरु पर्वत और सब देवों में इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार सब धर्मों में जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म शोभित है।

जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म चार प्रकार का है-दान, शील, तप और भावना। संसार भर में जिनकी कीर्ति फैली हुई है उन आदिनाथ ने धन सार्थवाह के भव में मुनियों को घी का दान करके दान धर्म की स्थापना की थी। उसके बाद सिद्ध और गन्धर्व आदि के सामने भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की कि - "मैं किसी प्रकार का पाप कार्य नहीं करूँगा।" अर्थात् चारित्रधर्म को स्वीकार करके शीलधर्म को स्थापित किया। इसके पश्चात् एक वर्ष का उपवास करके तप धर्म का प्रकाश किया। फिर एकत्वभावना अशरणभावना, तथा कर्मवर्गणा, कर्मबन्ध और मोक्ष, नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में आने जाने से होने वाले सुख-दुःख तथा धर्मध्यान शुक्ल ध्यान इत्यादि की भावनाओं को विचार करके भगवान् ने भावनाधर्म को प्रगट किया। आजकल के मनुष्य में न तो वैसी शक्ति है न वैसा संहनन ही। इसलिए हम लोगों ने उस ऊँचे दर्जे के दान, शील और तप को प्रायः छोड़ दिया। अब हम लोगों को संवेग उत्पन्न करने के लिए भाव धर्म ही उपयोगी है, क्योंकि सज्जनों के झूठे को दिखाने के लिए हम लोग तैयार रहते हैं, चित्त सदा प्रमादी रहता है, दुष्टों की संगति में रहना पड़ता है और दूसरे के अवगुणों की देखादेखी करते हैं। अतः जिनेन्द्र भगवान् के, मुनिवरों के तथा अन्य सत्पुरुषों के अच्छे गुणों का कीर्तन करके अपना-अपना जन्म सफल करना चाहिए। पहले पादलिप्त, शातवाहन, षट्कर्ण, कवि मालाक, देवगुप्त, बन्दिक, प्रभञ्जन और श्रीहरिभद्र सूरि वगैरह जो महाकवि हो चुके हैं, जिनका एक एक काव्य आज भी सज्जनों का मन लुभा लेता है, उनकी कवित्व की शक्ति का हम किस प्रकार अनुभव कर सकते हैं? यदि मकड़ी के जाल के तन्तुओं से मदोन्मत्त हाथी बाँधे जा सकें, तुच्छ गुञ्जा फलों (घुङ्गचियों) से विद्रुम मणि शोभा पा सके, काच के टुकड़ों से वैडूर्य मणि जैसी कान्ति प्रकाशित होने लगे, भुजाओं से समुद्र पार किया जा सके, या तराजू से मेरु पर्वत तोला जा सके तो बुद्धिमानों के चित्त को प्रसन्न करने वाली कथा मुझ जैसे व्यक्ति से रची जा सकती है। यह कथा मैंने अपने कविपने के घमण्ड में आकर, व्याकरणशास्त्र की पण्डिताई बताने के लिए या ऊँचे तर्कशास्त्र की विद्वत्ता जताने के लिए या साहित्यशास्त्र में मैं पूरा हूँ-पूर्ण विद्वान् हूँ-यह प्रगट करने के लिए नहीं रची है, परन्तु अपने विनोद के लिए ही लिखी है।

कथा पाँच प्रकार की है-1 सकल, 2 खण्ड, 3 उल्लाप, 4 परिहास और 5 वर। ये कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं। जिसमें इन पाँचों का वर्णन होता है, संकीर्ण कथा कहलाती है। इस ग्रन्थ में संकीर्ण कथा कही जायगी। वर तीन प्रकार की है-1 धर्मसंकीर्ण 2 अर्थसंकीर्ण और 3 कामसंकीर्ण। इस ग्रन्थ में धर्मसंकीर्ण कथा कही जायगी। धर्मकथा भी चार प्रकार की है-1 आक्षेपिणी, 2 विक्षेपिणी, 3 संवेगजननी और 4 निर्वेदजननी। आक्षेपिणी अर्थात् मन के अनुकूल, विक्षेपिणी अर्थात् मन के प्रतिकूल, संवेगजननी अर्थात् वैराग्य उत्पन्न करने वाली, निर्वेदजननी अर्थात् संसार पर खेद उत्पन्न करने वाली। यहाँ संवेगजननी कथा कही जायगी। इस कथा का शरीर यह है कि इसमें सम्यक्त्व का लाभ रहा हुआ है, परस्पर मित्र का कार्य किया हुआ है और मोक्ष गमन रूपी सार भरा हुआ है। यह कथा-शरीर श्रीदाक्षिण्यचिह्न सूरि ने रचा है।

कथा का सारांश

इस कथा का मुख्य नायक कुवलयचन्द्र है। पहले उसका जन्म, फिर उसके पूर्व देवमित्र द्वारा हरण किया जाना, निर्जन वन में कुवलयचन्द्र द्वारा सिंहदेव और मुनि का देखा जाना, मुनिराज से पाँच मनुष्यों के पूर्वभव का वृत्तान्त सुनना, उस सिंह को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना, सम्यक्त्व ग्रहण करके पाँचों का स्वर्ग में जाना, स्वर्ग में तरह तरह के भोग भोग कर फिर भरतक्षेत्र में जन्म लेना और एक दूसरे को बिना पहचाने ही केवली भगवान् के पास बोध पाकर संवेग प्राप्त करना तथा तीव्र तपस्या से समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष पाना, इत्यादि बातों का वर्णन इस कथा में किया गया है।श्री दाक्षिण्यचिह्न सूरि पर 'ह्री' नाम की देवी प्रसन्न हो गई थी। उसने जो वृत्तान्त सुनाया वही इस 'कुवलयमाला' नाम की कथा में गूँथा गया है। उसी के अनुसार असार वचनों वाले मैंने भी इसे रचा है। महात्मा पुरुषों को चाहिए कि वे इसे पढ़ें और सुनें। कहा भी है-

निस्तेजसोऽपि माहात्म्यं, महानर्पयति श्रितः।
भर्गसंसर्गतः पश्य, पावित्र्यं भस्मनोऽपि हि।।

अर्थात्- वस्तु चाहे तुच्छ ही हो, परन्तु उसे यदि महापुरुष आश्रय दे देवें तो वही महत्त्व वाली समझी जाती है। देखिये, शिवजी के संसर्ग से राख भी पवित्र कहलाती है।

सज्जनों को चाहिए कि वे दुर्जनों को दूर से ही दुतकार देवें, क्योंकि दुर्जन द्विधा=दोनों प्रकार से स्व अर्थात् धन और जीवन, देने पर भी दूसरों को दो कर देता करता ही है। खैर, सज्जन और दुर्जन दोनों ही अपने अपने कामों में लीन रहते हैं, अतः दोनों की चर्चा छोड़कर आत्मकल्याण के लिए संक्षेप से यह कथा कहता हूँ।

कथा-प्रारम्भ

जम्बूद्वीप में द्वितीया के चन्द्रमा के आकार का छह खण्ड वाला भरत का दक्षिणार्ध क्षेत्र है। भरतक्षेत्र में विनीता नाम की एक नगरी है। वह मध्यदेश की भूमि के मुकुट की मणि सी जान पड़ती है। इस नगरी में महापुरुष नाभि राजा के पुत्र श्रीऋषभदेव का जब राज्याभिषेक हुआ, तब इन्द्र का आसन काँपने लगा। आसन के काँपने से उसने अवधिज्ञान के द्वारा जाना कि भगवान् के राज्याभिषेक का समय है। इन्द्र आया और उसने राज्याभिषेक किया। बाद में युगलिया कमल के पत्ते के दोने में पानी भर कर अभिषेक के लिए आये और भगवान् को अलंकृत देख, उनके दोनों चरणों पर जल छोड़कर अभिषेक किया। इन्द्र ने यह देखकर हर्ष के साथ कहा-"यह नगरी उत्तम और विनयवान् पुरुषों से भरी हुई है। तब ही से इस नगरी का नाम 'विनीता' पड़ गया।

इसी नगरी में प्रसन्न चित्त वाले भक्ति और शुभ वासनाओं से भरपूर अन्तःकरण वाले इन्द्र ने अनन्त महिममय और अनुपम शरीर रूपी लक्ष्मीवाले श्री ऋषभदेव के लिए एक मनोहर, सुन्दर और ऊँचा महल बनावाया। ऊँचे-ऊँचे देवालयों पर लटकने वाली ध्वजाओं के वस्त्र मानो उस नगरी के हाथ थे और उन हाथों से 'मेरी सरीखी दूसरी कोई नगरी नहीं है' ऐसा बतलाती हुई वह नगरी शोभा पा रही थी। शरद् ऋतु की शोभा को धारण करने वाली, चमकती हुई स्फटिक मणि की बनाई गई और जिनके ऊपरी हिस्से मानो आकाश को चूमते हों ऐसी हवेलियाँ आकाश में चलने वाले सूर्य के रथ को खरोल देती थीं। विनीता नगरी में मृदङ्ग ही दो मुख वाला था, तलवार ही तीखी थी, घूमते फिरने की आदत भौंरो में ही थी, चन्द्रमा ही कलङ्की था, राजहंस

ही प्रवासी थे, मोर ही चित्रविचित्र थे, बालक ही अविनयी थे, बन्दर ही चपल थे, अग्नि ही किसी को सन्ताप पहुँचाती थी, किन्तु मनुष्य कोई ऐसा न था। वहाँ के पत्थर सुस्पर्श वाले=चिकने, जल अमृत जैसा और वृक्ष सब छायादार ही थे। ऋषभदेव के निवास के लिए इन्द्र की आज्ञा से देवों ने उस नगरी को बनाया था, अतएव उसका पूरा वर्णन तो हो ही कैसे सकता है? वहाँ अनेक अचम्भे के स्थान थे, जिन्हें देखकर मुसाफिर लोग अपनी थकावट तथा प्रवास भूल जाते थे। ऐसी कोई चीज न थी जो वहाँ सहज ही न मिल जाय। कहानियों-में जो चीजें सुनी जाती थीं, वे भी वहाँ देखने को मिलती थीं। उस नगरी में हँसों का ही शरीर टेढ़ा-मेढ़ा था, मच्छों में ही कुल का क्षय देखा जाता था और प्रसूतिगृह में ही अरिष्ट था, परन्तु लोगों में वक्रता, कुल का क्षय या अरिष्ट नहीं था। न उसमें मनुष्य तथा सरोवर कमलाश्रित सद्वृत्त से शोभा पाने वाले, स्वच्छ, सच्छाया वाले और द्विजों से भूषित थे। जान पड़ता था कि स्त्रियों के मुखकमल की सुन्दरता से हारकर लज्जा के मारे कमल की पंक्ति सरोवर के जल में तपस्या कर रही है। वह नगरी अखूट विभूति वाले घरों की ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से ढँकी हुई थी, इसलिए वहाँ के लोगों को सूर्यमण्डल दिखाई न देता था।

वहाँ के राजा का नाम दृढधर्मा था। वह स्वभाव का सरल, चतुरता का भण्डार, दान देने में शूरवीर, दयालु, शरण में आये हुए की रक्षा करने वाला और मधुर वचन बोलता था। वह राजा दुर्भाग्य रूपी शीत से सताये हुए प्राणियों के लिए अग्नि सरीखा था, किन्तु स्वयं अग्निरूप क्रोधी नहीं था। अच्छे आदमियों के मुख- रूपी कमल को खिलाने के लिए सूर्य के समान था, किन्तु स्वयं सूर्य नहीं था। आत्मीय जन रूपी कल्पवृक्षों को हराभरा करने के लिए वर्षा ऋतु के समान था, प्रेमी जन रूपी कमलिनियों के लिए हेमन्त ऋतु के समान था, अपनी स्त्री रूपी कुन्द लताओं के लिए शिशिर ऋतु के समान था, मित्र रूपी वन के लिए वसन्त ऋतु के समान था और शत्रु रूपी जलाशयों के लिए ग्रीष्म ऋतु के समान था। वह राजा अपने राज्य में सतयुगी अवतार सा था और शत्रु राजाओं के देश में कलिकाल के समान था। वह अपनी पत्नी में संतोषी था, कीर्ति पाने में सन्तोषी न था। गुणों का लोभी था, पर धन का लोभी न था, उसे सुभाषित सुनने की इच्छा रहती थी, परन्तु कुकर्म करने की इच्छा न

होती थी, वह सब कलाओं में निपुण था, किन्तु मीठे और खुशामदी वचन बोलने में निपुण न था। तलवार की तेज धार से विदारण किये हुए शत्रुओं के हाथियों के गण्डस्थल से गिरे हुए मोतियों से समस्त भूतल को भूषित करने वाले, बेरोकटोक सब जगह फैले हुए असीम प्रताप से तमाम शत्रुओं की कीर्ति वाले सरोवरों को सोखने वाले शरद् ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति निर्मल गुणों वाले, असीम सौभाग्य रूपी लक्ष्मी ने अपनी इच्छा से जिसके शरीर की विभूति को कटाक्ष का निशाना बनाया था ऐसे, नमे हुए अनेक राजाओं के मस्तकों पर रखे हुए अनेक मणिमय मुकुटों के अग्रभाग में निकली हुई देदीप्यमान कान्ति के समूह से जिसके चरण कमल चित्र विचित्र हो गये थे ऐसे और अपने प्रताप से आक्रमण किये गये दिशा-मण्डल के छोर तक जिसकी आज्ञा ने विश्राम पाया था। ऐसे राजा दृढधर्मा की स्वयंवर में परणी हुई प्रियङ्गुश्यामा नाम की प्रिया थी। वह विष्णु के लिए लक्ष्मी की तरह तथा चन्द्रमा की चांदनी की भाँति रनवास भर की रानियों में मुख्य थी और समस्त गुणों से मनोहर थी। वह अपनी बेजोड़ रूप से देवियों को लज्जित करती, दूसरी जगह न पाने जाने वाले पवित्र सौन्दर्य से बढ़ी हुई निर्मल चांदनी की भाँति देदीप्यमान और सदा सद्ध्यान और सद्धर्म में सावधान रहने वाली थी। जैसे इन्द्र इन्द्राणी के साथ विषयसुख भोगता है उसी प्रकार दृढधर्मा ने भी प्रियङ्गुश्यामा के साथ कुछ दिन बिताये।

किसी समय दृढधर्मा अपने थोड़े से मन्त्रियों के बीच अपनी अन्तरङ्ग सभा में बैठा था। प्रियङ्गुश्यामा भी उसके बाईं ओर आनन्द के साथ बैठी थी। उस समय हाथ में छड़ी लिये हुए एक प्रतिहारी (सेविका) आई और राजा को बड़े भक्ति भाव से प्रणाम करके बोली-"देव! उस दिन आपकी आज्ञा से शबर सेनापति का पुत्र सुषेण मालवा के राजा को जीतने के लिए गया था। इस समय वह दर्वाजे पर खड़ा है और आपके चरण कमल के दर्शन करना चाहता है।"

राजा - आने दो।

प्रतिहारी - महाराज की आज्ञा प्रमाण है।

इतना कहकर वह उसे भीतर ले आई। सुषेण ने राजा को देखा और कुछ पास आकर उन्हें नमस्कार किया। राजा ने 'आसन' कहते हुए सिर पर

हाथ फेरकर उसका आदर किया। सेनापति ने रानी को भी प्रणाम किया और मन्त्रियों के पास योग्य आसन पर बैठ गया। अपनी स्नेह भरी और उज्ज्वल पलकों वाली आँखों से हृदय में रहे हुए हर्ष की बूँदें निकालते हुए राजा ने पूछा-''सुषेण! आनन्द में तो हो?''

सुषेण - आपके चरण युगल के दर्शन से आज भी मैं सकुशल हूँ।

राजा - मालवराज के साथ क्या कैसा हुआ?

सुषेण - आपकी आज्ञा से उस दिन चतुरङ्ग सेना वाले मालवराज के साथ अपनी लड़ाई हुई। चारों ओर फैली हुई मेरी सेना ने आपके प्रताप से शत्रु की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया और उसके पास जो कुछ था, सभी लूट लिया। शत्रु की सेना में पाँच वर्ष का राजकुमार बालक ही है परन्तु वह बालक सरीखा न था। वह अपनी निज की शक्ति से युद्ध करता था, उसे भी हमने पकड़ लिया है। वह कुमार अभी दर्वाजे पर खड़ा है।

राजा ने यह बात सुनकर राजकुमार को अन्दर लाने की आज्ञा दी। मालवकुमार महेन्द्र दीनता रहित दृष्टि से देखता हुआ सभा में आया। वह ऐसा मालूम होता था कि सब गुणों वाला गन्धहस्ती हो। वह चमकते हुए सौभाग्य से सुन्दर मालूम होता था। उसके अवयव पवित्र शोभा से लावण्ययुक्त थे और शरीर चम्पक वृक्ष के फूल की तरह उज्ज्वल और कोमल था। सचमुच कुमार अनेक गुणों का मन्दिर ही होने वाला था। राजा ने उसे उछाह के साथ प्रेम पूर्वक दोनों भुजाओं में पकड कर अपनी गोद में बैठा लिया। राजा की ऐसी दशा हुई जैसे समुद्र चन्द्रमा को देखकर उछलने लगता है। राजा ने उसे छाती से लगाकर कहा- ''अहा! कुमार का पिता वज्र की तरह कठोर हृदय का जान पड़ता है, जो कुमार से वियोग हो जाने पर भी अब तक जीवित है।'' रानी भी देवकुमार सरीखे कुमार को देखकर पुत्र की तरह प्रेम धारण करती हुई बोली- ''जिसकी कूंख में रोहणाचल सरीखा असाधारण गुणों वाला पुत्र पैदा हुआ है, वह माता धन्य है। लेकिन वह स्त्री बड़ी निर्दय मालूम होती है जो ऐसे पुत्र के विरह होने पर भी प्राण धारण किये हुए है।'' यह सुनकर मन्त्री बोले- ''जहाँ भाग्य का फल ही ऐसा हो वहाँ राजा क्या करे? यह आपके पुण्य का फल है, कहा भी है-

भवेयुर्न भवेयुर्वा, यस्य कस्यापि भूस्पृशः।

अतीव स्युः पुनः पुण्य,-वशतः सर्वतः श्रियः।।

अर्थात् किसी के यहाँ लक्ष्मी होती है, किसी के नहीं भी होती और किसी के अत्यन्त पुण्य के उदय से सब प्रकार की लक्ष्मी होती है।

हृदय के दुःख रूपी अग्नि की ज्वाला से कुमार का चित्त झुलस गया था। वह उसी समय आँसू बहाकर रोने लगा। वह ऐसा जान पड़ने लगा कि जल की तरङ्ग से सौ पत्ते वाला कमल बह रहा हो या उदयाचल पर्वत का आश्रय लेने वाले (उदित होते समय के) सूर्यमण्डल की किरणों से तिरस्कृत धूसर वर्ण वाले चन्द्रमा का बिम्ब हो या जलते हुए दीपक की लौ से संतापित मालती का फल हो। बालक के मुँह की ओर देखकर राजा बोला- "इसके मन में कोई बहुत बड़ा दुःख है।" ऐसा कहते ही उसकी दोनों आँखें आँसुओं से भर आयीं। स्वभाव से दयावती रानी की आँखों से उसके कुच कुम्भों पर गिरने वाली आँसुओं की बूँदों से वह ऐसी मालूम होने लगी कि हार पहन लिया है। राजा ने अपने कपड़े के छोर से बालक का मुख कमल पोंछ दिया। नौकर ठण्डा पानी लाये और रानी तथा मन्त्रियों ने उसका मुँह धो दिया। राजा बोला "सुरगुरु वगैरह मन्त्रियों! बताओ, मेरी गोद में बैठा-बैठा यह बालक क्यों रोने लगा?"

एक मन्त्री - आखिर बालक है। माता पिता के वियोग से मन में दुःख हुआ होगा और इसीसे रोने लगा होगा। इसके सिवाय और क्या कारण हो सकता है?

दूसरा मन्त्री - महाराज, आपको देख कर इसे अपने माता-पिता का स्मरण हो आया और इसी कारण रो पड़ा।

तीसरा मन्त्री - स्वामिन्! इसे यह नहीं मालूम है कि मेरे माता-पिता कैसी दशा में हैं? इसी से यह रोने लगा।

राजा - इस विषय में हम लोग अनुमान बाँधें। इसी बालक से पूछना चाहिए। यह कह कर उसने पूछा- "बेटा महेन्द्रकुमार! बताओ तुम क्यों रोये?"

राजा की बात सुन कुमार ने हिचकियाँ लेते-लेते मीठे और गम्भीर शब्दों में कहा-"देखिये, भाग्य का कैसा अनोखा खेल है। इन्द्र के समान पराक्रम

वाले मेरे पिता को राज्य से च्युत होना पड़ा और मुझे शत्रु की गोद में आकर इस शोचनीय दशा को प्राप्त होना पड़ा। राजेन्द्र! इस शोक के कारण ही मेरे आँसू न रुक सके।''

''अहो! इसके मुख से ऐसे मधुर वचन निकले? इसके वचनों से मालूम होता है कि इसे कार्य-अकार्य का कैसा विचार है? अहो, यह सब आश्चर्यजनक है।'' इस प्रकार कहते हुए राजा ने मन्त्रियों के मुँह की तरफ देखा। मन्त्री बोले ''महाराज! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। चने की बराबर अग्नि का भी स्वभाव जला डालने का होता है। सरसों बराबर रत्न भी बेशकीमती होता है। महान् वंशों में उत्पन्न होने वाले राजपुत्र, सत्त्व, पुरुषार्थ और मान से पैदा हुए गुणों की विभूति के साथ ही साथ बड़े होते हैं। स्वामिन्! यह मामूली आदमी नहीं, वरन् स्वर्ग से आये हुए देवों के कुछ कर्म बाकी बचे रहते हैं, उन्हीं से वे ऐसे वंश में उत्पन्न होते हैं।

''बेशक यही बात है'' कहकर राजा ने कुमार से कहा-''वत्स, चिन्ता से चित्त में घबराहट न लाओ। मैं तुम्हारा शत्रु था, यह बात ठीक है, पर अब नहीं हूँ। जब से तू महल में आया तभी से तू और तेरे पिता मालवाधीश मेरे मित्र हैं। तू मेरे पुत्र के तुल्य है। यह जानकर अधीर न होओ। मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, यह बुद्धि त्याग दो। बेटे! यहाँ अपने घर की तरह खेलो-कूदो। सब अच्छा ही फल होगा।'' इस प्रकार समझा-बुझाकर राजा ने अपने गले का हार उतारकर कुमार के कण्ठ में पहना दिया और सुपारी के चूर्ण से युक्त नागवेल का पान खाने को दिया। कुमार ने 'महाप्रसाद' कहकर स्वीकार किया। इसके बाद राजा ने कुमार को सुरगुरु नाम के प्रधानमन्त्री को सौंप दिया और हिदायत कर दी कि इसे सावधानी से रमाइये कि यह अपने माँ-बाप की याद न करे और ऐसा यत्न करना कि यह मुझ निपूते का पुत्र हो जावे। फिर थोड़ी देर तक महाराज सभा में बैठकर सिंहासन से उठे और दिन के सब आवश्यक कार्य करते-करते दिन समाप्त हो गया।

राजा दूसरे दिन कुल-पर्वतों के बीच रहे हुए सुमेरु पर्वत की तरह माङ्लिक राजाओं के बीच में बाहर के सभामण्डप में बैठे हुए थे। उस समय रनवास में रहने वाली सुमङ्गला नाम की दासी आई। वह धुले हुए दो सफेद

वस्त्र पहने हुई थी और माङ्गलिक कण्ठसूत्र के आभूषण से ही शोभा पा रही थी। उसकी चाल राजहंसी जैसी थी। राजा ने उसे आते देखा। उसने आते ही राजा के दाहिने कान में धीरे-धीरे कुछ कहा त्यों ही राजा सिंहासन से उठकर प्रियङ्गुश्यामा के भवन की ओर चल दिये। रास्ते में राजा ने सोचा- 'सुमङ्गला कहती है नौकरों के नाना प्रकार से समझाने पर भी आज रानी ने न आभूषण पहने न भोजन ही किया। केवल असीम मौन धारण कर लिया है। भला, रानी के कोप का क्या कारण होगा? विचार कर देखूँ। स्त्रियों के कोप के कारण संभवत: पाँच होते हैं- एक तो प्रेम की शिथिलता, दूसरा गोत्र नाम का स्खलन, तीसरा चाकरों का अविनयी होना, चौथा सौत के साथ कलह होना और पाँचवाँ सासू के द्वारा तिरस्कार किया जाना। इनमें से पहले मेरे प्रेम में शिथिलता तो आई नहीं क्योंकि वह तो मेरे प्राणों की भी स्वामिनी है, फिर दूसरे की तो बात ही क्या? दूसरे नाम की भी स्खलना नहीं हुई क्योंकि मैं रनवास की तमाम दासियों को भी उसी के नाम से पुकारता हूँ। तीसरा कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि नौकर चाकर कदाचित् मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन कर देवें पर रानी की आज्ञा भङ्ग नहीं कर सकते। सौतों की कलह भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि रनवास की सभी स्त्रियाँ रानी को देवता के समान समझती हैं। रहा सासू के द्वारा तिरस्कार होना सो जब से मेरी माता-पिता के साथ अग्नि में प्रवेश करके देवी बन चुकी है तब से तिरस्कार होना संभव ही नहीं है। फिर क्या कारण होगा?' इस प्रकार सोचते-विचारते राजा देवी के निवास भवन में पहुँचे। वहाँ रानी न दिखाई पड़ी तो उसने दासी से पूछा "देवी कहाँ है?" दासी ने उत्तर दिया-"महाराज! देवी कोपभवन में बैठी हैं।" राजा कोपभवन में गया। वहाँ उसने हाथी के द्वारा उखाड़ी हुई कमलिनी या टूटी हुई वनलता या निकाली हुई पुष्पमञ्जरी की तरह मुरझाई हुई रानी को देखा। राजा बहुत बारीक नजरों से देखता हुआ उसके पास पहुँचा। रानी भी अँगड़ाई लेती हुई अपने आसन से उठी और राजा को आसन दिया। राजा और रानी दोनों आसन पर बैठे। राजा ने कहा-"कुपित प्रिये! शरद् ऋतु के मेघों द्वारा हत हुए कमल की तरह तुम्हारा मुख क्यों हो गया है? मुझे नहीं मालूम कि मुझसे या दूसरे किसी से कोई अपराध बन गया है। बन गया हो तो बताओ। क्या मैंने तुम्हारे भाई-बन्धुओं का सत्कार नहीं किया? तुम्हारे सेवक क्या विनीत नहीं हैं? तुम्हारी सौतें क्या तुम से विरुद्ध हो गई हैं? किस कारण तुमने कोप किया है?"

रानी ऐसे वचन सुनकर कुछ कुछ मुस्कुराती हुई अमृत के समान वचन बोली-''स्वामिन्! आपके चरण कमलों की कृपा से मुझे किसी प्रकार की कमी नहीं है। अनेक राजा अपने मस्तक के मुकुट की मणि से जिनके चरणों का स्पर्श करते हैं ऐसे आपकी पत्नी हो करके मैं अपने को भाग्यशालिनी समझती हूँ। किन्तु यहाँ रहते हुए मालवराजकुमार को देखकर आश्चर्य होता है कि उस पुण्यवती मालवराज की पत्नी के ऐसा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है और आप जैसे स्वामी होने पर भी मुझ अभागिनी के कोई पुत्र नहीं है। इस प्रकार विचारते-विचारते मुझे अपने ऊपर उदासी और आपके ऊपर कोप हुआ।'' यह सुनकर चकित चित्त वाले और नीति में प्रचेता मुनि के समान राजा ने विचार किया- 'अहो! देखो स्त्रीजाति की मूर्खता! इस प्रकार के झूठे और असम्बद्ध प्रलापों से कामिनियाँ कामी जनों के चित्त को हर लेती हैं', ऐसा मन में सोचकर राजाने कहा- ''देवि, यदि तुम्हारे कोप का यही कारण है तो इसका क्या उपाय है? पुत्र का होना भाग्य के अधीन है। इसमें पुरुषार्थ या किसी दूसरे उपाय की दाल नहीं गलती- कुछ नहीं चलती, कहा भी है-

अनुद्यमाय क्रुध्यन्ति, स्वजनाय कुबुद्धयः।

दैवायत्ताः पुनः सर्वाः, सिद्धयो नेति जानते।।

अर्थात् खोटी समझ के मनुष्य उद्यम से रहित स्वजन पर क्रोध करते हैं ,पर यह नहीं जानते कि सारी सिद्धियाँ भाग्य के अधीन हैं।

इसलिए हे देवि! ऐसी हालत में बिना कारण ही क्यों कोप करती हो?'' रानी ने कहा ''नाथ! बिना कारण मुझे क्रोध नहीं आया, वरन् कारण पाकर ही हुआ है। आप प्रयत्न करके किसी देवता की आराधना करके पुत्र की याचना करें तो क्या हमारा मनोरथ पूरा नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। अतः देवता की आराधना करके मुझ अभागिनी पर कृपा कीजिये'' इतना कहकर रानी राजा के पैरों पर गिर पड़ी। राजा ने हाथ उठाया और कहा- ''प्रिये! जो तुमने कहा है, वह मैं अवश्य करूँगा। धीरज रक्खो। सन्ताप को दूर करो और उत्तमोत्तम सुखों को भोगो। प्रिये! मैं आज ही रात में महादेव के सामने तीक्ष्ण तलवार से अपने मांस का होम करके, या कात्यायिनी देवी के निकट अपने मस्तक को भेंट चढाकर या महाश्मशान में किसी भूत-प्रेत-पिशाच आदि को

विद्या के द्वारा साधकर या इन्द्र की भी आराधना करके अवश्य ही पुत्र की याचना करूँगा।'' राजा के ये प्रतिज्ञा वाक्य सुन कर मारे हर्ष के रानी के अङ्ग में रोमाञ्च हो आया और मुखकमल खिल उठा।

राजा वहाँ से उठे और स्नान भोजन आदि करके सभा में आये। सभा में आकर सर्व विधियों को जानने वाले मन्त्रियों से बोले- ''सुरगुरु वगैरह मन्त्रियों! आज यह वृत्तान्त हुआ है'', ऐसा कह कर रानी के कोप का कारण तथा अपनी की हुई प्रतिज्ञा का हाल कहा। मन्त्री बोले- 'देव!

अङ्गणवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।

वल्मीकश्च सुमेरुः, कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य।।

भावार्थ- जिस धीर पुरुष ने प्रतिज्ञा कर ली हो उसके लिए सारा भूमण्डल आँगन के समान है, समुद्र कुलिया के समान है पाताल स्थल के समान है और सुमेरु पर्वत बाँबी (भिटा) के समान है। और-

पराक्रमवतां नृणां, पर्वतोऽपि तृणायते।

ओजोविवर्जितानां तु, तृणमप्यचलायते।।

भावार्थ- पराक्रमी पुरुषों के लिए पर्वत तिनके के समान है और पराक्रम-रहित पुरुषों के लिए तिनका भी पर्वत के बराबर मालूम होता है।

अतएव महाराज आपने जो विचार किया है, वह योग्य है सुन्दर है, क्योंकि लौकिक शास्त्रों में प्राचीन मुनियों ने कहा है-''अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'' पुत्र-रहित की अच्छी गति नहीं होती। महाराज पिण्ड, तिलाञ्जलि आदि कार्य पुत्र के बिना नहीं हो सकते। कहा भी है-

विद्यावतोऽपि नो यस्य, सूनुरन्यूनविक्रमः।

वृथा तज्जन्म शाखीव, पुष्पैराढ्योऽपि निष्फलः।।

अर्थात् विद्यावान् होते हुए भी जिसे पराक्रमी पुत्र न हो उसका जन्म उस वृक्ष की भाँति वृथा है जो फूलों से तो लदा हुआ हो किन्तु फल रहित हो।

अतः आपकी प्रतिज्ञा प्रशंसनीय है। लेकिन महाराज! महादेव आदि की आराधना महामांस की विक्रय वाली और जान को जोखिम में डालने वाली

है। इसलिए इन उपायों को जाने दीजिये। इसके बदले में आप भगवती राज्यलक्ष्मी नाम की देवी की उपासना कीजिये। उसने आपके वंश के पूर्वजों का बहुतेरा उपकार किया है। वह आपकी कुलदेवी है और पूज्य है। उसीसे पुत्र के वरदान की प्रार्थना कीजिये।'' मन्त्रियों की बात सुनकर राजा 'बहुत ठीक' कहकर आसन से उठे और मन्त्री भी उठ खड़े हुए।

दूसरे दिन पुष्य नक्षत्र और काली चतुर्दशी थी। राजा ने तमाम तिरस्तों और चौरस्तों में स्थापित किये हुए रुद्र आदि देवों की पूजा की, राक्षस आदि को बलिदान दिया और स्वयं स्नान करके धुले हुए दो सफेद वस्त्र पहने, समस्त शरीर में चन्दन का लेप किया, गले में मनोहर माला पहनी और नौकरों से पूजन की सामग्री की टोकरी उठवाकर राज्यलक्ष्मी देवी के मन्दिर में प्रवेश किया। वहाँ जाकर विधि के अनुसार देवी की पूजा की और दूब के आसन पर बैठ, दोनों हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगा-

''पद्मनाभविभोर्वक्षःपद्मभ्रमरवल्लभे।

विधेहि पुत्रपद्मं मे पद्मे पद्मासनस्थिते।।

अर्थात् श्री पद्मप्रभ प्रभु के वक्षःस्थल के कमल में रहे हुए भ्रमर जिन्हें प्यारे लगते हैं ऐसी पद्मासन (कमल के आसन) पर बैठी हुई हे पद्मावती देवी! मुझे पुत्र रूपी पद्म (कमल) दीजिये।'' राजा का हृदय भक्ति से भर गया। वह इन्द्रियों को काबू में करके तीन रात और तीन दिन तक बराबर उसी कुशासन पर बैठा रहा। चौथा दिन हुआ। किन्तु देवी के दर्शन न होने से वह उत्तेजित हो उठा। चेहरा भयङ्कर हो गया। क्रोध में आकर उसने बाँये हाथ से अपने बाल पकड़े और दाहिने हाथ से पास पड़ी हुई तलवार उठा ली। वह अपनी गर्दन पर तलवार चलाना ही चाहता था कि तत्काल 'हा! हा' कहती हुई देवी ने उसका हाथ पकड़ लिया। राजा ने ऊपर देखा कि देवी सामने आ गई। देवी के मुख-चन्द्र के पास रहने पर भी उसका कर-कमल विशेष विकसित था और इसी कारण गन्ध के लोभी भौंरे जमा हो गये थे। भौरों की गुनगुनाहट से दिशायें गूँज रही थीं। देवी के दर्शन से राजा को शरीर में रोमाञ्च हो आया। वह ऐसा मालूम होता था कि कवच पहने हुए है। उसका मुँह खिल उठा। उसने नम्रता के साथ देवी को प्रणाम किया देवी कहने लगी-''राजन्! जिस तलवार से

लाखों शत्रुओं का काम तमाम करके (मार करके) उनकी स्त्रियों को वैधव्य दीक्षा दिलायी है, उसी तलवार का उपयोग अपनी गर्दन पर क्यों करते हो?''

राजा - मैं लगातार तीन दिन और तीन रात निराहार रहा, फिर भी आपने दर्शन नहीं दिये। इसी कारण मैंने तलवार का उपयोग करना चाहा था।

राज्यलक्ष्मी मुस्कुरा कर बोली- ''बच्चे! बोल क्या चाहता है?''

राजा- देवी! कृपा करके मुझे ऐसा पुत्र दीजिए जो समस्त कलाओं में कुशल हो, राज्य की धुरा को धारण कर सके, कुल रूपी मन्दिर का सहारा हो और अच्छे-अच्छे गुणों से शोभायमान हो।

राजा की माँग सुनकर देवी मुस्कुराई और बोली- ''महाराज! क्या कभी कोई पुत्र तुमने मुझे अमानत रखने के लिए दिया था, जो मुझसे माँगते हो?''

राजा- हाँ, यह सच है कि मैंने आपको कोई पुत्र नहीं सौंपा, लेकिन कल्पलता के पास रह कर क्या कोई भूखों मरता है? गङ्गा के किनारे रहने वाला क्या कभी प्यासा रह सकता है? या सब से बढ़िया चिन्तामणि रत्न पाकर कोई दरिद्री देखा जाता है? फिर आपके दर्शन पा करके भी कोई मानसिक दु:ख का अनुभव कैसे कर सकता है?

देवी- महाराज! मैंने हँसी की है। पूनम के चाँद के समान समस्त कलाओं का धारण करने वाला एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।

इतना कहकर देवी अदृश्य हो गयी। राजा राज्यलक्ष्मी का प्रसाद पाकर चैत्यालय से बाहर आया और स्नान आदि क्रियाएँ करके राजसभा में गया। वहाँ मन्त्रियों को बुला कर सब हाल कह सुनाया।

मन्त्री- गुरुदेव की कृपा से तथास्तु (ऐसा ही हो)

इसके बाद दृढप्रतिज्ञ राजा दृढ़धर्मा सभा से उठकर महारानी के पास गये और वहाँ भी सारा हाल कहा। रानी सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। राजा ने नगर भर में वर्धापन उत्सव कराया।

अपनी उज्ज्वल किरणों से अन्य समस्त किरणों को अस्त करने वाले सूर्य की किरणें अन्धकार का नाश करती करती क्षीण होने लगीं। इसलिए उसने अस्ताचल का आश्रय लिया। 'आकाश में सूर्य के रहते मेरे पुत्र

(चन्द्रमा) का उदय नहीं होगा', ऐसा विचार कर अस्त होने के बहाने से समुद्र ने सूर्य को निगल लिया। प्राणनाथ के सिवाय दूसरों को देखने से क्या लाभ? ऐसा सोचकर कमलिनी सिकुड़ गई मानो आँखें मीच ली हों। भयानक अन्धकार फैल गया। रंगों की शोभा का सत्तानाश हो गया। वह न खुद को देख सकता था, न दूसरों को।

शयनगृह में शय्या पड़ी थी। उसके ऊपर सफेद वस्त्र बिछा हुआ था। वह ऐसा जान पड़ता था जैसे गङ्गा का फेन हो। शय्या बड़ी कोमल और उज्ज्वल थी। प्रियङ्गुश्यामा अपने इष्टदेव और गुरु का स्मरण करके उसी पर सो गई। निद्रा से नेत्र मुंद गये थे, पर उस समय भी वे बहुत सुन्दर मालूम होते थे। निदान रात्रि के पिछले भाग में उसने एक स्वप्न देखा, उसने चाँदनी के प्रवाह से दिशाओं के चक्र को पूर्ण कर देने वाला, सुगन्ध के लोभी भौंरों के समूह से घिरी हुई कुवलयमाला से वेष्टित और कुमुदों को मोद देने वाला चन्द्रमा देखा। उसी समय मङ्गल बाजों के बजने से रानी उठ बैठी। मन चाहे स्वप्न के देखने के आनन्द से वह आनन्दित हो गई। रोमाञ्च से शरीर ऐसा लगने लगा जैसे बख्तर पहन लिया हो। वह उसी समय राजा के पास गयी और स्वप्न का सारा हाल कह सुनाया। सुनकर राजा अमृत के समुद्र में गोते लगाता हुआ बड़े हर्ष से बोला-''प्रिये! राज्यलक्ष्मी ने पुत्र का जो वरदान दिया था वह अब सफल होगा।'' 'देवताओं के अनुग्रह, राज्यलक्ष्मी के प्रभाव और गुरुजनों के शुभाशिषों से मनोरथ पूर्ण हो' यह कहते-कहते रानी को जो आनन्द हुआ, उसका अनुमान कवि भी नहीं कर सकते।

प्रातःकाल की क्रियाओं से छुट्टी पाकर मन्त्रियों के साथ-साथ राजा सभा-भवन में आये। नगर के सब ज्योतिषियों को बुलाया और स्वप्न का फल पूछा।

ज्योतिषी - महाराज! महान् पुरुषों की मातायें स्वप्न में चन्द्रमा सूर्य, बैल, सिंह और हाथी आदि देखती हैं। इसलिए कला सहित चन्द्रमा के देखने से यह सूचित होता है कि किसी प्रधान पुरुष का जन्म होगा।

राजा- राज्यलक्ष्मी के वरदान से यह तो विदित हो चुका है कि देवी के पुत्र होगा। किन्तु कुवलयमाला (कमल की माला) से घिरा हुआ चन्द्रमा रानी ने देखा है उसका फल हम पूछना चाहते हैं।

ज्योतिषी - कुवलयमाला आपकी पुत्रवधू (पतोहू) होगी।

देवगुरुमंत्री - स्वामिन्! यह बात ठीक है, क्योंकि कुवलयमाला चन्द्रमा से जुड़ी नहीं होती। अतएव यह बात बिलकुल संभव है। फिर वह माला चन्द्रमा को घेरे हुए दिखाई दी है, इससे यह प्रगट है कि वह राजकुमार की पूर्व भव की प्रिया और सर्व जनता के चित्त को हरने वाली होगी।

राजा- बिलकुल ठीक है।

इसके पश्चात् थोड़ी देर तक विद्वद्गोष्ठी करके राजा अपने अन्य कार्यों में लग गया। सभा विसर्जित हुई।

उसी दिन से हर्ष के साथ गर्भ को धारण करती हुई प्रियङ्गुश्यामा आकाश की भाँति शोभत होने लगी। शरीर के सब अवयव सुन्दर होने लगे। कुटुम्ब आदि के लोग आदर करने लगे। वह सज्जनों के अनुकूल हो गई, प्राणिमात्र पर दया करने लगी और गर्भ की समस्त इच्छायें (साधें) पूर्ण करके स्वर्ग के समान शोभा पाने लगी।

इस प्रकार कितने ही दिन बीत गये। पश्चात् तिथि करण और योग से सुन्दर ऊर्ध्वमुखी होरा वाले शुभ लग्न में जिस समय सब ग्रह उच्च स्थान में मौजूद थे, उसी समय चतुर दाइयों से रक्षित महारानी ने निर्दोष पुत्र को जन्म दिया, जैसे ताम्रपर्णी नाम की नदी मोती को, रोहण पर्वत रत्न को, वैडूर्य पृथ्वी वैडूर्य मणि को, पूर्व दिशा सूर्य को, मलयपर्वत चन्दन को, समुद्र की वेला (तरङ्ग) चन्द्रमा को और राजहंसी राजहंस को जन्म देती है। वह बालक ऐसा कन्तिमान् था कि दीपक की प्रभा को लज्जित कर देता है। उसका मुख खिला हुआ था और आँखें कमल के पत्ते के समान मालूम होती थीं।

रानी को तुरंत हुर्ष हुआ। नेत्र खिल गये। दासियाँ सोचने लगीं 'मैं पहले पहुँचू, मैं पहले पहुँचू।' इस प्रकार मन ही मन कहती हुई वे राजा दृढधर्मा के पास गयीं। वे बोलीं-''देव! पुत्ररत्न के उपलक्ष्य में हम आपको बधाई देती हैं।'' राजा उनकी बात सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। खुशी के मारे उसने उन्हें इतना दान दिया कि उनकी दरिद्रता ही दरिद्र हो गई। राजा को पुत्र-जन्म का उस समय इतना हर्ष हुआ जितना किसी को धन का खजाना मिलने से होता है। इसके पश्चात् राजा ने पुत्र जन्म का असाधारण उत्सव मनाया। जिनेन्द्रदेव

की महामूल्यवान् पूजा रचाई। पुत्र की माता ने तो स्त्रीजाति होते हुए भी इतना उत्कर्ष पाया जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता।

राजा ने पण्डितों का भी आदर सत्कार किया। पाठ के कोलाहल को सहन करने वाले बालकों को इनाम देकर खुश किया। अपने बाहुबल से कमाये हुए धन से याचकों को सन्तुष्ट किया। इस प्रकार सारे शहर में खूब उत्सव मनाया। फिर ज्योतिषियों को बुलाकर आदर के साथ पूछा-"ज्योतिष के विद्वानों! पुत्रजन्म के समय के ग्रह और नक्षत्रों का क्या फल है?"

ज्योतिषी- सुनिये। आनन्द नाम का वर्ष है। शरद् ऋतु है। कार्तिक महीना है। कन्या राशि है। सुकर्मा नाम का योग है। लग्न पर सौम्य ग्रह की दृष्टि पड़ती है। सब सौम्य ग्रह बलवान् हैं। पापग्रह ग्यारहवें स्थान में हैं। सब सौम्य ग्रह और शुभ मुहूर्त्त देखने से मालूम होता है कि यह पुत्र चक्रवर्ती या चक्रवर्ती सरीखा होगा।

राजा- ज्योतिषियों! राशियाँ कितनी हैं और उनके फल क्या-क्या हौं?

ज्योतिषी - सुनिये। ज्योतिषशास्त्र के पण्डितों ने बारह राशियाँ बनाई हैं- मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन। अब इनमें उत्पन्न होने वाले पुरुष या स्त्री के गुण सुनिये-

1. मेष राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य शूरवीर, कृतज्ञ, लम्बी जाँघ वाला, प्रचण्ड, कार्य करने वाला, कोमल शरीर वाला, चञ्चल दृष्टि वाला और स्त्रियों का प्यारा होता है।
2. वृष राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य सत्यवादी, पवित्र, चतुर, भोगी, दानी, मनोहर, सच्चे मित्र वाला और मनोहर गति वाला होता है।
3. मिथुन राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य चञ्चल नेत्र वाला, मिष्टभोजी, विषयों में आसक्त, कान का रोगी और धनवान् होता है।
4. कर्क राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य शूरवीर, कृतज्ञ, दुबला-पतला, गुरुजनों का प्रेमी, क्रोधी और अत्यन्त दुःखी होता है।
5. सिंह राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य अभिमानी, क्षमावान्, माता-पिता का दुलारा और सदा मद्य-माँस का सेवन करने वाला होता है।

6. कन्या राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य बुढापे में धर्मात्मा, लोक में मान्य, धनवान् और स्त्रियों को आनन्द देने वाला होता है।

7. तुला राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य ईर्ष्यालु (डाह करने वाला), मित्रों से प्रेम करने वाला, दुख का पात्र, साफ-साफ कहने वाला और वैरागी होता है।

8. वृश्चिक राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य क्रूर, शूरवीर, पीली-पीली आँखों वाला, घमण्डी, कठोर हृदय का धनी और माता-पिता से सदैव वियोगी होता है।

9. धनु राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य बुद्धिमान्, सत्यवादी, लोगों के मन को हरने वाला, सुन्दर स्त्री वाला और उत्तम कान्ति वाला होता है।

10. मकर राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य खूबसूरत, बुद्धिमान्, विद्वान्, पुत्रवान्, दीर्घजीवी, परस्त्री में आसक्त और दानी होता है।

11. कुम्भ राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य चञ्चल आँखों वाला, हाथी या घोड़ा वगैरह का प्रेमी, अभिमानी, चतुर, पराक्रमी और आलसी होता है।

12. मीन राशि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य शूरवीर, समुद्र की तरह गम्भीर, स्पष्टवक्ता, क्रोधी, युद्ध का प्रेमी और अभिमानी होता है।

इस प्रकार राशियों का फल सुनकर राजा ने ज्योतिषियों को एक हजार रुपये की दक्षिणा दी और सभा से उठ गये,सभा विसर्जित हुई। बारहवाँ दिन आया। राजा ने नौकर-चाकरों को वस्त्र आदि देकर उचित सत्कार किया। स्वप्न में कुवलयमाला से युक्त चन्द्रमा दिखाई दिया था, अतः पुत्र का नाम कुवलयचन्द्र रक्खा गया। दूसरा नाम श्रीदत्त भी रक्खा गया। कुमार पाँच धायों से पालित-पोषित होकर इस प्रकार बढने लगा जैसे पाँच समितियों से मुनिधर्म या कलाओं से प्रतिपदा का चन्द्रमा बढ़ता है। कुमार ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता, पिता के मंसूबे भी उसी प्रकार बढ़ते चले जाते। कुमार कभी एक के हाथ में जाता कभी दूसरे के। इसलिए वह ऐसा मालूम पड़ता जैसे अनेक दिशाओं में घूमता-फिरता सूर्य हो। इस प्रकार प्रजापति द्वारा उत्पन्न हुए और सब लोगों के द्वारा सतृष्ण नेत्रों से पान करते हुए चन्द्रमा की भाँति कुमार आठ वर्ष का हुआ। फिर

वह विद्यालय (गुरुकुल) में विद्याभ्यास के लिए भेजा गया - जहाँ कि चन्द्रमा और सूर्य की किरणें छू न सकें, परिजन देख न सकें और माता-पिता से भी मिलाप न हो सके। कुमार वहाँ बारह वर्ष पर्यन्त मुनि की भाँति जितेन्द्रिय हो कर रहा। उसे स्वादिष्ट भोजन की परवाह न थी। दो कपड़े थे, उनमें आसक्ति न थी। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि सुर, असुर और बृहस्पति की बुद्धि का तिरस्कार करती थी और कुशाग्र थी। इसलिए उसने चन्द्रमा की कला के समान निर्मल समस्त कलाओं का आचार्य से ऐसे पान कर लिया जैसे अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का सारा जल पी लिया था। कुमार ने समस्त कलाएँ इतनी फुर्ती से ग्रहण कीं मानो आचार्य के पास रक्खी हुई धरोहर ही उठा ली हो। एक दिन प्रकाशमान पराक्रम का आधार सुन्दर आकार वाला कुमार स्नान भोजन आदि क्रियाओं से निपटकर, शरीर पर चन्दन का लेप कर, दो वस्त्रों को धारण करके तथा गले में सुगन्धित फूलों की माला पहन कर, अपने सरीखा वेष धारण करने वाले उपाध्याय के पीछे-पीछे चलता हुआ पिता के चरण कमलों में प्रणाम करने आया। उस समय सब की आँखों को आनन्द देने वाले चेहरे के अपने पुत्र को देखकर राजा का मन इस प्रकार प्रफुल्लित हो गया जैसे सूर्य को देख कर कमलों का वन या पूनम के चन्द्र को देखकर समुद्र प्रफुल्लित हो जाता है। कुमार ने विनय पूर्वक पिता को प्रणाम किया। राजा ने उसे अपनी गोद में बिठलाकर पूछा- "उपाध्याय महाराज! इसने आप पूज्य से समस्त कलाएँ ग्रहण कर लीं?" उपाध्याय बोले-"देव! कुमार ने मुझ से कोई कला नहीं ग्रहण की परन्तु जैसे बहुत काल से उत्कण्ठित चित्त वाली स्त्रियाँ पति को स्वीकार कर लेती हैं, वर्षाऋतु में नदियाँ भरपूर जल वाली होकर समुद्र को ग्रहण कर लेती हैं, उसी प्रकार सब कलाओं ने इस बुद्धि के निधान कुमार को स्वीकार कर लिया है।" यह बात सुनकर राजा ने उपाध्याय का विधिपूर्वक सत्कार करके कुमार से कहा-"बेटा! तेरे अत्यन्त दु:सह्य वियोग रूपी अग्नि से उत्पन्न होने वाले चिन्ता रूपी धुंए से प्रियङ्गुश्यामा श्याम होकर यथार्थ नाम वाली हो गई है। सो उसके पास जाकर उसे प्रणाम करो।" महाराज की आज्ञा पाकर 'जैसी देव की आज्ञा' कह कर कुमार राजा की गोद से उठा और पुत्र के दर्शन से जिसकी आँखों में आनन्द के आँसू भर आये हैं ऐसी, अपनी माता के पास आकर उसे प्रणाम किया। रानी ने समस्त माङ्गलिक क्रियाएँ

करके पुत्र का मस्तक चूमा और प्रेम से कहा-"बेटा! देव, गुरु और सती माताओं (कुल में वृद्धाओं) के प्रताप से ठीक पिता सरीखे होओ।" रानी इतना ही कह पाई थी कि उसी समय नौकरानी ने प्रणाम करके कहा- "देवी! आज महाराज स्वयं अश्वक्रीड़ा करने जाने वाले हैं, इसलिए कुमार को भेज दीजिये।" रानी की आज्ञा पाकर कुमार राजा के पास आया। राजा ने अश्वपाल से कहा- "अश्वपाल! महेन्द्रकुमार के लिए गरुड़वाहन नाम का घोड़ा लाओ, दूसरे राजपुत्रों के लिए योग्यता के अनुसार ऊँचे घोड़े दो, मुझे पवनावर्त (वायुवेगी) घोड़ा दो और रत्नों का पल तथा सुनहरी चौकड़ी वाला उदधिकल्लोल नाम का घोड़ा कुवलयचन्द्र कुमार के लिए लाओ।" राजा के आदेश से अश्वपाल ने सब को घोड़े दिये और कुवलयचन्द्र का घोड़ा लाकर उसके पास खड़ा रक्खा। उस घोड़े का मन हमेशा हवा की तरह चलने में ही रहता था। वह क्षणभर में कामदेव की तरह दूर देशान्तर में पहुँच जाता था। स्त्रियों के स्वभाव की भाँति वह चपल था और वेश्या के प्रेम के समान चारों पैरों की स्थिरता से रहित था- चार पैरों से खड़ा न रहता था। चौक में खड़े हुए उस घोड़े को देख कर राजा ने कुमार से पूछा-"कुमार! क्या घोड़े की भी कुछ परीक्षा जानते हो?"

कुमार ने निवेदन किया- "गुरु के चरण कमलों की कृपा से थोड़ा बहुत जानता हूँ।"

राजा ने कहा- "घोड़ों की कितनी जातियाँ होती हैं? उनका क्या परिमाण और क्या लक्षण हैं?"

कुमार- नाथ! सुनिये। रंग और चिह्नों के भेद से चौल्ला, हासा, हक्किया आदि अठारह प्रकार के घोड़े कहे गये हैं। घोड़े के अधिक से अधिक माप का परिमाण इस प्रकार है- पुरुष के बत्तीस अङ्गुल का मुख, तेरह अङ्गुल का कपाल, आठ अङ्गुल का मस्तक, छह-छह अङ्गुल के कान, चौबीस अङ्गुल का हृदय, अस्सी अङ्गुल की उँचाई और उससे तिगुनी 1240 अङ्गुल परिधि होती है। इस परिमाण वाला घोड़ा यदि राजा के पास हो तो राज्य की वृद्धि करता है और दूसरे किसी के पास हो तो उसका मनोवाञ्छित सिद्ध करता है। एक घोड़े की पीठ पर ध्रुवावर्त (रोमों का गोल चक्कर) होता है, एक कपाल में, दो

रन्ध्र (पुरुषत्व चिह्न या स्त्रीत्व चिह्न) पर दो अपरन्ध्र (गुदा) पर, दो छाती पर और दो मस्तक पर इस प्रकार दस ध्रुवावर्त होते हैं। दस से कम या अधिक हों तो गुणों में न्यून या अन्यून समझा जाता है। घोड़े के लक्षण जानने वालों का ऐसा मत है और ऐसे लक्षणों से हीन घोड़ा दुःख देने वाला कहा जाता है।

कुमार इस प्रकार निवेदन कर रहा था कि इतने में राजा ने कहा-"बेटा! किसी दूसरे मौके पर अधिक सुनूँगा।" इतना कहकर राजा पवनावर्त घोड़े पर सवार हो गये, कुमार उदधिकल्लोल पर चढ़ा, महेन्द्रकुमार गरुड़वाहन पर चढ़ा और दूसरे राजकुमार दूसरे-दूसरे घोड़ों पर सवार हो गये। लम्बा चौड़ा राजद्वार भी उस समय अनेक ऊँचे-ऊँचे हाथियों, घोड़ों और पैदलों से संकीर्ण हो गया था। अब जिसके मस्तक के ऊपर सफेद छत्र धारण किया हुआ था और जिस पर सुन्दर तथा चञ्चल चामर ढोरे जा रहे थे ऐसा वह राजा चतुरङ्ग सेना के चक्र से घिरा हुआ राज्यलक्ष्मी के रास्ते (राजमार्ग)से चला। श्रेष्ठ धैर्य गुण से युक्त राजा कौतुक देखने आये हुए आदमियों की आँखों को आनन्द देता हुआ पल भर में नगर से बाहर आ गया। फिर सारी सेना को अलग रखकर स्वयं अश्वक्रीड़ा करने लगा। कुमार ने घोड़े की धौरित आदि पाँच प्रकार की चाल का क्रम देखने के लिए अपने घोड़े को अश्वकेलि में छोड़ा। उसे देख लोगों ने जय जय की ध्वनि की। इतने ही में सब राजपुत्रों के देखते-देखते पल भर में अनेक ताम्रपत्रों के समान श्याम रंग के आकाश तल में उदधि कल्लोल उड़ गया। दक्षिण दिशा की ओर दौड़ते हुए घोड़ों के वेग से ऐसा मालूम होता था कि पेड़ भी उसके पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं। जो वस्तुएँ निकट थीं वे अभी-अभी दूर दिखाई देने लगीं। इस अतिवेग से हरण किये जाने वाले कुमार ने विचारा- "अहो! यदि सचमुच यह घोड़ा है तो आकाश में कैसे उठा? और यदि कोई देव है तो घोड़े का रूप क्यों नहीं त्यागता है? 'ऐसा विचार कर कुमार ने परीक्षा करने के लिए यमराज की जिह्वा जैसी तेज कटार से निर्दयता के साथ घोड़े की कूंख में प्रहार किया। घोड़े के शरीर से रक्त की धारा बह निकली। उसके शरीर की सारी सन्धियाँ शिथिल पड़ गयीं वह धरती पर गिर पड़ा। उसके शरीर ने कुमार का हरण किया था। इसलिए कुमार के हरण करने से 'तू पापी है' ऐसा कहकर जीवितव्य ने उसके शरीर का त्याग कर

दिया। घोड़ा मर गया। घोड़े को मरा देख कुमार ने विचारा 'बड़े आश्चर्य की बात है। यह घोड़ा ही था तो आकाश मार्ग से क्यों चला? यदि वास्तव में घोड़ा न था तो मेरे प्रहार से मर क्यों गया?' कुमार इस प्रकार विचार कर रहा था कि वर्षा ऋतु के मेघ की गर्जना सरीखा किसी का गम्भीर और धीर शब्द सुनाई पड़ा। शब्द ये थे- 'निर्मल चन्द्रमा के समान चन्द्रवंश के भूषण कुवलयचन्द्रकुमार! मेरी बात सुनो। तुम्हें अभी दक्षिण की ओर दो कोश और जाना है और वहाँ पहले कभी न देखा हुआ आश्चर्य देखना है' ये शब्द सुनकर कुमार ने सोचा- 'यह मेरा नाम और गोत्र कैसे जानता है? शायद यह दिव्यवाणी हो और मेरे आगामी हित के लिए दक्षिण की ओर जाने की प्रेरणा करती है। इसलिए उसका उल्लंघन करना उचित नहीं है, क्योंकि देव और मुनि बिना हेतु ही दयालु और अतीन्द्रिय ज्ञानी होते हैं।' कुमार ऐसा विचार कर दक्षिण दिशा की ओर चला। दो कोस जितना रास्ता तय करके वह इधर-उधर (चारों ओर) देखने लगा। उसे सामने अनेक पर्वतों, वृक्षों, शिकारी जानवरों और लताओं- (वेलों) के मण्डपों के कारण बहुत घनी विन्ध्याटवी दिखाई दी। वह अटवी पाण्डवों की सेना के समान अर्जुन से संशोभित थी, राज्यलक्ष्मी के समान बड़े-बड़े हाथियों से युक्त थी और किसी बड़ी से नगरी के समान शाल सहित थी। कुमार ने विचार किया-'निस्सन्देह यहाँ इन्द्रियों को वश में करने वाले और दिव्य ज्ञान द्वारा सब पदार्थों को जानने वाले कोई महात्मा महर्षि होंगे, जिससे कि उन उपशान्त भगवान् के प्रभाव से स्वभाव से विरोधी प्राणी भी आपस में स्वाभाविक स्नेह वाले हुए जान पड़ते हैं।'

इस प्रकार विचार करते करते कुवलयचन्द्रकुमार थोड़ा और आगे बढ़ा और पास ही उसे एक बड़ का झाड़ दिखाई दिया। वह वृक्ष नीले और घने किसलयों (कोंपलों) से शोभित था। उस पर रहे हुए बहुत से पक्षी कोलाहल कर रहे थे और उसमें अनगिनती डालियाँ थीं। उस वृक्ष को देखकर राजकुमार उसी ओर चला और उसके पास जा पहुँचा। कुमार ने वहाँ पहुँचकर इधर-उधर देखा तो एक मुनि उसको नजर आये। उनका शरीर तपस्या और नियमों के कारण सूख गया था, लेकिन शरीर की कान्ति से वे अग्नि के समान लगते थे। मानों वे साक्षात् धर्म थे, उपशम रस की राजधानी थे, चारित्र रूपी लक्ष्मी के निवासस्थान थे, सौम्य गुण की खिलवाड़ के लिए वन थे। वे इसी प्रकार

शोभा पा रहे थे। उनके एक ओर कोई दिव्य पुरुष और दूसरी ओर एक सिंह बैठा हुआ था।

कुमार ने यह सब देखकर सोचा- 'समस्त तीन लोकों के द्वारा जिनके चरण-कमल नमस्कार करने योग्य हैं ऐसे इन मुनि को नमस्कार करके अपने अश्व-हरण का कारण पूछना चाहिए कि मेरा हरण किस कारण से किया गया है? वह अश्व (घोड़ा) कौन था, ऐसा सोचकर वह एक बड़ी सी शिला पर बैठे हुए महर्षि के समीप गया। मुनि ने उसे देख कर कहा- ''चन्द्रवंश के अलङ्कार कुवलयचन्दकुमार! तुम अच्छे आये। वत्स! आओ।''

अपना नाम और गोत्र सुनकर कुवलयचन्द्र के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बड़े विनय से मुनिराज के चरणकमलों में वन्दना की। सब प्रकार के भव-भय हरने वाले और मोक्ष सुख देने वाले उन पूज्य मुनि ने कुमार को 'धर्मलाभ' रूप आशीर्वाद दिया। इसके बाद पहले से बैठे हुए उस दिव्य पुरुष ने भी अपना कल्पवृक्ष के नवीन अंकुर के समान कोमल और माणिक्य के कडारूप आभूषण से भूषित हाथ लम्बा किया। राजकुमार ने उस हाथ को अपने दोनों हाथों में लेकर कुछ मस्तक झुकाकर नमन किया। उस समय बहुत से शिथिल केश वाले सिंह ने भी अपनी लम्बी पूँछ कुछ टेढ़ी करके, शान्त करके तथा दोनों नेत्रों को कुछ-कुछ बन्द करके राजकुमार का सम्मान किया। कुमार ने हर्ष के आवेश से प्रफुल्लित और आन्तरिक स्नेह से युक्त होकर श्वेतदृष्टि से उसके सामने देखा। कुमार मुनि के समीप बैठ गया।

मुनि बोले-''कुमार! तुमने अपने मन में यह विचार किया है कि 'किसने मेरा हरण किया? हरण करने का क्या कारण है? वह अश्व कौन था? इस सम्बन्ध में इस मुनि से पूछूँ। तो कुमार! यह वृत्तान्त मैं विस्तार से बतलाता हूँ। तुम सुनो।''

।। इति प्रथमः प्रस्तावः।।

द्वितीय प्रस्ताव

दाँतों की कान्ति से अन्धकार के समूह को दूर करते हुए मुनिराज कुवलयचन्द्रकुमार के संशय को दूर करने के बहाने उसे प्रतिबोध देने के लिए अमृत समान वाणी से बोले- "वत्स! संसार में जीवन, यौवन, धन, लावण्य और प्रिय पदार्थों का संयोग, ये सब कुशके अग्रभाग पर ठहरे हुए जल के बूँद के समान चञ्चल हैं। जो शत्रु बन जाते हैं। ऐसी हालत में कौन विवेकी इन सब में ममता करेगा? जीव अकेला ही सुखी होता है, अकेला ही दुःखी होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही मुक्त होता है। जीव कर्मो से ही राज्य पाता है और कर्मों से उसे गवाँ देता है। किन्तु कर्म के मर्म स्थान को नष्ट करने के लिए सिवाय विद्वान् के और कोई समर्थ नहीं है। प्राप्त की हुई लक्ष्मी क्षण भर में नष्ट हो जाती है जैसे आँधी से बादलों के समूह नष्ट हो जाते हैं। प्राणी नरक में ऐसे ऐसे असह्य कष्ट सहता है कि जिनके सुनने से ही शरीर में कँपकँपी छूटती है। तिर्यञ्च गति में जीव अपने कर्मों के कारण ही चाबुक, बन्धन और अङ्कुश वगैरह की व्यथा निरन्तर सहा करते हैं। मनुष्य गति में प्राणियों को इष्टवियोग, व्याधि, सन्ताप और राजा का कोप आदि नवीन-नवीन वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं। देवगति में भी जीवों को माया, ईर्ष्या, भय, उद्वेग और विषाद से व्याकुल-चित्त होने से अभिमान से ही सुख होता है। इस प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते-करते इस जीव ने किसी भी भव में ऐसा धर्म नहीं पाया कि जो कर्मों को मथ डाले। मोक्ष का सुख आत्मा के ही अधीन है, तो भी जो मनुष्य विषयों में मस्त रहता है वह कल्पवृक्ष को पाकर उससे एक कौड़ी की याचना करता है। यदि संसार रूपी मरुस्थल के अरण्य को पार करने की इच्छा हो तो मन रूपी मसक में रहे हुए सम्यक्त्व रूपी सलिल-

जल को निरन्तर धारण किये रहो। कुमारकुवलयचन्द्र! इस असार संसार में क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह से जिनके चित्त मुग्ध हो गये हैं, उन प्राणियों ने जो फल भुगते हैं, उनके वर्णन के साथ-साथ, एकाग्र चित्त होकर अश्वहरण तक का सारा हाल सुनो।

इस जम्बूद्वीप में वत्स नाम का देश है उसमें पूर्ण विस्तार वाला और यज्ञ- स्थानों की अग्नि के उत्पन्न होने वाले धुँए से विशाल आकाशतल अत्यन्त श्यामवर्ण का हो गया था। वह देश, अन्य समस्त देशों की लक्ष्मी के वक्षःस्थल को अलंकृत करने के लिए चमकीले हार के समान था और ऐसा शोभित होता था, मानो तमाम देशों से आनेवाली अनेक वस्तुओं की संकेत भूमि अड्डा हो। ऐसा जान पड़ता है कि उस देश में, वायु के हिलाये हुए पुण्ड्र जाति के गन्नों के पत्तों के 'खड़खड़' शब्द से डर कर ही मृगों के झुण्ड जंगल में भाग गये थे। उस देश की स्त्रियों की दृष्टि घूरने वाली और चपल थी उसे देखकर, कानों तक विस्तृत अपनी स्त्रियों के नेत्रों के स्मरण हो जाने से वटोही बहुत देर तक स्तम्भित (सन्न) रह जाते थे, मानों वे चित्र हों या पत्थर के खंभें हों, उस देश में कौशाम्बी नामकी नगरी थी। वह मानो देवनगरी हो, इस प्रकार सद्वृषों को उसमें आश्रय था। अलकापुरी की भाँति पुण्यजनों से युक्त थी और लंकापुरी की नाईं कल्याणमयी थी। वह नगरी ऊँचे-ऊँचे शिखर वाले देवालयों से शोभित थी। उसके चारों तरफ गहरे जल वाली खाई से अलंकृत किया हुआ प्राकार=कोट था। इससे वह ऐसी मालूम होती थी, मानो लवणसमुद्र की वज्र-वेदिका से युक्त जम्बूद्वीप की लक्ष्मी हो। एक ही जगह तीन लोक की विकास समान लक्ष्मी का सेवन करने वाली उस कौशाम्बी नगरी का कहाँ तक वर्णन किया जाय? सच तो यह है कि उसके वर्णन करने में बृहस्पति भी असमर्थ हैं।

जैसे प्यारी स्त्री को प्रिय पति भोगता है, उसी प्रकार इस नगरी को इन्द्र जैसा पराक्रमी पुरन्दरदत्त नामक राजा भोगता था। वह राजा कीर्ति रूपी गङ्गा नदी के लिए हिमालय सदृश था, गुण रूपी पक्षियों के विश्राम के लिए वृक्ष समान था और कल्पवृक्ष की तरह सब को मनचाही चीजें देने वाला था। उस राजा के, आकाश में फैलने वाले स्वच्छ यश से राजहंस तिरस्कृत हो गये थे और श्रीकृष्ण के वर्ण के समान श्यामवर्ण वाले सूर्य के घोड़े भी सफेद हो गये

थे। वह राजा सब गुण रूपी सम्पत्ति से सम्पन्न था, लेकिन उसमें केवल एक दोष था, वह यह कि कल्याण रूपी वृक्ष की जड़ के समान जिनवचनों पर उसकी श्रद्धा न थी। जैसे इन्द्र के बृहस्पति मन्त्री हैं, वैसे ही चारों प्रकार की बुद्धि का खजाना वासव नाम का उसका मन्त्री था। राजा उसे भाई के समान, मित्र के समान, पिता के समान और देवता के समान मानता था। वह पुरुषोत्तम रूप मन्त्री, दु:ख से जीते जाने वाले(क्रोध मान आदि) शत्रु रूपी हाथियों को पराजित करने में सिंह के समान जिनेन्द्र-कथित सम्यक्त्व को कौस्तुभमणि की तरह धारण करता था।

एक समय वासव मन्त्री प्रात: काल की आवश्यक क्रियाओं से निपटकर महापूज्य अर्हन्त भगवान् की पूजा करने के लिए जिनालय में घुस रहा था कि इतने में बाहर के बगीचे का स्थावर नामक माली द्वार पर आ पहुँचा। उसके हाथ में फूलों का एक गुलदस्ता था। उस पर अनेक तरह की खुशबू से बहुत से भौंरे इकट्ठे हो गये थे, अत: वह बड़ा मनोहर लगता था। माली मन्त्री के चरणयुगल में नमस्कार करके बोला- "हे देव! जय हो। समस्त कामी जनों को आनन्द देने वाला वसन्त आ गया है।" ऐसा कहकर मन्त्री को फूलों की भेंट की और हाथ में आम की मनोहर मञ्जरी दी। वह फिर कहने लगा-" अपने बाह्य उद्यान में, तारागण से घिरे हुए चन्द्र के समान शिष्यों से शोभित, क्षमा रूपी युवती के तिलक- समान, चारित्र रूपी रत्न के रत्नाकर समान, सर्व मुनियों में मुकुट के समान, दुर्जय कषाय के विभ्रम को नष्ट करने वाले और सधर्मियों को आनन्द देने वाले श्रीधर्मनन्दन नामक मुनीश्वर पधारे हैं"। यह सुनकर भ्रकुटी के भङ्ग से भयङ्कर मुँह बनाकर "अरे अनार्य!" कहते हुए मन्त्री ने आम की मञ्जरी अपने नौकर के हाथ में देकर तिरस्कार करते हुए कहा-"अरे दुराचारी अविवेकी स्थावर! पहले पहल आदर के साथ वसन्तऋतु की मुख्यता बताता है फिर धर्मनन्दनाचार्य के शुभागमन की बात कहता है? कहाँ बाँबी और कहाँ सुमेरु पर्वत? कहाँ भगवान् धर्मनन्दन सूरि? वसन्तु ऋतु मनुष्य के चित्त को कामातुर बनाती है और साधुराज इससे बिलकुल विपरीत अर्थात् काम को शान्त करते हैं। देख, दोनों में कितना अन्तर है। जा, अपनी दुर्बुद्धि की करामात का फल चख।" ऐसा कहकर दर्बान से कहा-"हे प्रतीहार! इस वनपाल को पचास हजार चावल की क्यारी दिलाओ, जिससे यह खेती

वगैरह के कामों में फँसा रहे फिर ऐसे विवेकहीन वचन न बोले।'' इतना कहकर मन्त्री ने देवपूजा की और राजभवन में जाकर वही मञ्जरी राजा के हाथ में रक्खी। राजा बोला- ''क्या बाहर के उद्यान में वसन्त ऋतु आगई है?'' मन्त्री बोले-''हे देव! वसन्त की शोभा देखने उद्यान में पधारिये''। राजा सुनते ही तुरन्त चार दाँतों वाले विशाल हाथी पर इन्द्र की तरह सवार होकर चतुरङ्ग सेना के साथ उद्यान में आया। वहाँ पहुँचने पर मन्त्री ने कहा- ''देव! देखिये अत्यन्त आनन्द के समूह से निकलने वाले भौंरों के स्वर से ये स्थलकमल आपका स्वागत कर रहे हैं। फलों से लदे हुए ये वृक्ष, नम्र दिखाई पड़ते हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि आप पृथ्वीपति हैं और पृथिवीपति के आने पर भला कौन नमस्कार न करेगा? एकान्त मधुर स्वर वाले भौरों के गान और पत्तों द्वारा नाच करने वाले ये वृक्ष, महाराज! भौरों के गुनगुन शब्दों से आपके गुणों की स्तुति कर रहे हैं। फूलों से आपके चरणों की पूजा कर रहे हैं'' इस प्रकार कहते हुए मन्त्री ने उद्यान में चारों ओर दृष्टि डालकर ।'' सोचा- 'इस उद्यान में तो धर्मनन्दन सूरि कहीं दिखाई नहीं पड़ते और मैं उन्हीं की बात मन में विचारकर राजा को विना प्रयोजन ही उद्यान में लाया हूँ। पर शायद इस जगह वनस्पति तथा कीड़े-मकोड़े वगैरह अधिक हैं, इससे कोई दूसरा निर्जीव स्थान देखकर उसी जगह ठहर रहे होंगे। बहुत करके उस सिन्दूर वृक्ष के नीचे फर्श वाली पक्की जमीन है, वहीं शिष्यों सहित सूरि महाराज होने चाहिए।' ऐसा सोचकर उसने राजा से कहा-''हे देव! आपने कुमार अवस्था में उस सिन्दूर कुट्टिम के पास जो अशोक वृक्ष लगवाया था, मालूम नहीं उस पर फूल आये हैं या नहीं।'' यह सुनकर ''तुमने ठीक याद दिलाई'' कहता हुआ राजा मन्त्री का हाथ अपने हाथ में लेकर वहाँ गया, तो वहाँ मुनिराज दिखाई दिए। उनमें कितने ही मुनि धर्मध्यान में चित्त लगाए हुए थे। कुछ प्रतिमा के पालन करने की इच्छा युक्त मन वाले थे। कितनेक का चित्त शुद्ध सिद्धान्त के पठन करने में तत्पर था और कुछ नाना प्रकार के आसन लगाकर ध्यान में बैठे थे। उन सब के बीच में चार ज्ञानधारी सूरिराज को बैठे देखा। वे ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे सब ताराओं में चन्द्रमा, सब समुद्रों में क्षीरसमुद्र और सब देवों में इन्द्र। उन्हें देखकर राजा कुछ प्रसन्न होकर बोला- ''हे मन्त्री! ये लोग कौन हैं? और उन सब के बीच में बैठा हुआ राजा के समान वह कौन है? मन्त्री ने कहा-

"राजेन्द्र! जो सब के बीच में बैठे हैं, वे इन सब मुनियों के अधिपति हैं। वे कुमतवालों के द्वारा बताए कुमार्ग में पड़े हुए जन्तुओं को मुक्तिपुरी के मार्ग का उपदेश करते हैं। उनका नाम है धर्मनन्दन सूरि और देवता भी उनके चरण-कमल को नमस्कार करते हैं।" यह सुनकर राजा 'बहुत ठीक' कहता हुआ मन्त्री का हाथ पकड़कर गुरु के पास गया। प्रथम, मन्त्री ने स्तुति करके तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और चरणकमल को नमन किया, इससे राजा ने भी (देखादेखी) उसी प्रकार नमस्कार किया। गुरु ने धर्मलाभ दिया और कहा "तुम अच्छे आये, बैठो" राजा भी 'जैसी गुरु की आज्ञा' कहकर फर्श पर बैठ गया। बाद में गुरु की आज्ञा से मन्त्री भी बैठा। उसी समय राजा का अनुकरण करके अनेक मुसाफिर और दरिद्र वगैरह भगवान् को वन्दना करके बैठ गये। भगवान् सब के सुख-दुःख जानते थे, तो भी लोकाचार का पालन करने के लिए सूरि ने उनका कुशल समाचार पूछा, तो वे बोले- "आप पूज्य के दर्शन से आनन्द मङ्गल है।" फिर राजा ने सोचा- 'इन सूरि का रूप असाधारण है, इनमें अगण्य लावण्य है, उसकी कान्ति का अंदाजा नहीं बाँधा जा सकता। इनमें करुणा रस का अपूर्व प्रसार है। उसी प्रकार ये मुनिराज संसाररूपी समुद्र के पुल सरीखे हैं। तृष्णा-लता के वन के लिए फरसा के समान हैं, मान रूपी ऊँचे पर्वत को छिन्नभिन्न करने के लिए वज्र के समान हैं, क्षमा रूपी वृक्ष की जड़ के समान हैं, सर्व विद्याओं की खान हैं, आचार के कुलमन्दिर हैं, क्रोधादिक चार कषाय रूपी सूर्य के महामन्त्र हैं, मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करने में सूर्य के समान हैं, राग रूपी वृक्ष को भस्म करने के लिए धधकती हुई दावाग्नि समान हैं, नरक के द्वार में आगल बेड़ा सरीखे हैं, सन्मार्ग के वर्तक हैं और अतिशय सहित ज्ञानरूपी मणि के तो भण्डार जैसे दिखाई देते हैं। समस्त गुणों से आलिङ्गन कराने वाले इन मुनि को प्राप्त होने वाला मनुष्यभव सब प्रकार सफल हुआ है। तो फिर इन्हें वैराग्य उत्पन्न होने का कारण क्या होगा? जिससे यौवन-लक्ष्मी का सेवन न करते हुए इन भगवान् ने सब प्रकार के दुःखों की शय्या रूप यह दीक्षा स्वीकार की है, इस विषय में मैं पूछता हूँ' इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि इतने में मुनिराज स्वयं कहने लगे-"हे राजा! इस चार गतिवाले संसार में वैराग्य होने के कारण बहुत सुलभ हैं क्योंकि विषय सुख के स्वाद में मोहित हुए दूसरे जीव जो पाप करते हैं, वही विवेकियों के वैराग्य का सबब

है। पहली नरकगति में तीन तरह की तकलीफें हैं- क्षेत्र से उत्पन्न होने वाली, परस्पर जीवों के द्वारा होने वाली और परमाधार्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली। इन तीन तरह की वेदनाओं से पैदा होने वाले दु:खों का वर्णन लगातार करोड़ वर्ष में भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में भी अनेक प्रकार के दु:ख होते हैं। अत: जिनेश्वर भगवान् के कथनानुसार करने से ही इस लोक में धर्म अर्थ काम की प्राप्ति होती है और परलोक में मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध होता है। इसलिए हे राजन्! पहले श्रावकधर्म को धारण करके फिर साधुधर्म पालने में मन लगाना।''

यह सुनकर अनुकूल अवसर लगा समझ, वासवमन्त्री भगवान् धर्मनन्दन को हाथ जोड़कर विनय पूर्वक बोला ''हे स्वामिन्! समस्त दु:खों का स्थान चार गति-रूप संसार बताया है, सो पहले संसार का निमित्त कारण क्या है? कि जिससे जीव उसमें परिभ्रमण करते हैं?''

धर्मनन्दन गुरु बोले- ''मन्त्रीश्वर! तथा पुरन्दरदत्त राजन्! संसार में जीव के परिभ्रमण करने के जो कारण जिनेन्द्र भगवान् ने बताए हैं, उन्हें सुनो- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। वश में न किये हुए ये चार कषाय इस संसार रूपी दु:खसमुद्र के कारण हैं। इनमें से क्रोध रूपी अग्नि आत्मा में रहे हुए गुण समुदाय को जला डालती है, अत: वह क्रोध बाह्य वस्तुओं को जलाने वाली अग्नि से भी बढ़कर है। चतुर मनुष्य जीवों के क्षय करने में निर्दय क्रोध रूपी सूर्य को अपने अन्त:करण रूप घर में कभी स्थान नहीं देता। सर्प से डसे हुए का इस संसार में प्रतीकार (इलाज) है, परन्तु क्रोधरूपी दुर्दान्त सर्प से काटे हुए का कोई प्रतीकार है ही नहीं। चाण्डाल का स्पर्श हो जाय तो उसकी शुद्धि सुवर्ण जल से हो सकती है, परन्तु क्रोध रूपी चाण्डाल के स्पर्श से किसी प्रकार शुद्धि हो ही नहीं सकती। जिसका अन्त:करण शान्तरस-रूप जल से भीगा हुआ है, उसके हृदय में किसी समय कोप के आरोप (वेग)रूपी अग्नि धधक ही नहीं सकती। जिनेश्वररूपी मेघ से उत्पन्न हुए समतारूपी अमृत के संसर्ग से जो क्रोधाग्नि को शान्त करते हैं उन्हीं का धर्म हरा-भरा बना रहता है। यदि प्राणियों को किसी भी समय क्रोध न उत्पन्न हो, तो मोक्षलक्ष्मी उनके हस्त-कमल में अवश्य वास करे। लबालब भरे हुए क्रोध-

रूपी अन्धकार से जिसका हृदय अन्ध बन गया है, वह प्राणी पास में बैठे हुए इस प्राणी की नांई अपने भाई और बहिन की भी हत्या कर डालता है।''

यह सुनकर राजा ने कहा ''प्रभु! वह कौन सा आदमी है? कैसा है? उसने क्या किया है? हमें तो खबर ही नहीं।''

गुरुराज बोले- ''यह जो तुम्हारे बाईं ओर और मेरे दाहिनी ओर बैठा हुआ है, महादेव के कण्ठ में रहे हुए कालकूट (विष) और कज्जल की तरह काला है, जिसके नेत्र चुंगची की तरह लाल-लाल हैं, भ्रकुटी के भङ्ग से जिसका चेहरा भयङ्कर लगता है, जिसके होठ क्रोध से भरे फड़क रहे हैं, जिसका सारा शरीर कड़े केशों से निष्ठुर जान पड़ता है और जो साक्षात् कोप मालूम पड़ता है, वह यहीं आया हुआ है। उसने क्रोध से परवश चित्त होकर जो काम किया है, सो सुनो''-

क्रोध पर चण्डसोम की कथा

पृथ्वीरूपी स्त्री का मानो कुण्डल हो, इस प्रकार गर्म किये हुए सोने के परकोटा तथा गहरे जल वाली खाई से घिरी हुई काञ्ची नामकी नगरी है। उसके आग्नेय कोण में, तीन कोस की दूरी पर 'रगडा' नामक एक संनिवेश है। उसमें सुशर्मदेव नामक ब्राह्मण रहता है। उसकी सुशर्मा नाम की स्त्री है। उसके बड़े लड़के का नाम रुद्रसोम है। उस रुद्रसोम का सामदेव नाम का छोटा भाई तथा श्री सोमा नाम की बहिन है। रुद्रसोम लड़कपन से ही प्रचण्ड, चञ्चल, असहनशील, घमण्ड से कन्धे ऊँचे रखने वाला, स्तब्ध तथा कठोरभाषी था। वह अपनी गली में तमाम लड़कों से बिना कुसूर ही मारपीट किया करता था। बालकों ने ही ऐसा स्वभाव देखकर उसका 'चण्डसोम' यह यथार्थ नाम रक्खा है। हे राजन्! कुछ दिन बीतने पर चण्डसोम के पिता ने ब्राह्मणकुल की नन्दिनी नाम की एक कन्या के साथ इसका पाणिग्रहण कराया। इसके बाद उसके माता-पिता कुटुम्ब का भार, उसी पर लाद कर गङ्गाजी की तीर्थयात्रा करने चले गये। धीरे-धीरे चण्डसोम यौवन लक्ष्मी से अलंकृत हुआ। नन्दिनी, यद्यपि अखण्ड शीलव्रत पालन करती थी, तो भी यौवन के कारण, अत्यन्त मनोहर अङ्गों से रमणीय होने से चण्डसोम उसका विश्वास न करता था। हे राजन्! उस नन्दिनी पर थोड़ा राग रखते-रखते कुछ समय व्यतीत हुआ। एक समय की बात है। शरद् ऋतु की लक्ष्मी का अवतार हुआ। चारों दिशाएँ निर्मल हुईं। कुमुदिनी खिल उठीं। काश के वृक्ष विकसित हो गये। अतिशय पवित्रतापात्र पुरुषों का दूसरे लोग आदर करने लगे। उस ऋतु में जल भी स्वच्छ हो गया। कमल की गन्ध से ललचाए हुए भौंरों के समुदाय की गुनगुनाहट से सरोवर

अपने पास आए हुए राजहंसों का स्वागत करने लगे। भौंरे हाथियों के गण्डस्थल को छोड़-छोड़ कर सप्तच्छद वृक्षों में क्रीडा करने लगे, क्योंकि मलिन प्राणी एक स्थान पर नहीं ठहरते। जलाशय अपनी तरल तरङ्गों रूपी हाथों से शरद् ऋतु की लक्ष्मी को प्रीतिपूर्वक अभिवादन करने लगे। अभागे के धन की नांई नदियों के पानी का प्रवाह क्षीण होने लगा। आर्य पुरुषों के कार्य की तरह धान्य की वृद्धि होने लगी। एक दिन उस गाँव में, घूमती-फिरती नट लोगों की टोली आयी। उसने गाँव के सब लोगों से नाटक देखने की प्रार्थना की। रात्रि का पहला पहर व्यतीत हुआ, लोगों का कोलाहल बन्द हुआ। नटों ने मृदङ्ग बजाना प्रारम्भ किया। मृदङ्ग की आवाज सुनकर गाँव के लोगों की भीड़ जमा होने लगी। उस समय चण्डसोम की इच्छा भी वहाँ जाने की हुई। पर अपनी स्त्री की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए? वह यही विचारने लगा। उसने सोचा- 'यदि मैं नाटक देखने जाऊँ, तो स्त्री की चौकसी किस प्रकार हो? यदि स्त्री की चौकसी करूँ तो नाटक किस प्रकार देखने को मिले? यह तो वही हुआ कि एक तरफ नदी दूसरी तरफ बाघ- इधर कुँआ उधर खाई। अनेक संकल्प विकल्पों से मेरा चित्त व्याकुल हो गया। मैं क्या करूँ? अच्छा, स्त्री को साथ ले जाऊँ, तो ठीक होगा? नहीं नहीं, यह भी ठीक नहीं। नाटक में सैकड़ों जवान पुरुष आये होंगे और मेरा छोटा भाई भी वहाँ गया ही होगा। जो होना होगा, होगा। इसे अपनी बहिन श्रीसोमा को सौंप जाता हूँ।' इस प्रकार विचार करके चण्डसोम स्त्री को अपनी बहिन के पास छोड़कर हाथ में तलवार ले नाटक देखने चल दिया। उसके चले जाने पर बहिन ने बार-बार कहा-"हे नन्दिनी! चल हम भी नाटक देखने चलें।" नन्दिनी बोली- "हे श्रीसोमा! क्या तुम अपने भाई की चेष्टा नहीं जानती, जो ऐसा कह रही हो। मैं- अपनी जिन्दगी से अभी उकताई नहीं गई हूँ। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, करो। मैं नहीं आती।" यह उत्तर सुन श्रीसोमा नाटक देखने चली गई, और नन्दिनी घर रही।

रङ्गभूमि में चण्डसोम नाटक देख रहा था। उसके पीछे बैठे हुए कोई स्त्री पुरुष आपस में बात करने लगे। उनमें से एक जवान आदमी बोला "हे सुन्दरी! हृदय में और स्वप्न में मुझे तू ही तू दिखाई देती है। सैंकड़ों मनोरथ करके आज तुझे आँखों देख कर तेरे विरहानल की ज्वाला के समुदाय से मेरा शरीर भस्म हुआ जाता है, उसे अब तू अपने संयोगरूपी अमृतरस से सींच

दे।'' इस प्रकार उसकी बातचीत को चण्डसोम ने सुन लिया। इतने में ही वह युवती कहने लगी-'मैं जानती हूँ कि तुम चतुर हो, दाक्षिण्यशिरोमणि हो, दातार हो, विलासी हो, मिष्टभाषी हो, कृतज्ञ हो, परन्तु मेरा पति स्वभाव से ही चण्ड है।'' युवति की बात सुनकर चण्डसोम को चण्ड शब्द सुनने से सन्देह हो गया। उसने सोचा- 'बेशक, यह दुराचारिणी मेरी स्त्री ही है। मुझे यहाँ आया जान सङ्केत कर रक्खे हुए पर के साथ सलाह कर रही है। इसे यह खबर ही नहीं कि मैं यहीं हूँ।' इतने में वह युवक बोला- ''भले ही तुम्हारा पति चण्ड हो या सोम हो, यमराज हो या इन्द्र हो, पर आज तो मेरे साथ संग करना ही पड़ेगा।'' युवती बोली- ''यदि तुम्हारा यही निश्चय है तो मेरा पति यहीं कहीं बैठा-बैठा नाटक देख रहा है, इतने में मैं अपने घर चलती हूँ, तुम भी मेरा पीछा करके चले आना।'' इतना कहकर वह युवति रङ्गभूमि से बाहर निकलकर घर चली गई। चण्डसोम ने सोचा 'ओहो! यही दुष्ट प्रकृति वाली मेरी स्त्री है क्योंकि उसने साफ ही कहा है कि मेरा पति चण्ड है।' चण्डसोम इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि नटी ने गाया-

प्रीति-पात्र यदि हो स्वजन, करता रमण विरान।
ईर्षालू यह जानकर, लेवे तुरत हिं जान।।

नटी का यह गान सुनकर ईर्षालु चण्डसोम के होठ फड़कने उठे। उसने विचार किया- 'वह दुराचारी और वह दुराचारिणी कहाँ गये? इसी वख्त उसका सिर धड़ से जुदा करता हूँ।' यह विचार कर वह तत्काल ही वहाँ से उठ खड़ा हुआ। क्रोध के मारे उसकी छाती घड़कने लगी। वह अपने घर में घुस गाढ़ अन्धकार से आच्छादित घर के एक कोने में, दरवाजे के पीछे तलवार सम्भालकर खड़ा हो गया। इतने में नाटक समाप्त हो गया। उसका छोटा भाई और बहिन घर आये। चण्डसोम ने घर के दर्वाजे में उन्हें घुसते देखा। क्रोध रूपी अन्धकार से जिसके विवेक चक्षु नष्ट हो गये हैं, ऐसे उस चण्डसोम ने परलोक का विचार छोड़कर, लोकापवाद की परवाह न कर, तथा नीति को ताख में रखकर फौरन ही भाई और बहिन की हत्या कर डाली। वे दोनों धरती पर जा गिरे। 'यह है मेरा अप्रिय करने वाली प्रिया और यह दुराचारी पुरुष। इनके सिर को मैं अभी काटता हूँ।' यह सोचकर ज्यों ही वह तलवार खींचकर

दौड़ने को हुआ, त्यों ही तलवार की नोंक दर्वाजे से भिड़गई। उससे जो आवाज हुई उसे सुनकर चण्डसोम की स्त्री की नींद टूट गई। वह एक दम आकर बोली- " ए पापी! यह क्या कर डाला? अपने छोटे भाई और बहिन को ही मार डाला?" यह सुनकर चण्डसोम ने संभ्रम से देखा, तो भाई-बहिन को मरा पाया। इससे उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा 'अरे रे, क्रोध के आवेश में मैंने तो बहुत बुरा कार्य कर डाला है' इत्यादि विलाप करता हुआ होश हवास भुला आँखें मींचकर धरती पर लोटने लगा। नन्दिनी भी देवर और ननद का नाम ले लेकर शोक रूपी शल्य से अत्यन्त पीड़ित होती हुई रोने लगी। थोड़ी देर में चण्डसोम होश में आकर-'हा, गुणगण से सुन्दर सदाचारी बन्धु! हा बहिन श्रीसोमा! आज तुम्हारे बिना आधारवाला जगत् मेरे लिए निराधार हो गया' घंटों तक इस प्रकार विलाप करने लगा। इतने में कुकर्मी द्विज का मुँह देखने लायक नहीं हैं ऐसे विचार से मानो लज्जित होकर चन्द्रमा अस्ताचल पर्वत पर उतरने को तैयार हुआ। उसका विलाप सुनकर स्त्रीस्वभाव के अनुसार कोमल कलेजे की रात्रि ताराओं के खिलने के बहाने से मानो अश्रुपात करती थी। इसके बाद मानो क्रोध से लाल हुआ, अन्धकार रूपी दुश्मन का नाश करता हुआ, प्रचण्ड करों(किरणों और टैक्सों) का विस्तार करता हुआ सूर्य राजा की तरह उदित हुआ। उस समय गाँव के लोगों ने चण्डसोम को समझाया-बुझाया कि इस प्रकार विलाप मत करो, तो भी वह 'हा बान्धव! हा भगिनी! 'कहता-कहता ही श्मशान में गया। वहाँ अग्नि से धधकती हुई चिता बनाकर चण्डसोम उसमें प्रवेश करना ही चाहता था कि इतने में गाँव के लोग-'अरे! इस ब्राह्मण को रोको, रोको' कहकर चिल्लाने लगे। बलवान् आदमियों ने उसे पकड़ रक्खा। पश्चात् ब्राह्मणों ने उससे कहा- "तू अपने प्राण क्यों वृथा खोता है? प्रायश्चित्त ले ले"। चण्डसोम बोला- "अच्छा तो मुझे प्रायश्चित्त दीजिये।" चण्डसोम की स्वीकारता जानकर कोई कुछ कहने लगा, कोई कुछ। उनमें से एक बोला- "उसने बिना कामना के पाप किया है, इसी से वह शुद्ध है।"

दूसरा - हत्यारे की हत्या करने से पाप नहीं लगता।

तीसरा - इस पाप में क्रोध ही कुसूरवार है"।

चौथा - ब्राह्मणों के सामने पाप के निवेदन करने से ही शुद्ध हो जाता है।

पाँचवाँ - अनजान में यदि पाप किया हो तो उसका दोष नहीं लगता।

छठा - अपनी शुद्धि के लिए ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान कर दे और दाढ़ी मूछ मुँडाकर, बर्तन हाथ में लेकर भीख माँगते गङ्गा नदी जा।

उनके इस प्रकार परस्पर विरोधी कथन सुनकर मुझे चार ज्ञानवाला समझकर चण्डसोम मेरे पास आया है।

इस विषय में सब को विचार करना चाहिए कि तीर्थ स्नान करने से किस प्रकार शुद्धि हो सकती है? जल से शरीर का मैल तो छूट जाता है, परन्तु आत्मा का मैल - पाप नहीं छूटता। यदि कदाचित् स्नान से और स्मरण से गङ्गा नदी पाप नष्ट करती हो तो जल में रहने वाले जन्तुओं को पाप ही न लगेगा और यदि कदाचित् केवल स्मरण करने से यह जगत् पावन होता हो, तो जल से आत्मा की शुद्धि करने का विचार निरी मूढता है''। अतः इस प्रकार के विचार को महात्मा सहन नहीं करते। महात्मा जब इन विचारों की जाँच करते हैं, तो वे मिथ्या सिद्ध होते हैं। मूढ जनों ने इस प्रकार के अनेक वाक्य जाहिर कर रक्खे हैं, किन्तु वीतराग सर्वज्ञ ने जो कहा है, वह मनोयोग पूर्वक किया जाय, तो वही पाप के प्रक्षालन करने में समर्थ है। इस प्रकार चण्डसोम अपना हाल सुनकर मुनिराज को हाथ जोड़, प्रणाम कर बोला-''हे प्रभु! आपने जो कहा सत्य है। यदि मैं शुद्धि करने वाले सर्वज्ञ-वचनों का पात्र होऊँ या योग्य होऊँ तो मुझे दीक्षा दीजिये।'' उसके इस प्रकार कहने पर मुनिराज ने उसे योग्य जान दीक्षा दे दी।

।। इति चण्डसोम-कथा समाप्ता।।

श्रीधर्मनन्दन गुरु बोले-"हे पुरन्दरदत्त राजन्! मान रूपी दुर्जय हाथी धर्मरूपी उद्यान को उजाड़ देता है। इसलिए उसकी रक्षा के लिए आत्मबल प्रगट करके यत्न करना चाहिए। क्रोध के त्याग देने पर भी, जब मनुष्य संसार में मानरहित होता है, तभी उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अपना भला चाहता हो, उसे मानरूपी पर्वत को कोमलतारूपी वज्र की धार से सदा भेदना चाहिए। पद्मोच्छेदन की लालसा रखने वाला अहङ्कार, नदी के पूर की तरह दोनों कुलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। दर्परूपी सर्प से डसे हुए मनुष्य की बुद्धि जड़ हो जाती है, जिससे वह सामने बैठे हुए गुरुजनों को भी नमस्कार नहीं करता। मान से जिसकी आँखें मुँद जाती हैं, वह सन्मार्ग को नहीं देख सकता। फल यह होता है कि वह संसाररूपी कुंए में गिरता है। उसके लिए यही योग्य है। हे राजन्! मान रूपी महागजेन्द्र के वश होकर जीव इस आदमी की तरह मौत की अनी पर बैठे हुए- मरणोन्मुख-अपने पिता की, अपनी माता की और अपनी पत्नी की भी उपेक्षा करता है।"

मुनिराज की यह बात सुनकर राजा ने कहा- "हे भगवन्! यह सभा बहुत से आदमियों से भरी हुई है। तो इस आदमी की तरह कहने से हम उसे कैसे पहचान सकते हैं?" भगवान् बोले- "जो हमारे बायें हाथ की जीमनी बाजू बैठा है इसे देखो। उसने दोनों भौहे-ऊँची चढ़ा रक्खी है? उसकी छाती चौड़ी और गर्व के भार से दृष्टि मिच गई है। उसका शरीर तपे सोने की तरह लाल हो रहा है और उसके नेत्र भी कुछ-कुछ लाल हैं। ऐसे स्वरूप से वह ऐसा जान पड़ता है मानो मान की साक्षात् मूर्ति ही हो। वह यहाँ आया हुआ है। उसने अमान - अपरिमित - मान से जो काम किया है, सो सुनो-

मान पर मानभट की कथा

अवन्ती देश में लक्ष्मी से गुर्वी = भारी देवसभा की तरह विशाल और सुन्दर शाल (गढ़) से शोभित विशाला नाम की नगरी है। उस नगरी के लोग सिप्रा नदी के सुलभ अमृत के समान पानी को पीकर अमृत पीने वाले देवताओं की भी प्रशंसा नहीं करते- उन्हें भी किसी खेत की मूली नहीं समझते। उस नगरी में आकाश चुम्बी हवेलियों के छज्जों पर बैठी हुई स्त्रियाँ, उस नगरी की शोभा आई हुई देवाङ्गनाओं की तरह शोभित होती थीं। धनिकों के महलों में और पण्डितों के घरों में गमन-आगमन करने वाली लक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर प्रेम बढ़ गया था। उस नगरी के ईशान कोण में एक योजन दूरी पर कूपपुण्ड्र नाम का गाँव है। उस गाँव में पहले के राजवंश में पैदा हुआ एक क्षत्रभट नाम का अभागा बूढ़ा ठाकुर रहता था। उसका वीरभट नामका इकलौता बेटा था। वह उसे प्राणों से भी प्यारा था।

एक बार वह पुत्र को साथ लेकर उज्जयिनी नगरी में राजा प्रद्योतन की सेवा (नौकरी) करने गया। राजा प्रद्योतन ने उसे वही कूपपुण्ड्र नामक गाँव दिया। कुछ समय में आसपास के शत्रुओं के साथ बार-बार युद्ध होने से क्षत्रभट की देह के अङ्गोपाङ्ग ढीले पड़ गये। इसलिए वह वीरभट पुत्र को, राजा को सौंपकर आप घर आ गया। वीरभट के शान्तिभट नामक पुत्र पैदा हुआ। वह पुत्र धीरे-धीरे बड़ा होकर राजा की सेवा करने लगा। शान्तिभट स्वभाव का स्तब्ध, अभिमानी और युवावस्था से ही घमण्डी था। अतः राजा प्रद्योतन और राजपुत्रों ने मिलकर शान्तिभट नाम बदलकर मानभट रक्खा। हे पुरन्दरदत्त राजन्! यही मानभट एक बार राजा प्रद्योतन की सभा में गया। सब सभासद्

यथास्थान बैठे हुए थे। वह अपने स्वामी और श्रेष्ठ मन्त्रिमण्डल को नमस्कार करके अपने स्थान पर बैठने चला तो एक पुलिन्द नामक राजकुमार को बैठा पाया। मानभट उससे बोला " हे पुलिन्द! यह मेरे बैठने की जगह है, तुम उठ जाओ।" पुलिन्द बोला-"मैं अनजान में यहाँ बैठ गया हूँ। अपराध क्षमा करो, फिर कभी न बैठूँगा।" यह सुनकर दूसरे सभासदों ने मानभट को और भी भड़काया "अरे मानभट! तेरी जगह पुलिन्द बैठा है। सभी मानी पुरुष जीवन और धन को तिनके की तरह त्याग देते हैं, परन्तु कभी अनादर नहीं सहते। मान ही सब से महान् धन है। द्रव्य जो आँकडे की रूई की तरह हल्का है और मान मन्दराचल की तरह भारी है। इसलिए मानी आदमी द्रव्य का त्याग कर सकता है, पर मान का कभी त्याग नहीं करता।" इस प्रकार दूसरे लोगों का कथन सुनकर निर्दय मानभट का हृदय क्रोध से धड़कने लगा। उसने अनार्य जनों की तरह कार्य-अकार्य का विचार छोड़कर अपने प्राणान्त की भी परवाह न कर पुलिन्द की छाती में कटार घुसेड़ दी। पुलिन्द धरती पर जा गिरा। इसके अनन्तर मानभट सभा से बाहर भाग निकला। पुलिन्द के पक्ष के राजकुमारों ने उसका पीछा किया, परन्तु वह अत्यन्त वेग से दौड़ता-दौड़ता अपने घर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही अपराधी सर्प की तरह घर में घुस गया - और पिता को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सब वृत्तान्त सुनकर मानभट के दादा = पितामह ने कहा- "बेटा! जो किया सो किया, पर अब परदेश में चल देना चाहिए या उसके पीछे अग्नि में प्रवेश करना चाहिए। उसके पीछे अग्नि में प्रवेश करना तो ठीक नहीं। परदेश चल देना ही उचित है, अन्यथा प्राण गँवाना पड़ेगा। बेटा! जल्दी सवारियाँ तैयार कर और उनमें घर की तमाम सारासार वस्तुएँ भरकर रेवा नदी की तरफ चलो।" ऐसा निर्णय कर सवारियाँ लहस कर क्षत्रभट और वीरभट तो चल दिये परन्तु मानभट पीछे लौट आया। उसे उसके पिता ने बहुत रोका, परन्तु अपने पराक्रम के घमण्ड में आकर अपने कुछ आदमियों को साथ रखकर वहीं ठहर गया, क्योंकि संग्राम करने में शूरवीर के दोनों हाथों लड्डू रहते हैं। मरे तो स्वर्ग के सुख मिलते हैं और जीत गये तो लक्ष्मी मिलती है।

मानभट वापस लौटकर इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतने में पुलिन्द की सेना आ पहुँची। दोनों में युद्ध छिड़ गया। मान रूपी घोड़े पर सवार होकर मानभट ने अपनी बढ़िया तलवार खींचकर उसकी सारी सेना को तितर-बितर

कर दिया। मानभट भी बहुत से प्रहारों से पीडित हो गया। उसका पराक्रम मन्द पड़ गया। वह अपने आदमियों को लेकर जिस रास्ते पिता गया था, उसी से चला। रास्ते में वह उनसे मिल गया। इसके अनन्तर अनुक्रम से चलते-चलते नर्मदा नदी के किनारे आकर किसी गाँव में गुप्त रूप से रहे। वहाँ रहते-रहते कुछ दिनों में मानभट के घाव भर गये और वह चंगा हो गया। उन्होंने कुछ समय वहीं बिताया।

एक बार वहाँ वनभूमि में वसन्त ऋतु की लक्ष्मी शोभा का अवतार हुआ। उसके संसर्ग से सब वृक्ष नवीन-नवीन कोपलों से शोभित हुए। अशोक वृक्ष वियोगिनी स्त्रियों को दुखी करने लगा, मानो उनके पैर के तलुओं के आघात की याद करके बदला ही ले रहा हो। कामदेव भी वसन्त के संसर्ग से वियोगी पुरुषों को पीडित करने लगा, क्योंकि कामदेव की सेना फूलों की लक्ष्मी से बहुत बढ़-चढ़ गयी थी। केशर वृक्ष केशर की लक्ष्मी से विरहिणी रमणियों को पीड़ा पहुँचाने लगा, मानो मद्य के कुल्ले डालने से वह रुष्ट हो गया हों। पत्तों से समृद्ध पलाश के वृक्ष, अपने शत्रु वियोगिनियों के प्राण लेने के लिए ऐसा शोभित होने लगा मानो पलाश राक्षस ही है। आसापाला वृक्ष की डालियाँ हिल डुल कर ऐसी शोभित होने लगीं जैसे वसन्तऋतु की उतरौनी कर रही हो। ऐसे वसन्त के मौके पर मानभट गाँव के अन्यान्य युवकों के साथ झूला झूलने गया। वहाँ गाँव के लोगों ने कहा-'' जिसे जो प्यारा हो, वह उसका नाम लेवे'' यह बात सब ने स्वीकार कर ली। इसके अनन्तर अपनी-अपनी प्रियाओं के पास तरुण पुरुष गीत गाने लगे। किसी तरुण ने अपनी गौराङ्गी नामकी स्त्री का नाम लिया। इसी तरह किसी ने श्यामाङ्गी, किसी ने तन्वङ्गी किसी ने नीलोत्पलाक्षी, इस प्रकार अपनी-अपनी स्त्रियों के नाम बताए। बाद में मानभट की बारी आई। उसने हिंडोले पर चढ़कर यद्यपि उसकी स्त्री गौराङ्गी थी, तो भी श्यामाङ्गी नाम लिया। श्यामा का नाम सुनकर उसकी स्त्री गौराङ्गी अत्यन्त कुपित हुई। तब दूसरी स्त्रियों ने दिल्लगी उड़ाई कि-'ए सखी! तुम्हारा रूप और सुहाग रचना चोखी नहीं है। इससे तुम्हारे पति किसी दूसरी श्यामाङ्गी नाम की प्रिया का नाम लेते हैं।'' यह सुनकर सौभाग्यवती गौराङ्गी के दिल में कील सी चुभ गई। वह सोचने लगी-'ओहो! मेरे पति ने मेरी सहेलियों के सामने भी मेरी आबरू न रक्खी। अहो!! वह कैसा

दाक्षिण्य शून्य है? कैसा बेहया और प्रेमरहित है? उसने उल्टा नाम लेकर मुझे बड़ा दु:ख दिया है। जब मेरी सौभाग्य लक्ष्मी का ही निरादर हो गया तो मेरा जीना ही उचित नहीं।' ऐसा विचार करती हुई गौराङ्गी स्त्रियों की टोली में से बाहर निकलने का उपाय खोजती, पर आँख बचाकर निकलने का मौका हाथ न आया। इतने में सूर्य मानो गौराङ्गी का दु:ख न देख सकने के कारण ही अन्य द्वीप में चला गया। भौंरे कमलों को छोड़कर कुमुदों के समूह में गये, क्योंकि मधुप की एक जगह प्रीति नहीं होती। दिन का अन्त होने से विश्व में प्रकाश करने वाला खग = सूर्य अस्त हुआ। उसके सौहार्द से मानो दु:खी हो गये हों इस प्रकार खग=पक्षी आक्रोश करने लगे। अन्धकार के समूह से सारा विश्व इस प्रकार व्याप्त हो गया कि लोग अपना हाथ भी न देख सकते थे। क्षण-भर में समस्त दिशाएँ अन्धकार से ग्रसित हो गईं। बिना स्वामी के कौन ऐसा पुरुष है, जो पीड़ा नहीं पाता। अन्धकार का राज्य होने से समस्त भूतल अन्धकारमय हो गया। सो ठीक है- यथा राजा तथा प्रजा=जैसा राजा वैसी प्रजा। अन्धकार के द्वारा एकमेक किये हुए जगत् में, उस समय जल-थल, ऊँचा-नीचा, सम-विषम कुछ भी न दिखाई देता था। ऐसे समय में गौराङ्गी स्त्री समूह में से निकल कर मरने का उपाय सोचती-विचारती घर आई। उसकी सास ने उससे पूछा-"बेटी! तेरा पति कहाँ है?" वह बोली-"लो यह है, मेरे पीछे पीछे तो लगा फिरता है" इस प्रकार बड़बड़ाती हुई गौराङ्गी अपने शयनगृह में घुसी। पश्चात् अत्यन्त महान् और दुस्सह उल्टा नाम लेने रूपी वज्र से कुचली हुई वह बोली- "हे नीति के पालन करने वाले लोकपालों! तुम सुनो। मैंने अपने चित्त में अपने पति के सिवाय किसी दूसरे के नाम का कदापि विचार नहीं किया। तो भी उनने मेरी प्राणप्यारी सहेलियों के बीच जो मेरा अपमान किया है वह अच्छा नहीं किया।" ऐसा कहकर अत्यन्त कुपित उस स्त्री ने अपने को तिनके की तरह त्याग करने के लिए गले में फाँसी लगा ली।

इधर उद्यान में मानभट ने स्त्रियों में अपनी पत्नी को न देखा, तो उसे कुछ शङ्का हुई। वह तुरन्त ही घर आया। उसने अपनी माता से पूछा "तुम्हारी बहू घर आई है या नहीं?" माँ ने उत्तर दिया कि यहाँ आकर सीधी वह शयनगृह में चली गई है। मानभट उसी समय वासगृह में आया और फौरन

ही उसने फाँसी तोड़ दी, फिर जल सींचा। अब वह होश में आगई। मानभट ने उससे कहा "प्रिये! तुम्हारा किसने और क्या अपराध किया है? तू कुपित क्यों हो गई है? निष्कारण ही अपने और मेरे जीवन को क्यों संशय के झूले में डाल दिया है?"

यह सुनकर गौराङ्गी बोली "जहाँ सौभाग्यवाली और कमल के पत्ते के समान विशाल नेत्रों वाली श्यामाङ्गी रहती हो, वहीं तुम भी जाओ।"

मानभट- प्रिये! मैं इस वृत्तान्त से बिलकुल अनजान हूँ। श्यामाङ्गी कौन है? किसने और कब उसे देखा है? तुझसे किसने कहा? सारा हाल मुझ से कहो।

क्रोधाग्नि से जलती-जलती गौराङ्गी बोली- "हाँ, अब भोले बनते हो? जब तुम झूला पर चढ़े थे, तब सब सहेलियों के सामने उसका नाम लिया था। अब सब भूल गये?" इतना कहकर महापवित्र वन-वासी मुनि की नाईं चुप्पी साधकर मौन रखकर रह गई।

मानभट ने सोचा 'यह तो अकारण कोप के पर्वत पर चढ़ गई है।' यह सोच उसने बार-बार समझाया पर वह न बोली। वह अनुपम मौनावलम्बन किये ही रही। तब मानभट ने विचारा-'इसका चित्त क्रोध से भर गया है? इसलिए उसकी अनुनय-विनय करने के लिए पाँवों में पड़ना ही हितकारक है' उसने ऐसा ही किया, किन्तु इससे वह जरा भी शान्त न हुई वरन् अधिक क्रुद्ध हो गई, जैसे अग्नि में घी डालने से वह और भी भभक उठती है। अन्त में मानभट ने निश्चय किया कि अनुनय-विनय करने पर भी यह मृगाक्षी प्रसन्न नहीं होती, सो ठीक ही है। स्त्रियाँ प्रायः ऐसी ही होती हैं। यदि मार्ग में स्त्री रूपी दुस्तर नदी न हो, तो मोक्षाभिलाषी पुरुषों के तो उल्टी मोक्ष-लक्ष्मी बगल में ही समझिये। किन्तु ये स्त्रियाँ महान् सन्ताप का कारण हो जाती हैं। स्त्रियाँ बिजली की तरह चञ्चल प्रकृति की होती हैं। उनका राग सन्ध्या के राग-लालिमा की तरह देखते-देखते नष्ट हो जाता है और वे नदी की तरह नीचगामी होती हैं। महान् हिम की भाँति स्त्रियाँ महान् पुरुषों के मन में रहे हुए विवेक रूपी कमल का सत्तानाश कर डालती हैं। ऐसी स्त्रियों को भला, कौन विवेकी चाहेगा? विवेकरूपी पर्वत पर चढ़े हुए भरपूर गुण वालों को भी, यह स्त्री देखने मात्र

से-क्रीड़ा मात्र में नीचे पटक देती है। जान पड़ता है कि स्त्रियों के पास कोई लौकिक हथियार है क्योंकि ये उसने प्राणियों के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों-प्राणों को हर लेती हैं। बहुत देर तक इस प्रकार विचार करता हुआ मानभट वासगृह से बाहर निकला। माँ ने पूछा-"बेटा! कह तो सही, क्या मामला है?" लेकिन मानभट माँ को उत्तर दिये बिना ही घर से बाहर हो गया। मानभट के चले जाने पर गौराङ्गी ने सोचा- 'ओहो, मेरा हृदय वज्र की तरह कठोर है, स्वामी स्वयं पैरों में पड़े तो भी मैं राजी न हुई? मैं ने यह ठीक नहीं किया। बार -बार पैरों में पड़कर भी जब मुझे राजी होते न देखा तो खेद के कारण मेरे प्राणनाथ न जाने कहाँ चले गये हैं? मैं भी उनके पीछे पीछे जाऊँ?' ऐसा सोचकर गौराङ्गी भी वासगृह से बाहर निकली। उसकी सास ने पूछा-"बेटी! तू कहाँ चली?"। गौराङ्गी "तुम्हारे पुत्र कहीं चले गये हैं" कहती हुई उतावली से दौड़ी। एकदम उसके पीछे-पीछे उसकी सास भी दौड़ी। तब मानभट के पिता वीरभट ने सोचा-'सारा कुटुम्ब आज कहाँ भागा जा रहा है?' ऐसा विचारकर वीरभट भी उसी रास्ते रवाना हुए। आगे मानभट को उसकी स्त्री ने घोर अन्धकार से आच्छादित कुँए के रास्ते पर जाते हुए जैसे-तैसे देख पाया। मानभट चलता-चलता घने वृक्षों की हजारों शाखाओं से जहाँ घोर अन्धकार हो रहा था, ऐसे एक कुँए के किनारे आया। वहाँ से पीछे आती हुई अपनी स्त्री को देखा। उसे आती देखकर उसने उसकी परीक्षा करने की ठानी। उसने कुंए में एक बड़ी भारी शिला पटक दी। शिला के गिरने से जो आवाज हुई, उसे सुनकर पति को कुंए में गिरा समझ, अत्यन्त दुःखित होकर गौराङ्गी तत्काल ही कुंए में गिर पड़ी। उसकी सास ने भी इस दुःख से दुःखित होकर अपने को कुंए में भेंट किया और उसके पीछे आने वाले ससुर ने भी उसी का अनुकरण किया- वह भी उसी में गिर पड़ा।

तीनों को मरा समझ मानभट ने मन में विचार किया- 'अब मुझे क्या करना चाहिए? मैं भी इस दुःख से अपने को कुंए में डालूँ या नहीं?' इस प्रकार विचारकर हे पुरन्दरदत्त राजन्! वह मानभट उस समय होने वाली उनकी *निवापाञ्जलि। (मरने के बाद होने वाली एक) क्रिया करके, बिल्कुल विरक्त* हो देश-विदेशों में भ्रमण करने लगा। जिसने जैसा बताया, उसी के अनुसार भृगुपात, गङ्गास्नान वगैरह आचरण करने लगा। अन्त में माता-पिता और पत्नी

के वध के अत्यन्त भीषण पाप की शान्ति के लिए कौशाम्बी नगरी में आया। हे नरेश! यह बेचारा अज्ञान और मूढमनस्क मानभट लोगों के कथनानुसार तीर्थ किया करता है। परन्तु यदि चित्त शुद्ध हो तो मनुष्य घर में रहकर भी कर्मों का क्षय कर सकता है। इसलिए सब प्रकार से मन को शुद्ध करना चाहिए। बिना मानसिक शुद्धि के सुपात्र को दिया हुआ दान तथा की हुई क्रियाएँ राख में घी होम करने की तरह निष्फल हैं।''

इस प्रकार गुरु के वाक्य सुनकर मानभट ने मान का त्याग कर दिया और भगवान् धर्मनन्दन गुरु के चरण-कमल का सहारा लिया और प्रतिबोध पाकर प्रवज्या-दीक्षा माँगी। सूरि ने उत्तर दिया- ''हे वत्स! निरन्तर निरतिचार आचार का पालन करना अति दुष्कर है क्योंकि उसमें केशों का लोंच करना पड़ता है, सदा अहिंसा आदि व्रतों का अतिचार सहित पालन करना पड़ता है, अठारह हजार शीलों का भार उठाना पड़ता है, नीरस भिक्षा द्वारा लाया हुआ अन्न खाना पड़ता है, प्रासुक, एषणीय और निःस्वादु जल पीना पड़ता है, धरती पर सोना पड़ता है। इसके सिवाय चाहे उपसर्गों के ढ़ेर के ढ़ेर आ जावें तो भी जरा भी शिथिलता नहीं कर सकते। लोहे के चना चबाना सहज है, पर जिनेश्वर कथित व्रतों का पालन करना सहज नहीं है।''

इस प्रकार मान के विषम विष के आवेश को नष्ट करने में समर्थ श्रीधर्मनन्दन गुरु के उपदेश-वचन रूपी अमृत का गले तक पान करके मानभट ने दीक्षा स्वीकार कर ली।

।। इति मानभट-कथा।।

गुरु महाराज फिर बोले-"भव्य प्राणियों! यदि तुम आत्मा का कल्याण चाहते हो, तो आर्जव (सरलता) रूपी तलवार से माया-लता को काट डालना चाहिए। हे विद्वानों! जो माया रूपी नदी के बड़े भारी पूर को पार करना हो तो कोशिश करके आर्जव रूपी जहाज को शीघ्र तैयार करो। जगत् के जीवों के लिए माया को भयङ्कर राक्षसी समझो। इस राक्षसी को सरल चित्त के सद्भाव रूपी स्फुरायमाण महामन्त्र के प्रभाव से वश में करना चाहिए। इस संसार में असत्य की खान इस माया को जो मनुष्य अङ्गीकार करता है उसकी दुर्गति होती है और जो अङ्गीकार नहीं करता, कल्याणरूपी लक्ष्मी उसके अधीन हो जाती है। माया अनीति- रूप राजा के क्रीड़ा करने की बढ़िया भूमि है। यह समस्त दुःखों को उत्पन्न करती है और पाप रूपी वृक्षों के वन के समान है। अतः हे पुरन्दरदत्त राजन्! मायाचार करने वाला मनुष्य इस पुरुष की तरह यश, धन और मित्रवर्ग से हाथ धो बैठता है और अपनी जिन्दगी का भी संशय की तराजू में आरोपण करता है।"

राजा ने कहा-"हे भगवन्! वह पुरुष कौन सा? उसने क्या किया? यह हम कुछ नहीं जानते।" गुरु बोले-"यह जो तुम्हारे सामने और मेरे पीछे शरीर के भाग को सिकोड़कर बैठा है, शरीर श्याम रंग का है, और अति पापी दिखाई देता है, वह मायावी है। इस कपटी ने पहले जो किया है, सुनो-

माया पर मायादित्य की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में काशी नामक देश है। उसमें वाराणसी नाम की एक श्रेष्ठ नगरी है। उस नगरी में स्फटिक मणिमय दीवारों में, हरिणाक्षी स्त्रियाँ, रात -दिन जब कभी देखती हैं, तब अपने आपको ही देखा करती हैं। उस नगरी में सर्व ऐश्वर्य से शोभित दाताओं को ही दु:ख था, क्योंकि वहाँ याचना करने के लिए याचक कभी मिलते ही न थे। उस नगरी में गङ्गा नदी के जलकणों को हरण करने वाली संध्याकालीन हवा से, युवकों के कौतूहल को कामाग्नि प्रदीप्त करती थी। वह नगरी चौदह महास्वप्नों से जिसके जन्म की महिमा सूचित हुई थी, जिसने शरीर की अनुपम सुन्दरता से अनेकों कामदेवों को लज्जित कर दिया था, केवल ज्ञान से समस्त पदार्थों के समूह का अवलोकन किया था, संसार के उदर-रूपी विवर-बिल में संचरण करने वाले समग्र जन समूह को शरण देने के लिए उच्चारण की हुई धर्मदेशना रूपी सिंहनाद से सारे कुवादी रूपी बड़े-बड़े हाथियों को पराजित किया था, और जिसके दोनों चरण-कमलों की सेवा सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्रों ने की थी, ऐसे तीन लोक को आनन्द देने वाले श्री वामानन्दन भगवान् पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। उस नगरी से वायव्य कोण में शालिग्राम नामक गाँव है। अगाध कुंओं से व्याप्त, विकट बड़ के पेड़ों से सँकड़ा जान पड़ने वाला और अशोक वृक्षों की सुन्दर श्रेणी से मनोहर वह गाँव भला किसके चित्त को आनन्दित न करता था? उस गाँव में गङ्गादित्य नामक एक वणिक् रहता था। सारा गाँव धनधान्यादि से समृद्ध होते हुए भी सिर्फ उसी पर दरिद्रता का सिक्का जमा हुआ था, कामदेव के समान रूपवान् होते हुए भी लोगों में वही एक कुरूप था। अधिक क्या कहें? वही दुर्भाषी था, उसके दर्शन से ही समस्त जनों को उद्वेग उत्पन्न होता था। वही

कृतघ्न, चुगलखोर और सभी दुर्गुणों का अखाड़ा था। क्योंकि वह निरन्तर मायाचार करने की टेव वाला था, इससे लोगों ने उसका गङ्गादित्य नाम मिटाकर मायादित्य नाम रक्खा था। हे राजन् पुरन्दरदत्त! वही यह मायादित्य है।

उस गाँव में स्थाणु नाम का एक वणिक्पुत्र रहता था। उसके पूर्व पुण्यपुञ्ज का नाश होने से वह धनहीन हो गया था। उसकी प्रीति इस मायादित्य के साथ हो गई। परन्तु स्थाणु सरल स्वभावी, कृतज्ञ, प्रियवादी, दयालु, दूसरों को न ठगने वाला, दीन जनों का प्रेमी और निर्दोष था। स्थाणु को गाँव के बड़े-बूढों ने बहुत समझाया कि तुम मायादित्य की संगति छोड़ दो परन्तु उसने न माना क्योंकि वह स्वयं शुद्ध हृदय का आदमी था। ठीक ही कहा है-

"जानाति साधुर्वक्राणि, दुर्जनानां मनांसि न।
आर्जवेनार्पयत्येव, स्वकीयं मानसं परम्।।"

अर्थात्- दुष्टों के कपटी मन का पता सज्जनों को नहीं लगता। अतः सरलता से वे अपना मन उन्हें अर्पण कर देते हैं।

इसके अनन्तर सज्जन और दुर्जन, पण्डित और मूर्ख, हंस और बगुले की तरह, तथा भद्रजाति और बर्बर जाति के हाथियों की तरह स्थाणु की निर्मल भाव से और मायादित्य की कपटभाव से प्रीति बढ़ती गई। दोनों को एक दूसरे का विश्वास हो गया। एक बार दोनों में धनोपार्जन करने के तरह-तरह के विचार करने लगे। फिर दोनों कुटुम्बी जनों की आज्ञा ले माङ्गलिक उपचार कर मार्ग के लिए पाथेय-कलेवाटेसा-ले दक्षिण दिशा की ओर रवाना हुए। रास्ते में अनेक पर्वत नदियाँ, वृक्ष और जीव-जन्तुओं से भरे दुर्गम वन को पार करके दोनों स्वर्गपुर के समान प्रतिष्ठानपुर में आये। वहाँ विविध हजार प्रकार के व्यापार करके बड़े कष्ट से उन्होंने पाँच-पाँच हजार सोनामोहर कमाई। इसके बाद वे लोग स्वदेश लौटने को तैयार हुए। उस समय उन्होंने सोचा-'इस द्रव्य की चोर और भीलों से रक्षा करना बहुत कठिन है।' इस तरह सोचकर दस हजार मोहरों के दस रत्न खरीदे और फटे कपड़े के छोर में बाँध, मूड मुँड़ा धातु से रंगे वस्त्र पहनकर दूर से आने वाले तीर्थयात्री का भेष बनाया। रास्ते में कहीं भीख माँगते, कहीं पैसे देकर जीमते और कहीं-कहीं अन्नक्षेत्र में जीम लेते थे। इस प्रकार चलते-चलते वे लोग किसी गाँव के निकट आये। वहाँ

स्थाणु ने कहा-"मित्र! मेरा शरीर रास्ते की थकावट से अत्यन्त दुःखी हो गया है। मुझ में भिक्षा के लिए जाने की शक्ति नहीं है। अतः आज हम बढ़िया मांडिया खावें।" यह सुनकर मायादित्य ने कहा-"मित्र! तुम ही गाँव में जाकर बनवा लाओ। मैं इस काम में चतुर नहीं हूँ। लेकिन जल्दी आ जाना।" स्थाणु ने कहा "ठीक है, मैं ही जाता हूँ। पर इस रत्नों की गाँठ का क्या करना चाहिए?" मायादित्य बोला-"इस नगर की चाल-ढाल को कौन जाने? तुम गाँव में जाओ, और कदाचित् कोई छीन ले तो अच्छा है कि इसे मेरे ही पास रहने दो।" स्थाणु उसके हाथ में रत्नों की गाँठ सौपकर गाँव में घुसा।

इधर मायादित्य ने सोचा-'किसी तरकीब से यह गाँठ मेरी हो जाय, तो मेरा परिश्रम सफल हो।' इस प्रकार विचार कर उस पापबुद्धि वाले मायावी मायादित्य ने उस गाँठ सरीखी ही गाँठ कंकरों की तैयार की। इतने में हलवाई की दुकान बन्द होने से बनवाये बिना ही स्थाणु वापस लौट आया और मित्र को देखकर बोला-"मित्र! आज तुम्हारे नेत्र भय-भ्रान्त से क्यों दिखाई देते हैं?" मायादित्य ने उत्तर दिया- "तुम्हें आते हुए मैंने पहचाना नहीं।" मैंने समझा "कोई चोर आ रहा है"। इसी से मैं डर गया। यह लो, मुझे इस रत्नों की गाँठ का क्या करना है?" इतना कहकर वहाँ से चम्पत होने के लिए व्याकुल-चित्त मायावी ने भूल से सच्चे रत्नों की गाँठ देदी और स्वयं नकली-कंकरों की गाँठ लेकर, मैं भिक्षा के लिए जाता हूँ" ऐसा कपट से कहकर एक रात-दिन में बारह योजन लम्बी सफर की। इतनी दूर जाकर, गाँठ खोलकर देखा तो कंकर ही कंकर नजर आये। यह देखकर वह ठगा हुआ या चुराया हुआ सा हो गया।

पश्चात् स्थाणु के पास से सच्चे रत्नों की गाँठ लेने के लिए वह कपटी चिरकाल तक इधर-उधर सर्वत्र घूमता फिरा। इधर गाँव के बाहर ठहरे हुए स्थाणु ने बहुत देर तक उसकी वाट देखी। जब वह न आया तो खूब खोज की, पर वह न मिला। अन्त में मित्र के गुणों का स्मरण करके अनेक प्रकार से विलाप करते-करते उसने वह दिन बिता पाया। रात हुई तो किसी देवमन्दिर में जाकर सो रहा। रात्रि के अन्तिम पहर में गुजरात के रईस किसी मुसाफिर ने इस प्रकार गाया-

धवल इव योऽत्र विधुरः, स्वजनो नो भारकर्षणे प्रवणः।

स च गोष्ठाङ्गणभूतल-विभूषणं केवलं भवति।। 1।

भावार्थ- जो स्वजन महोक्ष धवल सांड की तरह भार ढोने में प्रवीण नहीं होता है, वह तो गोष्ठाङ्गण का विभूषण ही होता है।

यह सुभाषित सुनने से स्थाणु को भी एक श्लोक याद आ गया-

अथ क्षितौ विपत्तौ च, दुःसहे विरहेऽपि च।

येऽत्यन्तधीरता-भाजस्ते नरा इतरे स्त्रियः।।

अर्थात् पृथिवी पर जो मनुष्य विपत्ति आने पर और दुस्सह विरह होने पर भी अत्यन्त धीरता धारण करते हैं वे ही पुरुष हैं, और दूसरे स्त्रियाँ हैं।

किसी प्रकार वह रात्रि व्यतीत करके स्थाणु ने सोचा-'यदि कदाचित् मेरा मित्र मर गया होगा, तो उसके पाँचों रत्न मैं उसके कुटुम्बी जनों को दे दूँगा।' इस प्रकार सोचता-विचारता हुआ शुद्धबुद्धि स्थाणु अपने गाँव की ओर चला। मार्ग में चलते हुए अनुक्रम से नर्मदा नदी के किनारे रूखे चेहरे और कान्ति रहित शरीर को लिए हुआ मायादित्य दिखाई दिया। मायादित्य अपने मित्र स्थाणु को देखकर गाढ़ आलिङ्गन करके कपटभाव से अपना बनावटी वृत्तान्त सुनाने लगा-" हे मित्र! उस दिन मैं तुम्हारे पास से रवाना होकर गाँव में भिक्षा के लिए वहाँ घर-घर घूमता -घूमता एक धनाढ्य के घर में घुसा। वहाँ मुझे किसी ने भिक्षा न दी। मैं थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। इतने में यमदूत के समान उस धनिक के क्रोधान्ध सिपाहियों ने मुझे "चोर चोर" कह कर खूब मार मारते-मारते गृहस्वामी के हवाले कर दिया। उसने सिपाहियों से कहा-"इस चोर को पकड़ा सो बहुत अच्छा किया। इसने अपना कुण्डल चुराया है। अतः इसे खूब सावधानी से पकड़े रखना। मैं राजद्वार में जाकर सूचना करता हूँ।" यह सुनकर मैं ने विचार किया-

भुजङ्गगतिवद्वक्रचित्तेन विधिना नृणाम्।

अन्यथा चिन्तितं कार्यमन्यथैव विधीयते।।

सर्प की गति की तरह वक्र चित्त वाले, विधि से, मनुष्य कुछ चाहते हैं और होता कुछ और ही है।

मैं विलाप करने लगा और बेकसूर ही मुझे सिपाहियों ने एक कोने में डाल दिया। मैं वहीं पड़ा रहा। दोपहर के समय कोई स्त्री कृपा करके मेरे लिए उचित आहार लेकर आई। वह स्त्री मुझे सुन्दर रूप वाला देखकर मुझ पर आसक्त हो गई। उस जगह दूसरा कोई भी न था। मैंने उससे पूछा-"भद्रे! यदि तू मुझे सब बात सच-सच कहे, तो मैं पूछूँ।" तब वह बोली-" हे सुन्दर! मैं सब सच-सच कहूँगी।" मैं ने पूछा-"मुझ निरपराध को सिपाहियों ने क्यों पकड़ा है?" वह बोली-" हे सुभग! इस नवमी के दिन मेरा पति देवी को बलि-दान करने वाला है। देवी की आराधना के लिए तुम्हें चोर कहकर कपट से पकड़ लिया है।" यह सुनकर मुझे अपने मरण का बहुत भय हुआ। मैं ने उससे फिर पूछा-" मेरे जीवित रहने को क्या कोई उपाय भी है? हो, तो कहो।" उसने कहा- "तुम्हारे जीवित रहने का कोई उपाय नहीं और मैं अपने पति की द्रोहिणी हो नहीं सकती तो भी तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत स्नेह उत्पन्न होता है, अतः मेरी बात सुनो। नवमी के दिन सारा कुटुम्ब मेरे स्वामी के साथ तीर्थस्थान को स्नान करने जायगा। उस समय तुम्हारा रक्षण करने के लिए दो-एक ही आदमी होंगे।" यह बात सुनकर मुझे कुछ हिम्मत बँधी। इसके बाद नवमी के दिन मौका देखकर मैं उस घर से बाहर भाग निकला। कोई देख न लेवे, इस प्रकार ठिकाने-ठिकाने तुम्हें खोजता हुआ यहाँ सरल और घने वानीर (एक प्रकार का घास) वाली नर्मदा के किनारे आया। इतने में तुम दीख पड़े। हे मित्र! तेरे दुस्सह विरह के समय मैंने इस प्रकार के कष्ट झेले।"

यह वृत्तान्त सुनकर उसे सत्य समझने वाले स्थाणु के नेत्र अश्रुजल से भीग गये। अनन्तर दोनों मित्र मुँह धोकर आहार करके वहाँ से रवाना हुए। रास्ता भूल जाने से वे दिङ्मूढ हो गये। उनकी दृष्टि भयभीत हो गई। वे दोनों संसार की तरह दुस्तर किसी अरण्य में घुसे। हम कहाँ आ पहुँचे हैं? कहाँ जायेंगे? उसकी उन्हें खबर न पड़ी। आगे चलते-चलते स्थाणु ने कहा-"मुझे भूख सता रही है। रत्नों की गाँठ तू ले ले। कदाचित् मेरे पास से गिर पड़े।" यों कहकर उस ने गाँठ मायादित्य को सौंप दी। गाँठ लेकर मायादित्य ने सोचा- "अहो, जो काम मेरे करने का था, वह इसने स्वयं ही कर दिया। फिर दोपहर हुए सूर्य की किरणें खोपड़ी तपाने लगीं। दोनों को खूब प्यास लगी। दोनों इधर-उधर पानी की खोज करने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बड़ के पेड़ के नीचे उन्हें एक

कूंआ दिखाई दिया। कूंआ देखकर दुष्टबुद्धि मायादित्य ने सोचा-'इसे कुए में गिरा देना, यही सबसे अच्छा उपाय है।' यह सोचकर वह बोला-"मित्र स्थाणु! देखकर बताओ, कुए में कितना गहरा पानी है? जिससे मैं उसी मुआफिक लताओं के तन्तुओं का मजबूत रस्सा बट डालूँ यह सुनकर सरलचित्त महानुभाव (स्थाणु) जल की गहराई देखने लगा। इतने में मोह से मुग्ध चित्त मायादित्य ने लज्जा की परवाह न करके, प्रीति की अवगणना करके, दाक्षिण्य को तिलाञ्जलि देकर परलोक के विचार को दूर करके और सज्जनों के मार्ग का तिरस्कार करके जल का माप देखते स्थाणु को कुंए में ढकेला दिया। स्थाणु शेवाल पर गिरा। इससे उसके शरीर को कुछ ज्यादा चोट न पहुँची। विश्वस्त चित्त वाले स्थाणु ने विचारा-'ओह! पहले पहल तो दरिद्रता ने अड्डा जमाया, फिर जंगलों में मारे मारे फिरे, उसमें भी प्यारे मित्र का वियोग भोगना पड़ा। ये तीन बातें तो दुष्ट दैव से प्राप्त हुईं। लेकिन मुझे कूप में किस निर्दय हृदय वाले ने पटका? यहाँ मायादित्य ही निकट था, दूसरा तो कोई था ही नहीं तो क्या उसी ने मुझे कुंए में पटका होगा? नहीं, नहीं यह तो असंभव है। सचमुच मैं ने यह खोटा विचार किया। कदाचित् वायु से मेरु पर्वत की चोटी काँप उठे, सूर्य पश्चिम में उदित हो जाय, परन्तु मित्र कदापि ऐसा काम नहीं कर सकता। अहो, अनेकानेक संकल्प विकल्प करने वाले मेरे चित्त को धिक्कार है। निस्सन्देह मेरे पूर्वजन्म के वैरी किसी राक्षस या पिशाच ने मुझे कुंए में पटक दिया है।' इस प्रकार विचार करता हुआ स्थाणु इस विकट दशा में भी स्वस्थ चित्त बना रहा। सच है- "सज्जनों का ऐसा ही स्वभाव होता है।"

इधर मायादित्य ने सोचा-'अहो, जो करना था, कर लिया। अब इन दसों रत्नों का फल भोगना चाहिए।' यह विचार करता हुआ मायादित्य वन से निकलने के लिए घूमने लगा कि इतने में उसे चोरों का सरदार दिखाई दिया। उसने उसे पकड़ लिया और रत्न छीन लिए। इसके बाद वह चोर सरदार फिरता-फिरता दैवयोग से असाधारण प्यास का मारा उसी पेड़ के नीचे आ पहुँचा। उसने चोरों को हुक्म दिया- "अरे सैनिकों! कूंए में से पानी खींचो। सरदार की आज्ञा सुनकर चोरों ने पलाश के पत्तों के दोनों में पत्थर रखकर लताओं के तंतुओं के रस्से से बाँधकर जल खींचने के लिए उसे कुए में डाला। कूंए में पड़े हुए स्थाणु ने देखकर जोर से कहा- "दुर्दैव से किसी ने मुझे इस

कुंए में पटक दिया है। मुझे भी बाहर निकालो।'' यह सुनकर चोरों ने अपने सेनापति को सूचना दी कि किसी ने इस कुंए में किसी आदमी को पटक दिया है। सेनापति बोला-''अरे! जल खींचना बन्द करो। पहले उसी विचारे को बाहर निकालो''। सेनापति के आदेश को सुनकर उसके अनुचरों ने उसे तुरन्त कुंए के बाहर निकाल लिया। सेनापति ने स्थाणु से पूछा-''हे भद्र! तू कहाँ का रहने वाला है? यहाँ कैसे आया है? तेरा नाम क्या है? किसने तुझे इस जीर्ण कूप में पटका था?''

स्थाणु- देव! पूर्वदेश से हम दो आदमी दक्षिण की ओर गये थे। वहाँ कुछ समय में हमने पाँच-पाँच रत्न कमाये और खुशी-खुशी अपने देश की ओर चल दिये। चलते-चलते रास्ता भूल गये और इस अटवी में आ फँसे। यहाँ आते ही प्यास के मारे प्राण सूखे जाते थे। पानी की टोह/खोज करने लगे। बस, तृषा से तप्त हमने यह जीर्ण कूप देखा। इसके बाद क्या हुआ? सो हे देव! हम ठीक नहीं जानते। हाँ, इतना अलबत्ता जानता हूँ कि मुझे किसी ने कूए में पटक दिया। किन्तु जैसे धर्मोपेदश के कथन से गुरु प्राणियों को संसार से बाहर निकालता है, उसी प्रकार आपने दया करके मुझे कुंए से बाहर निकाला है।

सेनापति- केवल उसी दुराचारी ने तुझे कुंए में पटका है।

स्थाणु- नहीं, नहीं, शान्तं पापम्। प्राणों से भी अधिक प्यारे मेरे साथ वह इस प्रकार का चाण्डालोचित दुष्ट बर्ताव कैसे कर सकता है?

सेनापति- इस समय वह कहाँ है?

स्थाणु- मुझे मालूम नहीं। स्थाणु की बात सुनकर सब चोर मुस्कुराकर बोले- ''सदा सरल स्वभावी यह बेचारा कुछ जानता नहीं है। इसका चित्त तो स्वच्छ ही है।''

सेनापति- हम लोगों ने जिससे रत्न छीने हैं, वही इसका मित्र मालूम होता है।

चोर- जी हाँ, संभव है।

सेनापति- तेरा वह मित्र कैसा है?

स्थाणु- देव! मेरा मित्र शरीर से श्याम, पिंजर नेत्र वाला और पतला है।

सेनापति- भद्र! तू ने सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त बहुत बढ़िया दोस्त खोजा है, जिससे तुझे कुंए में गिरना पड़ा? तुम अपने रत्न देखकर पहचान सकते हो?

स्थाणु- हाँ, पहचान सकता हूँ।

सेनापति ने रत्न दिखाये। स्थाणु ने उन्हें पहचान कर कहा-"आपने कब और कैसे कहाँ से ये रत्न पाये? क्या मेरे मित्र को मारकर ये रत्न ले लिये हैं?"

सेनापति- तेरे मित्र को हमने मारा नहीं, बाँधकर सिर्फ रत्न ले लिये हैं। इतना कहकर सेनापति ने करुणा से स्थाणु को पाँच रत्न दे दिये। रत्न लेकर स्थाणु अपने मित्र की खोज में निकला। वह एक गहन वन में पहुँचा तो क्या देखता है कि मित्र की भुजाएं वेला के तन्तुओं से बाँधी हुई हैं। दोनों पैर गठड़ी की भाँति बँधे हुए हैं और मुँह नीचे की ओर लटका हुआ है। मित्र को ऐसी दशा में बैठा देखकर 'हाय, हाय! करते हुए स्थाणु ने उसके सब बन्धन खोले और दयापूर्वक कहा- "मैं ने नया जन्म पाकर पाँच रत्न पाये हैं। उनमें से अढाई तुम्हारे और अढाई हमारे। रंज न करो।" ऐसा कहकर स्थाणु उसे वन की सीमा पर आये हुए एक गाँव में ले गया। वहाँ कुछ दिनों में स्थाणु ने औषध आदि करके मायादित्य के घाव वगैरह ठीक करके उसे चंगा कर दिया। मायादित्य ने सोचा- 'मैंने ऐसा अनुचित बर्ताव किया तो भी स्थाणु कैसा परोपकारी है? अब मुझे क्या करना चाहिए? मुझ पापी- मायावी ने पहलेपहल रत्नों पर हाथ साफ किया, मित्र को कुंए में पटका, फिर झूठ बोलकर उसे ठगा। मुझे नरक में भी स्थान न मिलेगा। अत: अब यही उचित है कि अग्नि में प्रवेश करके अपनी आत्मा को सुवर्ण की तरह निर्मल करूँ।' इस प्रकार विचार करके मित्र-वञ्चना रूपी पाप से उत्पन्न हुई चिन्ता के संताप से संतप्त होकर मायादित्य, स्थाणु और दूसरों के रोकने पर भी चिताग्नि में प्रवेश करने के लिए तैयार हो गया। लेकिन गाँव के बड़ों-बूढ़ों के बहुत समझाने से, मित्र-वञ्चना से उत्पन्न पाप के निवारण के लिए स्थाणु को साथ लेकर समस्त लोकप्रसिद्ध तीर्थों की आराधना करता हुआ यहाँ आकर बैठा है।"

गुरु के मुख से अपना यथार्थ वृत्तान्त सुनकर मायादित्य बोला- "दया के निवास रूप पूज्य गुरु, माया से मुग्ध हुए चित्त से मैंने जो मित्रद्रोह किया

है, उस पाप का नाश करने के लिए मुझ पर अनुग्रह करके समस्त सिद्धियों का निवास स्थान रूप दीक्षा दीजिये।'' भगवान् धर्मनन्दन सूरि ने यह सुनकर ज्ञान के अतिशय से उसकी कषायों को शान्त हुआ समझकर श्रीतीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार दीक्षा दे दी।

।। इति मायादित्य-कथा।।

चारित्र रूपी मलयाचल पर्वत के सुन्दर चन्दन वृक्ष के समान श्रीधर्मनन्दन गुरु फिर बोले-"जो मनुष्य क्रोधादिक को किनारे करके भी लोभ को लात नहीं मारते वे श्याम लोहे के गोले की तरह भवसागर में डूब जाते हैं। संसार कान्तार में विवेक प्राणों के हरने वाले लोभसर्प से स्पष्टतया डसे हुए जीव, अपना कुछ भी हिताहित नहीं समझ सकते। लोभी प्राणी में रही हुई गुणश्रेणी भी अग्नि से तपाए हुए लोहे के गोले के ऊपर निर्मल हुई जल की बूँद के समान तत्काल विलीन हो जाती है। समुद्र जैसे असीम जल से तृप्त नहीं होता, अग्नि सुमेरु पर्वत के बराबर ईंधन के ढेर से तृप्त नहीं होती, इसी तरह (लोभी) प्राणी अटूट धन से भी संतुष्ट नहीं होता। हे पुरन्दरदत्त राजन्! लोभ के वश में फँसा हुआ प्राणी इस पुरुष की तरह द्रव्य से हाथ धो बैठता है, मित्र की हत्या कर डालता है और स्वयं दु:खसागर में पड़ता है।" यह सुनकर राजा ने निवेदन किया- "भगवन्! वह कौन पुरुष है? और उसने क्या किया है।" गुरुराज बोले- "हे राजन्! यह आदमी जो तुम्हारे पीछे और वासव मन्त्री के दाहिनी ओर बैठा है, जिसका अत्यन्त कृश शरीर हड्डियों के ढाँचा का ही मालूम होता है और जो ऐसा जान पड़ता है, मानो साक्षात् लोभ ही की मूर्ति हो, इसने लोभ के अधीन होकर जो काम किया है, वह एकाग्रचित्त होकर सुनो-

लोभदेव की कथा

इस जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के मध्यखण्ड में तक्षशिला नामकी एक नगरी है। वह नगरी अपनी रमणीय सम्पत्ति से, अपने मन में स्वर्ग की नगरी-अमरावती को भी तुच्छ समझती है। कंगूरों की श्रेणी से शोभायमान प्राकार के बहाने मानों हजार फन वाला शेष नाग उस नगरी का सौन्दर्य देखने आया हो। खाई के जल में प्रतिबिम्बित होने वाला स्फटिक मणियों का प्राकार ऐसा जान पड़ता है मानो वह नगरी भोगवती नगरी को देखने के लिए पाताल में घुसी जा रही है। उसमें सुशिव,[१] सदारम्भ,[२] वृषाश्रय,[३] स्वभय[४] और स्वशन[५] ये जातिमान् जन इसी जाति के वृक्षों के उद्यान सरीखे शोभित होते थे। उस नगरी में ऐसे सुवर्णमय बढ़िया-बढ़िया प्रासाद थे, मानो क्रीड़ा के लिए आये हुए मेरु के कुमार हों। अगणित हरियों[६] से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई और निरन्तर जय[७] से शोभित इस नगरी को देख लज्जित होकर ही स्वर्गपुरी मानो अदृश्य हो गई है। उस नगरी में बाहुबली ने श्री ऋषभदेव स्वामी के चरणन्यास की जगह एक हजार आरा वाला धर्मचक्र बनाया था। उस नगरी में लोकों के चित्त उत्कृष्ट स्नेह में लालसा वाले थे और मुनियों के चित्त मुक्ति के स्नेह में लालसायुक्त

---

१. अच्छे मङ्गलवाले लोग और अच्छे पुण्डरीक वृक्षों वाला उद्यान।

२. अच्छे आरम्भ वाले।

३. वृष=धर्म का आश्रय लेने वाले वृष नामक ओषधि का आश्रय लेने वाले।

४. अच्छी तरह अभय=निडर, अच्छे अभय वृक्षों वाला उद्यान।

५. अच्छा भोजन करने वाले और अच्छे अशन वृक्ष वाला उद्यान।

६. पण्डित और इन्द्र।

७. विजय और जयन्त इन्द्र का पुत्र।

थे। उस नगरी में सदापरमदार[८] सदारागपर[९] और सदाहारसार[१०] वैभवशाली लोगों के समूह मुनिगण रहते थे। उस नगरी की नैर्ऋत्य दिशा में धान्य के ढेरों से मनोहर दिखाई देने वाला उच्छल नामक गाँव है। उस गाँव में उत्तम कुल में उत्पन्न एक सार्थवाह पुत्र धनदेव रहता था। किसी दूसरे सार्थवाह के लड़के के साथ क्रीड़ा करते-करते उसका कुछ समय व्यतीत हुआ। धनदेव स्वभाव से ही लोभी था। दूसरों को ठगने में चतुर, झूठा और दूसरे के धन पर हाथ साफ करने वाला था। उसके ऐसे कृत्य देखकर दूसरे सार्थवाहों के पुत्रों ने उसका धनदेव नाम बदलकर लोभदेव नाम रख छोड़ा था। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते लोभदेव जवान हुआ। उसका मन अत्यन्त लोभ के वशीभूत हो गया।

एक बार उसका मन धन कमाने के लिए अत्यन्त उत्साहित हुआ। उसने गुरुजनों की आज्ञा ली। बड़े-बड़े घोड़े तैयार किये, सवारियाँ सजाईं और कलेवा बाँधकर मित्रों की आज्ञा प्राप्त की। जब सूर्य की दृष्टि वाला चर लग्न आया तब तिथि और नक्षत्र से शुभ चन्द्रमा के बल वाले मुहूर्त में उसने स्नान किया तथा देव- पूजा की। फिर जिस तरफ का नाक का स्वर चलता था उसी तरफ का पैर पहले आगे बढ़ा कर रवाना हुआ। उसके कुटुम्बी पहुँचाने आये। लोभदेव आनन्द के साथ दक्षिण की ओर चला। उसका पिता बोला- "बेटा! तू सब शास्त्र पढ़ा है। तुझे उपदेश देना माणिक्य पर घन का प्रहार करना, सरस्वती को पढ़ाना और मोती को साफ करना है-व्यर्थ है। तो भी ममता के कारण मेरा मन तुझ में मुग्ध हो रहा है। इसलिए कुछ कहता हूँ। सुनो बेटा! परदेश बहुत दूर है। रास्ते में (बीच में) बहुतेरे विषम मार्ग हैं। लोग बड़े मायाचारी होते हैं। स्त्रियाँ दूसरों को ठगने के लिए तैयार रहती हैं। दुर्जन बहुत और सज्जन थोड़े होते हैं। माल की रक्षा करना कठिन है। जवानी में बड़ी जोखिम रहती है। कार्य की गति विचित्र है। इससे तुझे कहीं सर्वथा पण्डित, कही मूर्ख, कहीं दयालु, कहीं निर्दय, किसी समय शूरवीर, कभी कायर बनकर काम निकालना होगा।"

---

८. सदा श्रेष्ठ स्त्री वाले लोग और सदा अपरमदारा वाले मुनि।

९. सदा राग में तत्पर लोग, सदा अराग=वीतराग में तत्पर मुनि।

१०. सदा हार वाले लोग और सत्=अच्छे निर्दोष, आहार वाले मुनि।

पिता के उपदेश वचन सुन लोभदेव मानो आनन्द के क्षीरसागर में मग्न हो गया। दोनों आँखों से हर्ष के आँसू निकल पड़े। कुटुम्बी जन वापस लौटे। लोभदेव निरन्तर प्रयाण करता दक्षिण दिशा की ओर चलता हुआ कुछ समय में सोपारकपुर आ पहुँचा। उस नगर में केवल पतङ्गों में ही उत्पात[११] दिखायी पड़ता था। वक्रता स्त्रियों की भौंहों में ही थी। कम्प ध्वजाओं में ही होता था। वहाँ की प्रजा में इनमें से कोई बात न थी। सोपारकपुर में प्रामाणिक पुरुषों में ही संवाद होता था। विवाह के समय ही कन्याओं के कर का ग्रहण होता था। दही ही मथा जाता था। सुपारी ही काटी जाती थी। प्रजा में ऐसी कोई बात न थी। उस नगर का हम अधिक क्या वर्णन करें? वहाँ निवास करने वाले मुमुक्षु जन संसार का भली-भाँति उच्छेद करने के लिए सद्धर्म और सत्कर्म में ही चित्त को सावधान रखते थे।

उस नगर में विश्व को उल्लसित करने वाले यशोदा[१२] से परिगत श्रीकृष्ण की तरह तथा समस्त मङ्गलोपचार के समूह वाले महादेव की भाँति गणिकाओं का समुदाय और धर्मात्मा लोग सभी को मुग्ध कर लेते थे। उसी नगर में रुद्र नाम के एक जीर्णसेठ रहते थे। वे गुण-गण के आगार थे। लोभदेव ने उन्हीं के घर ठहरकर कुछ काल में घोड़े बेचे और खूब धन कमाया।

इसके अनन्तर लोभदेव का मन घर की ओर जाने को उत्सुक हुआ। उस नगर में कुछ तो वहीं के रईस और कुछ देशान्तर से आये हुए पतित आचरण के वणिक् लोग भी रहते थे। वे सन्ध्या समय एक जगह इकट्ठे जमा होते और परस्पर में प्रीतिपूर्वक वार्तालाप किया करते, खरीद-बेच में आज क्या कमाया है? आज देशान्तर से क्या माल आया है? इस प्रकार वार्तालाप किया करते थे। वे एक दूसरे को गन्धपान, माला आदि दिया करते थे। एक बार लोभदेव उसी गोष्ठी में बैठा था। उस समय एक वणिक् ने पूछा-"क्या कोई ऐसा देश है जहाँ कम कीमती वस्तु से अधिक मूल्यवाली वस्तु प्राप्त होती हो?" वणिक् की बात सुन एक दूसरा वणिक् बोला- "हाँ, मैं दुस्तर समुद्र को पार कर रत्नद्वीप गया था। मैंने वहाँ नीम के पत्ते देकर रत्न लिये थे। इस प्रकार खरीद-

---

११. ऊँचे उड़ना और उपद्रव।

१२. लोकयश और दया से युक्त, और श्रीकृष्ण यशोदा से युक्त ।

बेच कर मैं कुशल-क्षेम से यहाँ आया हूँ।'' यह बात सुनकर लोभदेव ने, जिसका मन लोभ में ही लगा रहता है, घर जाने का विचार छोड़ दिया। उसने और धन कमाने का विचार किया। वह वहाँ से उठकर अपने डेरे पर आया। स्नान-भोजनादि कर चुकने पर रुद्र सेठ के पास वह बात सुना कर बोला- ''हे तात रुद्र! रत्नद्वीप जाने से अत्यधिक लाभ हो सकता है, क्योंकि वहाँ नीम के पत्तों से रत्न मिलते हैं। तो मैं यह व्यापार क्यों न करूँ?'' लोभदेव की बात सुन रुद्र सेठ ने कहा-''हे वत्स! अर्थ और काम की जितनी इच्छा की जाय वह उतना ही बढ़ता जाता है। कहा भी है लाभाल्लोभो हि वर्धते। अतएव जितना धन कमाया है, उसे लेकर अपने देश जा। समुद्र पार करने में अनेक उपद्रव हो सकते हैं। अब अधिक लोभ न कर। इसी द्रव्य का इच्छानुसार उपयोग कर दीन दुःखियों को दान दे, दुःखित अवस्था वाले सम्बन्धियों का उद्धार कर, धन का फल भोग और अधिक कमाने के लोभ रूपी राक्षस का निग्रह कर। सेठजी की बात सुन लोभदेव बोला-

यः कार्ये दुर्गमे धीरः, कार्यारम्भं न मुञ्चति।
वक्षोऽभिसारिकेव श्रीस्तस्य संश्रेयते मुदा।।

अर्थात् कठिन कार्य करने में जो धीर पुरुष कार्य के आरम्भ को नहीं छोड़ता है, लक्ष्मी उसके वक्षःस्थल का अभिसारिका की तरह आश्रय लेती है- निरन्तर परिश्रमी को लक्ष्मी स्वयमेव प्राप्त होती है।

हे पिता जी! प्रारम्भ किये हुए कार्य के निर्वाह करने में ही पुरुष को मन स्थिर रखना चाहिए। अच्छा हो, यदि आप भी मेरे साथ रत्नद्वीप चलें।

सेठ बोले- ''तू अकेला ही जा, मैं नहीं चलता।''

लोभदेव- आप क्यों नहीं चलते? न चलने का क्या कारण है?

रुद्र सेठ- मैं सात बार जहाज में बैठकर समुद्र में घुसा, किन्तु सातों ही बार मेरा जहाज भग्न हो गया। इससे मैं जानता हूँ। कि समुद्र सम्बन्धी द्रव्य मेरे भाग्य में ही नहीं है।

लोभदेव- सूर्य सदा उदयाचल पर चढ़ता है, अपने प्रताप का प्रसार करता है और अस्त भी हो जाता है। तो दूसरों की भी ऐसी अवस्था क्यों न होगी?

अतः अन्य विचारों को अलग कर केवल लक्ष्मी के उपार्जन में सावधान रहना चाहिए। आप मेरे साथ अवश्य रत्नद्वीप चलिए।

रुद्र सेठ- हे वत्स, तू नहीं मानता, तो मैं तुझे बतलाता हूँ सुन। मैं मन्द-भाग्य हूँ। अतएव तू ही इस माल का मालिक बन।

लोभदेव ने यह बात स्वीकार कर ली। जहाज तैयार हुआ। माल खरीदा गया। खलासी नियुक्त हुए? ज्योतिषियों ने यात्रा का मुहूर्त निश्चित किया। मुहूर्त देखे, निमित्त देखे, शकुन देखे, शिष्टों का सन्मान किया, देवों की पूजा की, जहाज के सढ तैयार किये, कूप स्तम्भ-मस्तूल ऊँचा किया, लकड़ी का संचय किया, परिग्रह को स्थापित किया, अनाज आदि खाने-पीने की वस्तुओं से जहाज भरा गया और पानी के बर्तन भी लिये गये। इस प्रकार तैयारी करते-करते प्रयाण का दिन आ पहुँचा। उस दिन दोनों ने हर्षित-चित्त होकर स्नान किया, वस्त्र-आभूषण पहने और फिर परिवार सहित समुद्र किनारे जाकर जहाज में बैठे। जहाज रवाना हुआ। बाजे बजने लगे, झुकान चलाया। जहाज समुद्र में जाने लगा। वायु अनुकूल बहती थी, अतः कुछ ही समय में जहाज रत्नद्वीप पहुँच गया। दोनों आदमी नीचे उतर कर, अच्छी-अच्छी भेंट लेकर राजा के पास गये। राजा के चरण-युगल में भेंट रक्खी। राजा से अच्छा आदर सत्कार पाकर हर्षित चित्त हो दोनों ने क्रय-विक्रय करके खूब धन कमाया। अब दोनों को अपने देश की ओर रवाना होने की उत्कण्ठा हुई। जहाज तैयार कराकर रवाना हुए।

वायु की अनुकूलता से जहाज को शीघ्रता के साथ चलते देख, लोभदेव मन ही मन सोचने लगा-'ओहो, जितना चाहते थे, उससे भी अधिक लाभ हुआ। सारा जहाज रत्नों से भर गया है। किन्तु किनारे लगते ही यह रुद्र सेठ हिस्सादार बन बैठेगा, यह ठीक नहीं।' लोभदेव ने इस प्रकार विचार कर, दाक्षिण्य की परवाह न कर, शरीरचिन्ता के लिए बैठे हुए रुद्र को बड़ी निर्दयता से समुद्र में फेंक दिया। जहाज जब तीन योजन की दूरी पर पहुँच चुका, तो लोभदेव जोर-जोर से चिल्लाकर पुकारने लगा-"अरे, दौड़ो, दौड़ो, मेरा मित्र अनेक मकरों से भयंकर इस दुस्तर समुद्र में पड़ गया।" लोभदेव की पुकार सुन खलासी तथा दूसरे स्वजन समुद्र में देखने लगे। जब रुद्र कहीं दिखाई न

दिया तो पूछने लगे-''कहाँ गिरा है?'' लोभदेव बोला-''यहीं गिरा है। पर मालूम होता है, उसे मगर निगल गया है। अब मैं जीवित रहकर क्या करूँगा? मैं उसके दु:सह वियोग को सहन नहीं कर सकूँगा, अत: प्राणों का त्याग करूँगा?'' यह बात सुन नाविक और स्वजनों ने अच्छी तरह समझाया और जहाज चला दिया।

इधर रुद्र सेठ बड़े भारी मगर के मुख-कुहर(मुखरूपी गुफा) की दाढ़ रूपी करोत का भोग बन गया। वह मर कर अकाम निर्जरा के द्वारा रत्न प्रभा पृथ्वी के प्रारम्भ के, एक हजार योजन में बने हुए व्यन्तर भवन में अल्प समृद्धि वाला राक्षस हुआ। वहाँ पहुँचकर विभंग ज्ञान से अपने शरीर को मगर के द्वारा निगलते हुए जहाज को समुद्र में जाते हुए देखकर राक्षस ने सोचा-'अरे इस पापी लोभदेव ने मुझे समुद्र में पटक दिया। इस दुराचारी का इतना साहस! उसने स्नेह सम्बन्ध को कुछ भी न गिना, चित्त में परोपकार-भाव न धारण किया और न सज्जनता ही निभायी, इस प्रकार विचारते-विचारते राक्षस की कोपाग्नि धधकने लगी। उसने मन ही मन सोचा-'इसका काम तमाम करके, तत्क्षण ही उसके समस्त धन का मैं मालिक बनूँ अथवा ऐसा उपाय करूँ कि यह धन न तो उसका ही रहे न औरों के हाथ लगे।' यह सोचकर राक्षस समुद्र में आ धमका। समुद्र में जहाज को देख कर वह प्रतिकूल उपसर्ग करने लगा। मानो मृत रुद्र श्रेष्ठी को देखने के लिए आई हों ऐसी आकाश में काली-काली मेघ-घटाएँ छा गईं। बादल चारों ओर घूमने लगे, मानो अपनी बिजली रूपी आँखों से रुद्र सेठ को देख रहे हैं, क्योंकि मेघ स्वभाव से ही आर्द्र हृदय वाले होते हैं। इसके अनन्तर जैसे युद्धस्थल में वीर पुरुष तीक्ष्ण बाणों की वर्षा कर देते हैं- वैसे ही अगणित जल धाराओं से मेघ जल की वर्षा करने लगा। मेघों का उदय होने से अखिल विश्व अन्धकारमय जान पड़ने लगा। यह योग्य ही है, क्योंकि संसार में पुत्र पिता के बिलकुल सदृश ही होता है। समुद्र की चञ्चल लहरों और प्रचण्ड वायु-वेग से डगमगाता हुआ प्राणियों के प्राणों को भय उत्पन्न करता हुआ और अनगिनती-क्रय-विक्रय की वस्तुओं से भरा हुआ और समुद्र में चलता हुआ जहाज टूट गया। किन्तु समुद्र में द्वीप की तरह या मरुभूमि (मारवाड़) में पानी की तरह लोभदेव के चोखे प्रारब्ध से एक पटिया उसके हाथ लगा। उसने उसे ही पकड़ लिया। उस पटिया के सहारे-सहारे

लोभदेव एक सप्ताह में तारा द्वीप आ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर वह समुद्र-किनारे के वन के शीतल वायु से क्षणभर में ही सचेत हो गया। समुद्र के किनारे काले-कलूटे शरीर वाले, लाल-लाल आँखों वाले यम के दूत जैसे आदमी रहते थे। उन्होंने लोभदेव को पकड़ लिया। लोभदेव ने पूछा-"तुम लोग मुझे क्यों पकड़ते हो?" वे लोग मायाचार से बोले-"हे भद्र! धीरज धरो। खेद न करो। दुःखी अवस्था में फँसे हुए जहाज के व्यापारियों का आव-आदर करना ही हमारा कर्त्तव्य है।"

इतना कहकर वे यमदूत, लोभदेव को अपने घर ले गये। घर ले जाकर विनयपूर्वक-नम्रता से उन्होंने लोभदेव को आसन पर बिठलाया और स्नान कराया। स्नान के अनन्तर भोजनादि की आवश्यकताएँ पूरी कीं, तब बोले-"हे भद्र! चित्त में विश्वास रखना और भय-भाजन न बनना।" उन लोगों की बात सुनकर लोभदेव मन ही मन सोचने लगा-'ये लोग कैसे निष्कारण वत्सल हैं?' इधर लोभदेव यह सोच ही रहा था कि, उसी समय उन बेरहमों ने उसे खूब कसकर बाँध दिया और शस्त्र के द्वारा मांस-प्रदेश काटकर उसके शरीर में से माँस और रक्त निकाल लिया। रक्त-माँस निकाल चुकने पर औषध लेप कर शरीर को दुरुस्त किया। रहते -रहते छह महीने बीत चुकने पर फिर पहले की तरह शरीर से रक्त और माँस निकालकर शरीर को दुरुस्त कर दिया। बारम्बार इस प्रकार करते रहने से लोभदेव का शरीर केवल अस्थि-पञ्जर रह गया। इस अवस्था में रहते-रहते बारह वर्ष बीत गये। एक समय की बात है। लोभदेव के शरीर में से हाल ही रक्त-माँस निकाला गया था। सारा शरीर लहू से लथपथ था। उसी समय एक भारण्ड पक्षी ने लोभदेव को उठा लिया। पक्षी समुद्र के ऊपर आकाश में उड़ रहा था। वह उड़ ही रहा था कि दूसरे भारण्ड पक्षी से उसका सामना हो गया। दोनों में लड़ाई होने लगी। इस लड़ा-लड़ी में, लोभदेव भारण्ड की चोंच से छूटकर समुद्र में जा गिरा। समुद्र में गिरते ही खारे पानी के कारण बड़ी वेदना होने लगी। जैसे दुर्जन के वचन से सज्जन को होती है। मित्र-मारण के महान् पातक से मलिन मन वाले लोभदेव को समुद्र ने भी अपनी कल्लोलावलि से धक्के देकर बाहर निकाल दिया। वह किसी जगह किनारे पर पहुँचा। वहाँ के शीतल वायु से क्षण मात्र में सचेत हो, समीप के वन में भ्रमण करने लगा। वनभूमि मरकत मणि की पृथ्वी तरह-तरह के

सुगन्ध वाले फूलों से व्याप्त थी। यह हाल देख लोभदेव सोचने लगा-'शास्त्रों में सुना जाता है कि देवता स्वर्ग में रहते हैं। किन्तु वे सुन्दरता और असुन्दरता का भेद नहीं समझते। नहीं तो तीन लोक को आनन्द देने वाले इस स्थान को छोड़कर स्वर्ग में क्यों रहते?' ऐसा सोचकर लोभदेव उसी वट-वृक्ष के नीचे बैठ गया। तीव्र वेदना से दु:खी लोभदेव बहुत देर तक विचारता रहा कि-'ऐसा कौन धर्म होगा, जिसके कारण दिव्य भोगों को भोगने वाले देव स्वर्ग लोक में अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते हैं? और पाप ऐसा कौन है, जिसके निमित्त से नारकी जीव नरक में अत्यन्त ही दु:ख सहन करते हैं। मैंने कौन सा पाप किया होगा, जिससे मैं इस प्रकार के दु:ख का भाजन हुआ हूँ।' इस प्रकार विचार करते-करते लोभदेव के मन में यकायक रुद्रश्रेष्ठी का स्मरण हो आया। स्मरण होते ही मानो तीखे तीर का शल्य हृदय में चुभ गया। उसने सोचा-'अहो, मेरे जीवन को धिक्कार है, मुझ पापी ने द्रव्य के लोभ से सभी का भला करने वाले कलानिधि रुद्रश्रेष्ठी को मार डाला। अब मैं कोई ऐसा कार्य करूँ, जिससे प्रिय मित्र के वध से कलुषित हुए आत्मा को तीर्थस्थान में त्याग कर सभी पाप से छुटकारा पा सकूँ ।' इस प्रकार विचार करते-करते लोभदेव को थोड़ी देर के लिए नींद आ गई। कुछ देर बाद उठने पर किसी और किसी की मधुर वाणी कान में पड़ी। वाणी सुनकर वह मन ही मन सोचने लगा कि 'यह वाणी संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश नहीं है। यह तो चौथी पैशाची भाषा है, इसे सुनना चाहिए।' लोभदेव वह भाषा कान लगा कर सुनने लगा। पिशाच परस्पर में बात-चीत कर रहे थे।

एक ने कहा - पाप का नाश करने के लिए तप करने वाले तपस्वियों को इस उपवन में रहने का स्थान रमणीय है।

दूसरे ने कहा - इसकी अपेक्षा सुमेरु पर्वत और भी सुन्दर है।

तीसरा बोला - सुमेरु की अपेक्षा हिम से जिसका शिलातल शीतल है ऐसा हिमालय पर्वत ही विशेष रमणीय है।

चौथे पिशाच ने कहा - तुम सब को इस प्रकार न बोलना चाहिए। सब पापों को धो डालने के लिए तो गङ्गा नदी ही प्रधान है। एक ने कहा - पाप का नाश करने के लिए तप करने वाले तपस्वियों को इस उपवन में रहने का

स्थान रमणीय है। चौथे पिशाच की बात सुन लोभदेव गङ्गा की तरफ रवाना हुआ। उसने लोभ का त्याग कर दिया। उसे अखण्ड वैराग्य प्राप्त हुआ। हे पुरन्दरदत्त राजन्! वह लोभदेव क्रम से घूमता-घूमता यहाँ आकर बैठा है।

इस प्रकार भगवान् के मुख से अपना वृत्तान्त सुनकर लोभदेव लज्जा, हर्ष और खेद के अधीन होता हुआ श्रीधर्मनन्दन गुरु के चरणों में गिरकर बोला- "जिनके चरण कमल वन्दन करने योग्य हैं, ऐसे हे प्रभु! आपने जो कहा, वह अक्षर-अक्षर से सत्य है। अब मुझे क्या करना चाहिए? सो कहिए।" मुनिराज धर्मनन्दन गुरु ने कहा-"हे वत्स! मित्रवध से लगे हुए पाप-पुञ्ज का क्षय करने के लिए, लोभ रूपी महाराक्षस का अस्पृहा रूपी शास्त्र से विनाश कर डाल तथा विनयावनत होकर तीव्र तपस्या रूपी सरोवर में राजहंस की लीला को धारण कर राजहंस सरीखा बन। क्षमा रूपी कान्ता के सेवन का अभ्यास डाल, कठोर कायोत्सर्ग आचरण कर और पाप-प्रद रजो-गुण की प्रकृति का परित्याग कर। ऐसा करने से तू उस शाश्वत मोक्ष-स्थान को प्राप्त कर सकेगा, जहाँ जन्म जरा मृत्यु आधि व्याधि आदि कुछ नहीं है।"

गुरुदेव की बात सुन लोभदेव बोला- "भगवन्! यदि मैं इस प्रकार के चरित्र के योग्य होऊँ तो दीक्षा देने की कृपा करो।" इतना कह वह गुरु के चरण कमलों में गिर गया और उसकी आँखे आँसुओं से भींज गईं। लोभदेव का लोभ शान्त हुआ समझकर पूज्य श्री धर्मनन्दन गुरु ने उसे दीक्षा दे दी।

।। इति लोभदेव-कथा।।

इसके अनन्तर श्रीधर्मनन्दन सूरि फिर बोले-"हिम-समूह के सदृश उदित महामोह, यश रूपी सुगंध से व्याप्त विवेक रूप कमल का नाश कर देता है। राजन्! जिनेन्द्रों ने इस संसार को सर्व दुःखमय माना है। इस संसार के असली स्वरूप को महामोह से ने हुए प्राणी नहीं जानते हैं। जो मनुष्य मोह रूपी घोड़े से कभी सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, वही अगण्य पुण्य का पात्र और पृथ्वी का अलङ्कार समान होता है। इस महान् दुर्धर मोह राजा ने तीव्र व्रत पालने में धुरन्धर जैन मुनियों को छोड़कर सम्पूर्ण तीन लोक को जीत लिया है। अहो, यह मोह महान् समुद्र सरीखा है, क्योंकि महावंशों से भी उसकी थाह नहीं मिलती। हे राजन्! जिसका मन महामोह से मोहित हो गया है, वह इस पुरुष की तरह गम्यागम्य का विचार नहीं करता, अपनी बहिन के साथ भी संगमन करता है और पिता की भी हत्या कर डालता है।" गुरुराज की बात सुन राजा बोला "स्वामी जी! इस सभा में बहुतेरे आदमी हैं। इनमें से वह कौन है? मैं नहीं जानता।" गुरु महाराज ने कहा- "जो तुझ से दूर और वासवमन्त्री से दाहिनी तरफ लेप्यमय मूर्ति की तरह, कार्याकार्य के विचार से शून्य उपरी दिखाऊ सुन्दर आकृति वाले ठूँठ की तरह बैठा हुआ है, यही वह पुरुष है। मोह से मोहित चित्त वाले इस पुरुष ने जो कुकृत्य किया है, वह सुनो-

मोहदत्त की कथा

जिसमें समस्त कुशल लोग निवास करते हैं, ऐसे गाँवों से शोभायमान कौशल नामक देश है। उसमें कोशला नामकी एक नगरी है। शत्रुओं की सेना उस नगरी का उल्लङ्घन नहीं कर सकती। नगरी के सब घर स्त्रियों के मुख-चन्द्र की चन्द्रिका से खूब धुलकर स्वच्छ हो गये हैं। वहाँ के देवमन्दिरों की गङ्गा नदी में परछाई पड़ती है और वायु से हिलती हुई ध्वजाओं के छोर से मानो देवालय चन्द्रमा के कलङ्क को धो रहे हैं, ऐसी शोभा धारण करते हैं। वहाँ की भावना युक्त समस्त गुणों से सुन्दरी रामाएँ (स्त्रियाँ) एक मात्रा की अधिकता से रमाओं (लक्ष्मियों) का तिरस्कार करती हैं। वहाँ के महलों की सफेद ध्वजाएँ हवा से चलने वाली गङ्गा नदी मानो हजार मार्गों में चलने लगी है।

इस नगरी में क्षत्रियों में मुकुट समान, शुद्ध बुद्धि वाला, दान देने में कुशल और नीतिनिपुण कोशल नाम का राजा राज्य करता है। राजा की सेना के चलने से जो गर्द उड़ती है उससे सूर्य की किरणें भी ढ़ँक जाती हैं। उसके पराक्रम-गुण का वर्णन सर्पराज भी नहीं कर सकते। उसके घोड़ों से खूँदी गयी जमीन से उड़ी हुई धूल के कारण सूर्य की कान्ति भी क्षीण दिखायी देती है। उसके हाथियों के झुंड के अत्यन्त मद झरने से मद की नदियाँ बहती हैं और उनके निःश्वास की तीव्र प्रतिध्वनि से हरेक रास्ते पर मेघ की सी गर्जना हुआ करती है। राजा के प्रयाण करते समय हाथियों वगैरह के निःश्वास के जो शब्द होते थे, वही शब्द शत्रु-राजाओं को भागने के लिए उत्साहित करते थे। राजा के यात्रा करते समय दुर्ग का उल्लङ्घन करते ही निःश्वास के जो शब्द होते थे उनसे

शत्रु राजाओं के कान बहिरे हो जाते थे और उसके सैन्य द्वारा उड़ाई हुई अविच्छिन्न धूल से उनकी आँखें अन्धी हो जाती थीं। उसके विक्रम गुण की प्रशंसा सहस्रजिह्व शेषनाग से भी नहीं हो सकती। उस राजा के एक पुत्र था। उसका नाम था तोसल। वह पण्डितों में मुख्य था। खूबसूरती में इन्द्र के पुत्र जयन्त के समान था, किन्तु अकुलीन[९] न था। शेर के समान पराक्रमी था, किन्तु उसके नखरूप हथियार न थे। सूर्य के समान प्रतापी था, पर कठोर न था। अथक वह चन्द्रमा के समान सर्वत्र आह्लाद सुख देने वाला था, किन्तु कलङ्की न था। इस प्रकार विविध गुणों से विभूषित राजकुमार ने किसी बड़े नगरसेठ की हवेली के झरोके में निकला हुआ, कमल के पत्ते की तरह लम्बे नेत्र वाला किसी बाला का मुख-कमल देखा। वह ऐसा जान पड़ता मानो पूर्णिमा का चाँद मेघ मण्डल में से प्रगट हुआ हो। उस बाला ने साक्षात् कामदेव के समान राजपुत्र को देखा और उसका मन अत्यन्त अनुराग सागर में निमग्न हो गया। उसे देखकर राजकुमार के चित्त को, परस्त्री के देखने से कुपित होकर कामदेव ने अपने पाँचों ही बाणों से वेध कर सौ छेदों वाला कर दिया- राजकुमार के मन में कामदेव अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने लगा। इसके अनन्तर निर्दय कामदेव के प्रहार से मानो अत्यन्त पीड़ित हो, कुमार ने दाहिने हाथ से अपने वक्षःस्थल (छाती) को स्पर्श किया, और बायाँ हाथ नाभि पर रखकर तर्जना अङ्गुली ऊँची की। यह देखकर उस पराधीन बाला ने दाहिने हाथ से तलवार का सा निशान किया। उसकी ऐसी चेष्टा देख राजकुमार अपने महल की ओर जाता जाता विचार करने लगा -'अहो! इस बाला के निर्मल लावण्यवाले मुख ने चन्द्रमा को भी लज्जित कर दिया है। उसने तलवार के चिह्न के बहाने मेरे पेट में छुरी मारी है। उसके मुख चन्द्र के उदय होने से लावण्य सागर उल्लसित हो उठा है। उसकी वाणी अमृत के समान है। उसकी दृष्टि मत्स्य की दृष्टि के समान है। उसके ओष्ठ मूँगा की नांई (लाल) हैं। उसके दाँत मोती सरीखे हैं। उसके दोनों स्तन कछुए की तरह (कठोर) हैं और उसके हाथ बेंत की बेल सदृश हैं। शृङ्गार का सर्वस्व- स्वरूप यह बाला कामदेव की राजधानी और खिले हुए यौवन के कारण लावण्य की बावड़ी है। अहा, इसका रूप सब रूपों को लजाता है। उसके सौभाग्य की रचना कुछ अद्‌भुत ही है। अहा, उसमें कैसी चतुराई है? अहो, उसकी अनुपम लावण्य लक्ष्मी' इत्यादि विचार करता-करता

राजकुमार अपने निवास भवन के समीप आ पहुँचा। इधर वह बाला भी राजकुमार के आँख ओझल होते ही कामदेव के प्रहार से जिसके शरीर के समस्त अवयव शिथिल हो गये हैं, ऐसी होती हुई, अपने छोड़े हुए लम्बे और गर्म नि:श्वासों के धूएँ से शयनगृह की चित्र-विचित्र भीतों को काली करती हुई इधर-उधर लौटने लगी। हरिणी के समान नेत्र और सुकुमार शरीर वाली वह बाला बहुत देर तक अपने इष्ट मित्र की भाँति राजकुमार का मन में स्मरण करती रही। उस विरहिणी को स्वच्छ सुकोमल शय्या में, सुन्दर उद्यान में या स्पृहणीय चन्द्रिका में भी शान्ति न मिली। उसे चन्द्रमा सूर्य समान जान पड़ने लगा। चन्दन रस अग्नि और रात्रि दिन सी मालूम होने लगी। इस प्रकार सभी वस्तुएँ उसे उल्टी ही प्रतीत लगीं। ठीक ही कहा है-

''योगिनां चन्दनाद्यैर्यैः, शीतैः प्रीतिः प्रजायते।
तनुर्ज्वलति तैरेव, सततं विप्रयोगिणाम्।।''

अर्थात्- संयोगी जनों को जिन शीतल चन्दन वगैरह वस्तुओं से प्रीति होती है, वियोगियों को वे ही वस्तुएँ निरन्तर जलन का कारण हो जाती हैं।

एक बार राजकुमार उस हृदयहारिणी बाला के संगम के उपाय रूपी जल से अपने असह्य विरहाग्नि तप्त शरीर को शान्त करने के विचार कर रहा था। इसी समय सूर्य ने अपनी किरणों को चारों और बिखेरते हुए पश्चिमाचल का अवलम्बन किया। चारों ओर अन्धकार फैल गया। कामदेव से पीड़ित राजकुमार ने सोचा- 'बिना दु:ख सहे सुख नहीं मिल सकता।' वह खड़ा हो गया। उसने अपने वस्त्र मजबूत बाँधा, कमल पत्र के समान श्याम और यमराज की जिह्वा की तरह भयङ्कर कटारी कमर में बाँधी, दाहिने हाथ में शत्रुओं का सत्यानाश करने वाला खड्गरत्न धारण किया, कन्धे पर ढाल लटकायी और काले कपड़े से सारा शरीर ढँक लिया। इस प्रकार तैयारी करके वह बाला के घर के पास आया। वहाँ पहुँचकर किसी उपाय से ऊपर चढ़कर उस झरोखे में आया। वहाँ आते ही उसने शय्या पर बैठी हुई मृगनयनी को देखा। जलते हुए स्वच्छ दीपक से उसके अवयव देदीप्यमान हो रहे थे। वह टेढ़ा मुख रखकर सेज पर बैठी थी। कुमार ने जमीन पर ढाल के ऊपर तलवार रखकर दबे पाँवों धीरे-धीरे आकर उस सुनयना के दोनों नयन अपने दोनों हाथों से मूँद लिये। उसे ऐसा

भास होने लगा, जैसे आज रोमाञ्च रूपी कंचुक पहन लिया हो। उसने सोचा- 'आज मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठा है ये हाथ कमलिनी के पत्ते जैसे कोमल लगते हैं। मालूम होता है मेरे अन्तःकरण के सर्वस्व का चोर राजकुमार आया है।' ऐसा विचार कर वह बोली-'' हे सौभाग्य की निधि! मुझे छोड़ दो।'' बाला की यह बात सुनकर कुमार ने हँसते-हँसते हाथ ढीले कर दिये। कुमार को अपने घर आया देख बाला विनय पूर्वक खड़ी हुई और उन्हें बैठने को आसन दिया। कुमार ने आसन पर बैठ कर कहा-''सुन्दरी! मैं तुम्हारा संगमन चाहता हूँ।'' बाला -''आप कहते हैं सो ठीक है। किन्तु उच्चकुल की स्त्रियों के लिए शील की रक्षा करना ही हितकर है।'' बाला की यह बात सुनकर कुमार-''जो तुम ऐसी शीलवती हो तो मैं जाता हूँ।'' इतना कह खड्गरत्न और ढाल उठाकर एकदम खड़ा हो गया। बाला ने कुमार के कपड़े का छोर पकड़कर कहा-''हे भद्र! चोर की तरह मेरा हृदय चुराकर अब क्यों जाते हो? मैं तुम्हें बाहुलता के पाश में बाँधकर कैद करूँगी'' बाला का कथन सुन राजकुमार खड़ा रह गया। वह फिर बोली-''हे राजपुत्र! जो यथार्थ बात है सो पहले सुनिये। फिर जो योग्य जँचे सो करना। इसी कोशला नगरी में नन्दन नाम के एक सेठ रहते हैं। उनके रत्नरेखा नाम की पत्नी है। उसकी कूँख से मैं उत्पन्न हुई हूँ। मेरा नाम सुवर्णदेवी है। मैं अपने माँ-बाप की अत्यन्त प्यारी पुत्री हूँ। मेरे माँ बाप ने मुझे विष्णुदत्त के पुत्र हरिदत्त को पाणिग्रहण के लिये दी है। हरिदत्त मुझे ब्याह कर तुरन्त जहाज में चढ़कर व्यापार के लिए लङ्कापुरी चला गया है। उसे गये आज बारह वर्ष से अधिक बीत चुके हैं। वह जीवित है या मर गया, इसका भी पता नहीं। कामदेव रूपी बड़े-बड़े आवर्त्त (भँवर) और गर्तों से दुस्तर, विषय रूपी मत्स्य और कछुवों से भयङ्कर तथा अत्यन्त गहन, इस यौवन महासागरका निर्दोष उल्लङ्घन करते-करते मेरे इतने दिन बीत गये हैं। विषयों को जीतना कठिन है। इन्द्रियाँ सब चञ्चल हैं। अतः एक दिन मेरे मन में इस प्रकार के संकल्प विकल्पों की लहरें उठने लगी- 'अहो! जरा, मरण, शोक और क्लेशों से भरे हुए इस संसार में प्रिय के संयोग के सिवाय और कुछ सुन्दर नहीं। मेरा जन्म बकरी के गले के थन के समान, अरण्य में खिले हुए मालती पुष्प के समान और बहरे के कान में बातें करने के समान अकारथ हो चला जा रहा है। ऐसा जीना वृथा है।' ऐसा विचार कर मैंने मरने का निश्चय

कर लिया था। फिर यह सोचकर कि आज अन्तिम बार प्राणियों को भलीभाँति देख लूँ, झरोखे में बैठी थी। भवितव्य के योग से उस समय तुम्हीं मेरे दृष्टिगोचर हुए। तुम्हें देखते ही मैं अनुरक्त हो गयी। तुमने अपनी छाती को छूकर अङ्गुली ऊँची उठाई। यह देखकर मैंने सोचा- 'राजपुत्र ने हृदय को स्पर्श करके यह इशारा किया है कि मेरा मन तुझे अत्यन्त चाहता है।' अङ्गुली ऊँची करने पर मैंने अपना हाथ तलवार सरीखा बताकर कहा-यदि तुम तलवार के बल पर आओगे तो संगम होगा। नहीं, तो नहीं। राजपुत्र! तभी से मेरा मन संगम की आशा में उलझा हुआ है। परन्तु आज तक तुम्हारा कुछ भी हाल मालूम न हुआ। इससे मैं ने काँपते हुए आज तो प्राण त्याग करने का निश्चय कर लिया था। इतने में ही तुम आगये। तुम्हारे मिलन से इस समय मेरी चेतना नष्ट सी हो गयी है। गुरुजनों का विनय विनष्ट हो गया है। विवेक रूपी रत्न का अपहरण हो गया है। धर्म का उपदेश बिसर गया है। लेकिन राजपुत्र! यदि मैं तुम्हारे साथ संगम करूँगी तो मैं अपने कुल रूपी मन्दिर में एक दुःशीला कहलाऊँगी। स्वजन मेरा तिरस्कार करेंगे। लोग मुझे कलङ्क लगावेंगे। अब, जो लोकापवाद की उपेक्षा करूँ तो ही मेरा मनोरथ सफल हो सकता है, नहीं तो मरण ही शरण है।'' इतना कहकर सुन्दर दाँत वाली बाला ने कुमार का गाढ़ आलिङ्गन किया, जैसे रात्रि चन्द्रमा का आलिङ्गन करती है। उसने अपनी जवानी प्रीति से सफल की! इसके अनन्तर राजकुमार ने रात भर वहीं रह कर, विरह के समय विनोद करने के लिए अपने नाम की एक मुद्रिका दी।

संध्या के राग से पूर्व दिशा शोभित होने लगी। उसी समय राजकुमार जैसे घुसा था, उसी प्रकार बाहर निकल आया। इसी भाँति उस बाला के पास जाते-जाते आठ महीने बीत गये। इतने में भवितव्य के अनुसार वह गर्भवती हो गयी, उसके गर्भ रह गया। यह समाचार उसकी सखियों ने उसकी माता रत्नरेखा से कहा रत्नरेखा ने यही समाचार नन्दन श्रेष्ठी से कह दिया। सुनते ही सेठजी को क्रोध चढ़ आया। उसने यह समाचार कौशल महाराज से कह सुनाया। राजा ने उत्तर दिया- ''सेठ जी! आप अपने घर जाइये, मैं अभी इसकी तहकीकात करता हूँ।''

राजा की आज्ञा पाकर मन्त्री ने चारों ओर तहकीकात की। तोसलकुमार हाथ न लगा। मन्त्री ने सारी बात राजा से निवेदन की। सुनते ही राजा के होंठ

फड़कने लगे। उसने आज्ञा दी-"मन्त्री! मैं अन्यायी पुत्र को भी क्षमा नहीं कर सकता। उसे शीघ्र ही सजा दो। मन्त्री ने 'हुजूर की आज्ञा प्रमाण है' कहकर किसी दूसरे बहाने राजकुमार को ढूँढ निकाला। वह उसे श्मशान भूमि में ले गया। मन्त्री क्या करने योग्य है, और क्या नहीं, यह बात भली-भाँति जानता था। उसने कुमार से कहा-"कुमार! तुम्हारे दुराचार से महाराज तुम पर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये हैं। तुम्हें मार डालने के लिए मुझे आज्ञा दी है। परन्तु तुम स्वामी के पुत्र हो, अतः स्वामी ही हो। तुम्हें किस प्रकार मारूँ? मैं सदा तुम्हारे वंश का सेवक हूँ। अतएव तुम इस प्रकार भाग जाओ कि तुम्हारी खबर भी यहाँ किसी को न सुनाई पड़े। कहीं भी 'तोसल' नाम से अपना परिचय न देना।

इतना कहकर मन्त्री ने कुमार को चले जाने के लिए कहा। कुमार उसी समय वहाँ से चम्पत हुआ और कितने ही शहरों को पार करता हुआ अन्त में पाटलीपुत्र नगर में पहुँचा। उस समय जयवर्मा नामक राजा वहाँ के राज्य का पालन करता था। कुमार उसी के पास जाकर सेवा करने लगा।

इधर बाला सुवर्णदेवी का दुराचार जान कुटुम्बी तथा दूसरे लोग उसकी निन्दा करने लगे। एक तो निन्दा से, दूसरे कुमार के विरह से उद्विग्न और जनित दुःख के भार से दुःखित बाला विचार करने लगी-'मुझे त्यागकर चले गये राजकुमार कहाँ होंगे?' सुवर्ण इस प्रकार विचार कर ही रही थी, इतने में एक सखी ने कहा-"तेरे अपराध के कारण, राजा की आज्ञा से मन्त्री ने कुमार को मार डाला है।" यह सुनकर सुवर्णदेवी ने गर्भिणी होने के कारण प्राण त्याग तो नहीं किये,पर किसी बहाने आधी रात के समय घर से बाहर निकल गयी। भवितव्यता की बलिहारी, पाटलीपुत्र की ओर कोई संघ जा रहा था, उसी के साथ सुन्दर दाँत वाली सुवर्णदेवी भी चल दी। गर्भ की वेदना से पीडित होती हुई बाला धीरे-धीरे चलती थी। वह उतावली से पैर बढ़ाने में असमर्थ थी। इस कारण वह संघ (सार्थ) से पीछे रह गयी- उससे जुदी हो गयी। क्रम से चलती-चलती वह ताल, हिंताल, तमाल, कदम्ब, जम्बु और जम्बीर वगैरह हजारों वृक्षों के कारण घने वन में जा पहुँची। दिशाओं के विभाग से अजान होने के कारण वन से बाहर निकलने का मार्ग न सूझ पड़ा। प्यास के मारे उस का चित्त चञ्चल हो उठा। भूख से दुःखी हो गयी। मुँह श्याम हो गया। रास्ता

चलने के कारण थक गयी। सिंहों की गर्जना सुनकर प्राण सूखने लगे। बाघ को देखकर हृदय काँपने लगा। वह औंधे रास्ते चलती-चलती इस प्रकार विलाप करने लगी- 'हाय तात! मैं तुम्हें बहुत ही प्यारी थी, तो भी तुमने मेरी रक्षा न की। हे प्रियतम! तुम्हारे लिए क्षणमात्र में ही मैंने शील, कुल, यश, लाज, को सुखी जनों के वस्त्रों के छोर में लगे हुए तिनके की तरह झाड़ू के द्वारा घर से निकाले हुए कचरे की तरह सर्वथा त्याग कर दिया, तो भी मेरी उपेक्षा करते हो?' इस प्रकार विलाप करती हुई सुवर्णदेवी बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ी। इसी समय चन्द्रमा अपनी किरणों को सिकोड़कर पश्चिम समुद्र में डूब गया, मानो उसे मरी हुई समझकर दु:खी हो गया हो, चन्द्रमा के डूबते ही गजेन्द्रों के समूह तथा विन्ध्याचल के शिखर के वृक्षों के समुदाय की नांई श्याम अन्धकार चारों ओर फैल गया। वह शीतल वायु से होश में आयी, मानो वायु ने उस पर दया कर दी हो। इसके अनन्तर उसी भयङ्कर वन में निराश्रय और अकेली सुवर्णदेवी ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। पुत्र-जन्म का हर्ष तो दर किनार, उस भीषण अन्धकार में वह उसका मुँह भी न देख सकी।

सुवर्णदेवी फिर विलाप करने लगी-'हे वत्स! पिता, माता, पति और सम्बन्धियों ने तुझे त्याग दिया है। अब तू ही एक मेरा आश्रय है, तू ही मेरी मति है, तू ही गति है क्योंकि बाल्यावस्था में स्त्रियों का रक्षण पिता करता है, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र रक्षण करता है। स्त्रियाँ कभी बिना नाथ (रक्षक) के नहीं रहतीं।' वह इस प्रकार विलाप कर रही थी कि सूर्य उदयाचल पर्वत पर आया, मानों उसके दुष्ट कष्ट को ही मिटाने आया हो, मानो वर्ण का विनाश करने वाले अन्धकार समूह का सत्तानाश करने के लिए क्रोधित हो गया हो, ऐसा सूर्य लाल सूर्य उदित हुआ। प्रातः काल हो गया। 'अब क्या करना चाहिए? वह यही विचार करने लगी। प्राणों का त्याग तो अनुचित है, ऐसा करने से ये दोनों बालक-बालिकायें भी मर जावेंगे। इसलिए इस समय तो बालक का पालन करना ही ठीक है।' यह सोचकर वह किसी गाँव के पास आ पहुँची। उसने राजकुमार तोसल के नाम वाली अँगूठी बालक के गले में और अपने नाम की बालिका के गले में बाँधी। अपने ओढ़ने के कपड़े में से

दो टुकड़े निकाल कर एक से लड़के और दूसरे से लड़की को लपेटकर दोनों को वहाँ रखकर सुवर्णदेवी शरीर का मल त्याग करने के लिए विन्ध्य पर्वत की तलेटी के झरने के पास गयी। इतने में सद्यः प्रसूत तुरत की व्याही हुई बाघन अपने बच्चों के लिए भोजन की तलाश में घूमती-फिरती नये रुधिर की गन्ध के सहारे वहाँ आ पहुँची। उसने वस्त्र के टुकड़ों में लपेटे हुए दोनों बालकों को उठाया। चलते समय रास्ते में एक ओर बाँधी हुई लड़की बीच ही में खिसक कर गिर पड़ी। बाघन को इसका कुछ पता न लग पाया। होनहार बलवान् है। उसी समय पाटलीपुत्र के राजा जयवर्मा का दूत वहाँ अपनी स्त्री सहित वहाँ आ पहुँचा। उसने लड़की को देखकर उसे उठा ली और अपनी निस्सन्तान पत्नी को सौंप दी। दम्पती उस लड़की को लेकर पाटलीपुत्र आये। वहाँ उसका नाम वनदत्ता रखा गया।

इधर बाघन कुछ आगे चली कि इतने में किसी दूसरे काम के लिए आए हुए महाराज जयवर्म के पुत्र शबरशील ने उसे बाघ समझ बड़े से शस्त्र द्वारा मार डाला। शबरशील उसके पास आया तो क्या देखता है कि मृणाल के समान कोमल काया वाला, लाल कमल समान दोनों पैरों वाला, खिले हुए कमल के समान नेत्र वाला और पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाला एक बालक पड़ा हुआ है। उस बालक को पास के गाँव में ले जाकर प्रसन्न चित्त हो अपनी पत्नी को-'यह तेरा पुत्र है' कहकर सौंप दिया। 'बड़ी दया की' कहकर स्त्री ने बालक को ले लिया। इसके अनन्तर शबरशील ने पुत्र-जन्म के वर्धापन का महोत्सव किया और बारहवें दिन उसका नाम 'व्याघ्रदत्त' रखा। उस समय गाँव भर में खबर फैल गयी। कुछ समय में शबरशील उस लड़के को लेकर पाटलीपुत्र में आया। वहाँ वह बालकों की आदत के अनुसार अन्यान्य राजपुत्रों के साथ क्रीड़ा करने लगा। उसका चित्त महामोह से मोहित हो गया था। अतएव लोगों ने उसका नाम मोहदत्त रख लिया। अनन्तर, मोहदत्त समस्त कलाओं, उम्र और गुणों से धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

इस ओर सुवर्णदेवी शरीर को पवित्र करके आयी, तो बालकों को वहाँ न पाकर बेहोश हो गयी। फिर शीतल वायु उसे होश-हवास में लाया। होश में आकर वह बहुत देर तक विलाप करती रही। फिर स्वयं प्रतिबोध पाकर

वहाँ से आगे चली। आगे बाघन के पैरों के चिह्न देखकर 'मेरे बालकों को बाधन ने खा लिया' यह सोचती हुई किसी गोष्ठ में किसी भीलनी के घर आयी। उसने उसे अपनी लड़की बनाकर रख लिया। कुछ दिन वहाँ ठहरकर फिर गाँव-गाँव भटकती हुई वह भी पाटलीपुत्र आ पहुँची। दैव योग से वह उसी दूत के घर पहुँची। दूत की स्त्री ने उस लड़की को पालन करने के लिए उसे सौंपी। सुवर्णदेवी उसे पहचान तो न सकी, पर यों ही पुत्री की भावना करती हुई उसका पालन करने लगी। लड़की धीरे-धीरे नवीन यौवन से मनोहार लावण्य वाली सौभाग्य की भूमि और चतुरता में धुरन्धर हो गयी।

एक बार मनमोहक और भ्रमर की मधुर गूँज से गुँजायमान वसन्त ऋतु में कामत्रयोदशी के दिन, नगर के बाहर के उद्यान में कामदेव की यात्रा देखने के लिए वनदत्ता अपनी माता और सखियों के साथ गयी। वहाँ वह अपनी इच्छा पूर्वक घूम रही थी कि मोहदत्त की नजर उस पर जा पड़ी। एक दूसरे को देखते ही दोनों एक दूसरे पर अनुरक्त हो गये। परस्पर के दर्शन रूपी जल से स्नेह वृक्ष को सींचते हुए बहुत देर तक दोनों वहीं खड़े रहे। इतने में सुवर्णदेवी ने अपनी पुत्री पर मोहदत्त की गाढ़ी प्रीति देख उससे कहा- "बेटी! यहाँ आये तुझे बहुत समय हो चुका है। तेरे पिता विरह-व्याकुल-चित्त हो गये होंगे। चलो, घर चलो। यदि तुझे कदाचित् कामदेव को देखने का कौतुक हो तो पुत्री, आज का उत्सव हो चुकने पर फिर आकर इच्छानुसार भगवान् कामदेव के दर्शन करना। उस समय उद्यान निर्जन होगा।" इतना कह कर वह वनदत्ता को लेकर उद्यान से बाहर निकली। मोहदत्त ने सोचा-'अहो, इसका मेरे ऊपर बहुत अनुराग है। सुवर्णदेवी के वचन में अवश्य कुछ न कुछ संकेत है।' इस प्रकार सोचता हुआ मोहदत्त भी उद्यान से बाहर हो गया। वनदत्ता को कामदेव रूपी महापिशाच लग गया। वह इसी स्थिति में सिर्फ शरीर से घर आयी, मन से नहीं। उसका मन मोहदत्त में ही लीन था। घर आकर वह विरह रूपी अग्नि की ज्वाला में जलने लगी। वह अशोकवृक्ष के नवीन अङ्कुर की शय्या पर लेटी हुई तीव्र कामज्वर से पीडित होकर कराहने लगी। मृणाल के तन्तुओं को कड़े की तरह कर लिया, कदली-दल को ओढ़ लिया, सारे शरीर पर चन्दन का लेप किया, तो भी मुँह से निकलती हुई गरम साँसों से उसके होंठ सूखने लगे। कला का अभ्यास, फलों का धारण, पान खाना और आभूषणों का त्याग कर

दिया। दिन में चन्द्रमा की कला की भाँति उसका मुख कमल कान्ति- रहित हो गया। पलंग और धरती पर- कहीं भी उसे चैन न पड़ी। दूसरे दिन कामदेव का उत्सव पूरा हो जाने पर वनदत्ता, माता और सखियों के साथ उसी उद्यान के लिए चली। सड़क पर जाते समय राजपुत्र तोसल की नजर उस पर पहुँची। विदेश में रूप, यौवन और सुन्दरता बदल जाने से सुवर्णदेवी उसे पहचान पायी। सिर्फ तोसल को वनदत्ता पर बहुत प्रीति हुई। उसने सोचा-' इस सुन्दर नेत्र वाली कुमारी को धन, पराक्रम या अन्य किसी उपाय से ब्याह लूँ। यह अच्छा हुआ कि वह बाहर के उद्यान की ओर जा रही है। मुझे भी इसी रास्ते से इसी के पीछे-पीछे जाना चाहिए।' तोसल उसी के पीछे जाने लगा। वनदत्ता हथिनी जैसी गति से चलती-चलती बाग में पहुँची। वह वहाँ इधर-उधर घूमने लगी। इतने में अत्यन्त अनुरागी चित्त वाले तोसल ने लोक निन्दा की पर्वाह न कर, लाज का त्याग कर, जीवन की आशा छोड़कर, निर्भय हो तलवार निकाल कर कहा-''भद्रे! यदि तू अपने प्राणों की रक्षा चाहती है तो मेरे साथ क्रीड़ा कर, नहीं तो इस तलवार से तेरा काम तमाम कर दूँगा।'' तोसल की यह लीला देख सखियाँ हाय, हाय, करने लगीं। सुवर्णदेवी चिल्लाकर बोली-''लोगों! दौड़ो जल्दी दौड़ो, व्याघ्र की भाँति यह पापी पुरुष मेरी हरिणी की तरह निरपराध पुत्री के प्राण लिये लेता है।'' पुकार सुनते ही मोहदत्त कदलीगृह में से तुरन्त बाहर निकल का बोला-''अरे दुष्ट! नाम न लेने योग्य!! ए अधम निर्लज्ज!!! तू स्त्रियों पर प्रहार करता है? मैं उसकी रक्षा करूँगा। आजा मेरे सामने'' मोहदत्त की गर्जना सुन तोसल उसके सामने आया। उसने मोहदत्त के ऊपर तलवार का वार किया, किन्तु कुशल मोहदत्त ने उसे बचाकर सामने प्रहार किया। तोसल यमराज का मेहमान बन गया। इसके अनन्तर मोहदत्त वनदत्ता के सम्मुख आया। वनदत्ता ने जीवनदाता समझ उसे अपना प्रेमपात्र बना लिया। पुत्री के प्राण बचे समझ सुवर्णदेवी बहुत प्रसन्न हुई। मोहदत्त बोला-''भद्रे, विश्वास करो, काँपो मत और निर्भय हो जाओ।'' फिर मोहित मोहदत्त गाढ़ आलिङ्गन करके उसके साथ क्रीड़ा करने को उद्यत हो गया। इतने में अकस्मात् ही तेज और मधुर ध्वनि उसके कानों में पड़ी-''अरे! मूढ! अपनी माता को देखते हुए, पिता के प्राण लेकर, बहन के साथ क्रीड़ा करना चाहता है?'' अचानक यह आवाज सुन मोहदत्त चारों ओर देखने लगा। परन्तु कोई

भी दिखाई न दिया। लगातार तीन बार यह ध्वनि सुनाई दी, तो उसे शङ्का पड़ गयी। उसके मन में एक साथ ही क्रोध और कौतूहल हुआ। हाथ में तलवार ले वह बाग के चारों ओर देखने लगा। इतने में एक पूज्य मुनिराज उसे दिखाई पड़े। वे ऐसे मालूम होते थे, मानो धर्म की साक्षात् मूर्ति ही हों। मुनि की आवाज समझ कर वह उनके पास गया और चरणयुगल में नमस्कार कर बोला- ''पूज्य माता के देखते पिता के प्राण लेकर मैं बहन के साथ क्रीड़ा करना चाहता हूँ। सो कैसे? यह मेरा पिता किस प्रकार है? या मेरी माता कैसे? और यह मेरी बहन कैसे लगी?'' मुनिराज ने कोशला नगरी से लेकर तोसल की मृत्यु तक सारा हाल कह सुनाया। फिर कहा-''प्रथम तो तू ने अपने पिता को मार डाला, यह एक कुकार्य किया, और दूसरा यह कि अब बहन के साथ विषय-सुख भोगने की चाह करता है, महामोह की लीला को सर्वथा धिक्कार है।'' यह वृत्तान्त सुनकर सुवर्णदेवी और वनदत्ता ने नीचा मुँह कर लिया। मोहदत्त भी कामभोग से विरक्त हो गया और शरीर को सर्वथा अपवित्र समझने लगा। उसे प्रबल वैराग्य हो आया। वह बोला- ''मुनिराज! अनन्त दुःखों रूपी वृक्षों की जड़ अज्ञान ही है। अज्ञान ही दुःख है और यही भय है। हे पूज्य! मुझ अभागे को अब क्या करना चाहिए? सो कृपा करके आप बताइये, जिससे समस्त पाप जड़ मूल से नष्ट हो जाये।''

भगवान् बोले- ''मित्र पुत्र कलत्र(स्त्री) वगैरह सब का त्याग कर, संसार में मूर्तिमान् नौका के समान दीक्षा का आश्रय लो।''

मोहदत्त- तो मुझे दीक्षा दीजिये।

मुनिराज- मैं चारण मुनि हूँ। गच्छ की (प्रतिबन्ध) आज्ञा में नहीं रहता। अतः मैं तुझे दीक्षा नहीं दे सकता हूँ। मैं महान् तीर्थ शत्रुञ्जय की ओर आकाश के रास्ते जा रहा था। शत्रुञ्जय पर्वत अठारह योजन शिखर पर और मूल में पचास योजन विस्तार वाला है। ऐसा शास्त्र के ज्ञाता कहते हैं। उस पर्वत पर तीन लोक को पवित्र करने वाले भगवान् ऋषभदेव स्वयं रहे थे। अतः वह पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है। उस पर्वत पर विराजमान श्री ऋषभ देव के दर्शन जब तक प्राणी नहीं करता, तब तक ही उसके कर्म प्रबल रहते हैं। उस पर्वत से, कर्म रूपी हाथियों के दलन करने में सिंह के समान श्री

पुण्डरीक महामुनि ने पाँच करोड़ मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया है। उसी पर्वत से नमि और विनमि नामक विद्याधर राजाओं ने दो करोड़ मुनियों के साथ परम पद पाया है। श्रीराम, भरत और बालखिल्य आदि दस करोड़ मुनियों के साथ और नारद, पाँचों पाण्डव तथा और-और अनेक मुनिराज वहीं से सर्व दु:खों का नाश करने वाले मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। जिस स्थान से एक भी जीव मोक्ष प्राप्त करता है, वह संसार में उत्तम तीर्थ कहलाता है। तो जहाँ से करोड़ों मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया, उस शत्रुञ्जय के विषय में कहना ही क्या है? उस पर्वत के वृक्ष अपने सुन्दर फूलों के बहाने से दूसरे पर्वतों की हँसी उड़ाते हैं, क्योंकि उन्हें जिनेश्वर के चरण छूने को नहीं मिलते। वह पर्वत अपने स्फुरायमाण झरनों के कल-कल शब्द से कहता है- ''मनुष्यों! मुझे छोड़कर दूसरे तीर्थों में क्यों भटकते फिरते हो?'' जो व्यक्ति सब शङ्काओं का त्याग कर समस्त इच्छाओं से युक्त होकर इस तीर्थ की सेवा करता है, अपने-आप मोक्ष को पा लेता है।

इस प्रकार के परम पवित्र शत्रुञ्जय महातीर्थ की ओर जाते हुए मैंने अवधिज्ञान से तुझे अपने पिता का घातक जानकर सोचा-'इसने एक अकार्य तो कर ही डाला है, परन्तु दूसरे अकार्य करने से पहले ही इसे प्रतिबोध करूँ, क्योंकि यह भव्य प्राणी है, केवल मोह के कारण इसका मन मूढ़ हो गया है, इसीसे इसने यह अकार्य कर डाला है। जो स्वयंभूरमण समुद्र को भी अपनी भुजाओं से लीला-मात्र में पार कर सकते हैं, जो एक ही भुजा से पर्वत सहित सम्पूर्ण पृथ्वी को छाते की भाँति सहज ही ऊपर उठा सकते हैं और जो एक लाख योजन प्रमाण वाले-ऊँचे सुमेरु पर्वत को, उसके दण्ड की जगह स्थापन करने में समर्थ हैं, ऐसे तीन लोक में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर भगवान् भी कर्म के अधीन होते हैं, तो बेचारे मोहदत्त की क्या बिसात है?' ऐसा विचार कर मैं नीचे उतरा और तुझे प्रतिबोध दिया है। मोहदत्त बोला- ''भगवान् तो मुझे दीक्षा कैसे प्राप्त होगी?''

मुनिराज- तू कौशाम्बी नगरी की दक्षिण दिशा में जा। वहाँ पहुँच कर पुरन्दर राजा के उद्यान में ठहरे हुए मुनियों में श्रेष्ठ श्री धर्मनन्दन आचार्य के पास तुझे जाना है। वे गच्छ के स्वामी हैं। तेरा हाल स्वयं जान कर तुझे वे दीक्षा देंगे।

इतना कहकर चारणमुनि कमल के पत्ते के समान आकाश में विलीन हो गये। हे पुरन्दरदत्त राजन्! इसके अनन्तर यही मोहदत्त चारणमुनि की आज्ञा मान कर गृहस्थी छोड़ कर मुझे ढूँढता-ढूँढता यहाँ आया है।

गुरु के मुख से, इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुनकर मोहदत्त बोला-"हे भगवन्! आपने जो कहा, सब सत्य है, जरा भी असत्य नहीं। कृपा करके अब मुझे दीक्षा दीजिये।" मोहदत्त की प्रार्थना सुन अत्यन्त गौरवास्पद श्रीधर्मनन्दन गुरु ने, मोह के दूर हो जाने से अत्यन्त निर्मल चित्त-वृत्ति वाले मोहदत्त को समस्त सुख और सिद्धि मूल जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्रतिपादित दीक्षा से दीक्षित किया। श्री धर्मनन्दन गुरु फिर बोले-"हे मन्त्रियों में मुख्य वासव! तुमने यह प्रश्न किया था कि चार गति रूप संसार के प्रथम कारण क्या हैं? उसका उत्तर यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह ये पाँच महामल्ल ही संसार के कारण हैं। ये ही जीव को दुर्गति में ले जाकर पटकते हैं, ऐसा समझना।"

।। इति द्वितीयः प्रस्तावः।।

तृतीय प्रस्ताव

अत्यन्त आनन्द दायक कुन्दलता के लिए मेघ के समान श्री धर्मनन्दन गुरु के मुख से कषायों के फल को बताने वाली देशना रूपी वचनामृत का प्यासे की तरह पान करके राजा पुरन्दरदत्त प्रसन्नचित्त से सभा से उठे और अपने घर रवाना हो गये। सूर्य अस्ताचल के शिखर पर जा पहुँचा। राजा ने शाम के कार्य विधिपूर्वक करके विचारा-'वसन्त ऋतु के इस महोत्सव में वे मुनि क्या करते होंगे? वे जैसा कहते हैं, उसी प्रकार चलते हैं या नहीं? देखना चाहिए।' इस प्रकार विचार कर राजा, जब चारों ओर अन्धकार फैल गया तब गुप्त रीति से कमर में कटार बाँध कर और हाथ में तलवार लेकर अकेला महल से निकला। रास्ते चलते गली-कूँचों में स्त्री-पुरुषों के द्वन्द्व की और दूती तथा अभिसारिकाओं की आपसी संकेत की बातें सुनता-सुनता राजा चला जा रहा था। थोड़ा आगे जाने पर चौपड़ में उसे एक कृशकाय प्रतिभाधारी मुनि दिखाई दिये। वहाँ गाढ़ अन्धकार छाया हुआ था। एक बैल उनके शरीर से अपना शरीर रगड़ रहा था। दावानल से जले हुए ठूँठ की भाँति विरूप और मन्दर पर्वत की तरह निश्चल मुनिराज को देख राजा सोचने लगा-'दिन में यहाँ कोई स्तम्भ तो था नहीं, तो क्या इस रूप में धर्मनन्दन मुनि के शिष्य कोई साधु हैं? या कोई दुष्ट पुरुष इस प्रकार खड़ा हुआ है? परीक्षा करनी चाहिए।' ऐसा विचार राजा "मारो मारो" चिल्लाकर तलवार खींच कर उनके पास गया। तो भी वे न घबराये। अब उसे निश्चित होगया कि मुनि ही हैं। उसने स्तुति करते हुए तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और आगे बढ़ा। आगे बढ़ने पर नगर का दुर्लङ्घ्य किला मिला। बिजली की तरह राजा उसे लाँघ गया। इसके अनन्तर चलता-चलता राजा उद्यान के पास सिन्दूर वाले कुट्टिम (फर्श) के पास आ पहुँचा। राजा को

वहाँ श्रीधर्मनन्दन गुरु के साधु दिखायी दीख पड़े। उनमें से कितने ही मधुर स्वर से स्वाध्याय कर रहे थे, कोई धर्मशास्त्र का पाठ करते थे, कोई पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान में लीन थे, कोई गुरु के चरणकमलों की सेवा कर रहे थे और कोई-कोई अपनी क्रियाओं में तत्पर थे। उन्हें देखकर राजा विचार करने लगा-'सचमुच, ये जैसा कहते थे, वैसे ही चलते हैं। अब देखना चाहिए आचार्य भगवान् कहाँ हैं और स्वयं क्या कर रहे हैं?' ऐसा विचार कर इधर उधर देखा तो वे, उन पाँचों मुनियों को, जो उसी दिन दीक्षित हुए थे, धर्मोपदेश करते सुनाई दिये। वह, यह सोच कर कि आचार्य उनसे क्या बातें कर रहे हैं? तमाल वृक्ष के नीचे बैठकर गुरु की बातें सुनने लगा।

गुरु बोले- ''हे देवों के प्यारे साधुओं! यह जीव अनन्त काल तक पृथ्वी जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय में कष्ट सहकर भ्रमण करता द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियपना पाता है। फिर तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय होता है, तब कहीं महान् दुर्लभ इस मनुष्यजन्म को पाता है। उसमें भी आर्यदेश, उत्तम जाति, उत्तम कुल, सब इन्द्रियों की सम्पूर्णता, नीरोगता, लम्बी आयु, अच्छा मन की वासना, सद्गुरु का योग और उनके वचनों का सुनना, ये सब उत्तरोत्तर महादुर्लभ हैं। इन सब के प्राप्त हो जाने पर भी जिनेश्वर भगवान् का कहा हुआ बोधिरत्न पाना बड़ा कठिन है। बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करके भी धर्म के फल में संदेह करके, दूसरे-दूसरे धर्मों की अभिलाषा करके, कुतीर्थियों की प्रशंसा करके या उनके परिचय से चार कषाय और पाँच विषयों में मोहित बहुत से जीव उसे वृथा खो देते हैं। कितने जीव ज्ञान ही को प्रधान मान कर लँगड़े आदमी की तरह क्रिया से रहित हो जाते हैं, और कोई-कोई क्रिया को ही कल्याणकारिणी समझकर अँधे की तरह ज्ञान का आदर नहीं करते। इसलिए दोनों ही प्रकार के जीव मोहित होने के कारण संसार रूपी दावानल में गिरकर नष्ट हो जाते हैं।''

इस प्रकार गुरु कह रहे थे, तब राजा ने विचारा-'गुरु जो कह रहे हैं, सब सत्य है। किन्तु यह दुर्लभ राज्य, स्त्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख और परिजनों से मिलने वाला आनन्द भोग कर मैं बाद में धर्म का आचरण करूँगा।' इस प्रकार विचार करने वाले राजा के मन के विचार गुरु ने अपने ज्ञान से

जानकर, उन्हीं साधुओं को उद्देश करके कहा-'इस लोक में राज्य और स्त्री आदि का सुख अनित्य और तुच्छ है, तथा मोक्ष से होने वाला सुख अनन्त, अक्षय और अव्याहत है। इस विषय में एक उदाहरण देता हूँ। सुनो-

सब नगरों में श्रेष्ठ पाटलीपुत्र नाम का नगर है। उसमें एक धनकुबेर 'धन' नाम का श्रेष्ठी रहता है। एक बार वह जहाज में बैठकर रत्नद्वीप की ओर रवाना हुआ। वह समुद्र में जा रहा था कि इतने में प्रचण्ड वायु चलने लगा। समुद्र की कल्लोलों आकाश तक उछलती हुई समुद्र की तरङ्गों से इधर उधर भटकता हुआ जहाज अन्त में टूट गया। उस समय जैसे भूखे को आहार मिल जाय, ठण्ड से सिकुड़े हुए को अग्नि मिल जाय, प्यासे को पानी मिल जाए उसी प्रकार धन श्रेष्ठी को एक पटिया मिल गया। उसीके सहारे धन सात दिनों में कडुवे फल वाले सैंकड़ों वृक्षों से व्याप्त कुडङ्ग नामक द्वीप में पहुँचा। वह द्वीप संसार की तरह अपार और विष के समान विषम था। धन इधर उधर घूम रहा था कि उसे दूसरा मनुष्य दिखाई दिया। जैसे भव्य प्राणी जैनधर्म को पाकर हर्षित होता है, उसी प्रकार हर्षित मुख वाले धन ने स्वच्छ अन्तःकरण पूर्वक उससे पूछा-"भाई! तुम कहाँ के रहने वाले हो? किस कारण से इस द्वीप में आये हो?"

धन की बात सुन वह बोला-"मैं सुवर्ण द्वीप की ओर जा रहा था। उसी समय पूर्व जन्म में कमाये हुए पापों के समान वायु ने अनगिनती वस्तुओं से भरा हुआ मेरा जहाज तत्काल तोड़-फोड़ डाला। एक पाटिया मेरे हाथ आगया था। उसी के सहारे मैं इस कुडङ्गद्वीप में आ पहुँचा हूँ।" उसका वृत्तान्त सुन धन ने भी अपनी आत्मा-कथा कह सुनाई और बोला-"हम दोनों एक से दुःखी हैं,चलो साथ-साथ घूमें।"

दोनों साथ-साथ भ्रमण करने लगे। किसी समय उन्हें एक तीसरा आदमी मिला। उसे देखकर उन्होंने पूछा-"भाई! तुम किस नगर से यहाँ आये हो?" वह बोला-"लङ्कापुरी की ओर जा रहा था। रास्ते में मेरा जहाज टूट गया और मैं एक पाटिये के आसरे यहाँ आ गया हूँ।" यह सुनकर दोनों बोले- "बहुत ठीक। हम तीनों ही एक से दुःखिया हैं, अतः अपनी अत्यन्त मित्रता हुई।" इसके अनन्तर तीनों ने जहाज भग्न होने का निशान बनाया। एक वल्कल लेकर

एक पेड़ से बाँध दिया। इतना काम करके भूख-प्यास के मारे तीनों इधर उधर सर्वत्र घूमने लगे। किन्तु खाने योग्य फलों वाला कोई भी वृक्ष उन्हें कहीं न दिखाई दिया। इस प्रकार सारे द्वीप में इच्छानुसार भटकने वाले और सैकड़ों दुःखों से व्याकुल उन लोगों ने बड़ी कठिनाई से तीन कुडङ्ग ऐसे पाये, जो घर सरीखे बने हुए थे। तीनों मित्र एक-एक कुडङ्ग में ठहरे। उन कुडङ्गों में एक-एक ऊमर (गूलर) का झाड़ था। उसे देखकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वे आपस में एक दूसरे को कहने लगे-"ओहो! हमें जो चाहिए था, वह मिल गया। इन वृक्षों को देखते ही चित्त स्वस्थ हो गया।" अब तीनों कुडङ्गों में घुसकर गूलर के फलों को देखने लगे, परन्तु एक भी फल न दिखाई दिया। इससे फिर तीनों की आशा पर पानी फिर गया- उनके मन अत्यन्त दुःखी हो गये। कुछ दिन बीत जाने पर जैसे-तैसे गूलर वृक्ष फलों से लद गये। कौआ आदि पक्षियों के उपद्रव से तीनों उसकी रक्षा करने लगे।

इधर समुद्र में कोई सांयात्रिक जहाज से व्यापार करने वाला जा रहा था। उस दयालु ने जहाज टूटने का चिह्न देखकर दो आदमियों को भेजा। वे दोनों आकर उस द्वीप में सर्वत्र आदमियों को खोजने लगे। इतने गूलर के फलों में जीवन की आशा लगाये हुए तीनों मित्र कुडङ्गों में नजर आये। उन्हें देखकर दोनों ने कहा-"हम लोगों को एक जहाज के व्यापारी ने तुम तीनों को ले आने के लिए भेजा है। अत्यन्त दुःख और शीत वाले इस द्वीप में तुम किस प्रकार रह सके हो?" यह बात सुनकर तीनों में से एक बोला-"इस द्वीप में दुःख ही क्या है? घर की तरह यहाँ कुडङ्ग है। यह गूलर का वृक्ष फल गया है, फिर भी इसी प्रकार फलेगा। मैं तो यहाँ बड़े मजे में हूँ। मैं तो किसी प्रकार जाने को राजी नहीं हूँ।" इसका यह रूखा उत्तर पाकर उन्होंने दूसरे से कहा- "तुम मेरे साथ सामने किनारे पर चलो" वह बोला- "मैं गूलर का एक पका फल खाकर बाद में किसी दूसरे नाविक के साथ आऊँगा।" उसका भी उत्तर पाकर वे दोनों तीसरे आदमी के पास पहुँचे उन्होंने तीसरे से कहा-"भले आदमी यहाँ रह कर क्या करेगा? सामने किनारे (जहाज के पास) चल।" उसने कहा-"तुम आ गये, बहुत अच्छा हुआ"। इतना कहकर वह बड़े प्रेम से उनके साथ चल दिया और जहाज पर सवार हो गया। कुछ दिनों के बाद

जहाज ठिकाने पर आ गया। वह अपने पुत्र मित्र, कलत्र(स्त्री), धन, धान्यादि के साथ चैन से रहने लगा।

साधुओं! इस दृष्टान्त का उपनय सुनो- अभी जो महान् दुस्तर समुद्र कहा उसे महा घोर संसार समझो। कुडङ्ग द्वीप को मनुष्य भव समझो। उस द्वीप में जो कुडङ्ग बताये गये हैं, उन्हें घर समझो। उनमें रहने वाले तीन पुरुषों के स्थान पर संसार में रहने वाले तीन प्रकार के मनुष्य समझो। गूलर के वृक्षों को दीर्घ नेत्र वाली स्त्री समझो। उन वृक्षों में जो फल कहे गये हैं, उन्हें बाल-बच्चे समझो। वृथा आशा-पाश में फँसे हुए मूर्ख जीव दरिद्रता दुःख और रोग के समूह रूप कौओं से निरन्तर वृक्ष रूप स्त्रियों का रक्षण सेवन करते हैं। गृहस्थी के अनेक उलझनों में जिसका मन सदा उलझा रहता है, वह मूर्ख जीव परलोक में जो आत्मा का हित करने वाला है, उसे भूल जाता है। इस दृष्टान्त में जो जहाज का व्यापारी बताया गया है, उसे गुरु समझना। उसने जो दो भेजे, उन्हें साधु और श्रावक के धर्म समझना। संसार के दुःख सन्ताप से सन्तप्त जीवों को जो पार लगा देता है, वही महासत्त्ववान् और समस्त तत्त्वों का ज्ञाता आप्त पुरुष है। यह मनुष्य जन्म निन्दनीय और अनेक प्रकार शोच करने योग्य है। इसलिए इसे (गिरस्ती को) त्याग कर मोक्ष का सेवन कर'' मुनीश्वर समस्त जीवों को इस प्रकार उपदेश देते हैं। उपदेश सुनने वाले तीन प्रकार के जीवों में पहला अभव्य जीव है। वह कहता है- ''इस मनुष्य भव में क्या दुःख है? मोक्ष में क्या अधिक पड़ा है? भई! मुझे तो मोक्ष में नहीं जाना।'' दूसरा पुरुष दूर भव्य है। वह कहता है- ''हे मुनिराज! मैं पुत्र, मित्र कलत्र की ममता का त्याग करने में समर्थ नहीं हूँ।'' तीसरा प्राणी भव्य है। वह सद्धर्म देशना सुन कर बोलता है-''दुःख पीड़ा से महाभयङ्कर इस मनुष्य लोक में कौन रहे? सात अङ्गों से शोभित राज्य और सुन्दर सन्तान तो प्रत्येक भव में मिलती है, परन्तु जिनेश्वर की दीक्षा कब मिलती है? नाना प्रकार के दुःख देने वाले इस मनुष्य लोक को मैं हाथ जोड़ता हूँ। मैं तो मोक्ष लक्ष्मी के लिए ही उद्यम करूँगा।''

इस प्रकार एक कथा कहकर श्री धर्मनन्दन आचार्य फिर बोले-''हे वत्सों! अब व्रत सम्बन्धी दृष्टान्त कहता हूँ। सुनो-

(व्रतदृष्टान्त)

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पृथ्वी का अलङ्कार स्वरूप मगध नाम का देश है। उसमें एक राजगृह नगर है। वह प्रसिद्धि रूपी लक्ष्मी का अनन्य आश्रय है- सब से अधिक विख्यात है, और चलते-फिरते पर्वतों से सुन्दर जान पड़ता है। वहाँ के राजा का नाम परन्तप है। उसकी कीर्ति चौ-तरफ फैली हुई है। वह राजा अपने निरन्तर (सर्वत्र व्याप्त) प्रताप से सूर्य के समान है, लक्ष्मी से कुबेर के समान है और बुद्धि में बृहस्पति के समान है। वह श्री वीतराग भगवान् के चरणकमलों में भ्रमर के समान, सम्यक्त्व का धारी और वैरी रूपी वृक्षों को अपने प्रताप के द्वारा सोखने वाला है। नमन करते समय वश में किये हुए अनेक राजाओं के मुकुटों में शोभायमान मणियों की किरणों से उसका सिंहासन अर्चित होता था। जैसे सिंह अपने तीखे नाखूनों से लाखों हाथियों का विदारण करता है, उसी प्रकार उस राजा(परन्तप) ने अपने तीखे तीरों से लाखों शत्रुओं का विदारण किया था। उसके अनेक स्त्रियाँ थीं। उनमें से गुणश्री से श्रेष्ठ और चन्द्रमा के समान मनोहर मुख वाली शशिकान्ता नाम की पटरानी थी।

उस राजगृह नगर में महाचतुर, निर्मल बुद्धि वाला, समस्त श्रेष्ठियों में उत्तम और अपने सद्गुणों के द्वारा पुण्य पुञ्ज का पात्र स्वरूप धन नाम का सेठ रहता था। उसकी धारिणी नाम की प्रिया थी। वह रूप लावण्य में रम्भा अप्सरा जैसी सुन्दर थी। वह मानो सदाचार की स्वामिनी हो, इस प्रकार लोगों को आनन्द देने वाली थी। उस सेठ के चार पुत्र थे-धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारों पुत्रों को सेठ ने उपाध्याय के पास पढ़ने भेजा। वे कुछ ही दिनों में सब विद्याओं में प्रवीण हो गये। धीरे-धीरे चारों पुत्र कामदेव के उद्यान के समान शृङ्गार रूपी वृक्ष के जीवन के समान और संसार के नेत्रों को आनन्ददायक युवावस्था में आये। युवावस्था आने पर उसी राजगृह नगर के समान सम्पत्तिशाली सेठों की सुन्दरी कन्याओं के साथ उनके विवाह धन सेठ ने कर दिये। पहले पुत्र की स्त्री का नाम उज्झिका था। दूसरे की स्त्री का भक्षिका, तीसरे की स्त्री का रक्षिका और चौथे की स्त्री का नाम रोहिणी था। देवों की तरह उन स्त्रियों के साथ विषय सुख भोगते-भोगते बहुत समय बीत गया पर उन्हें इसका पता ही न लगा। एक बार धन सेठ रात के पिछले पहर

में जाग उठा। उस समय पहले धर्मध्यान करके वह गृहचिन्ता करने लगा- 'तरह-तरह की वस्तुओं से भरे हुए घर का संचालक यद्यपि पुरुष है, तथापि उसका निर्वाह स्त्रियों से ही होता है। पुत्र पौत्र(पोते) बहू और नौकर चाकरों से भले ही घर भरा हो, परन्तु पत्नी रहित घर गृहस्थ को सूना ही जान पड़ता है। जो स्त्री अपने पति के जीम चुकने पर जीमती है, सोने के बाद सोती है, और जागने से पहले ही जाग उठती है, वह गृहिणी, गृहिणी नहीं साक्षात् लक्ष्मी है। जो घर के समस्त मनुष्यों और पशुओं की सार सँभाल रखती है, सब की योग्यता है वह गृहिणी के बहाने लक्ष्मी ही है। तो, इन चारों बहुओं में से हमारे घर का बोझ उठा सके, ऐसी कौन बहू है? इस बात का निर्णय करना उचित है।' इस प्रकार विचार करके प्रातःकाल होते ही धन सेठ उठे और प्रातःकालीन क्रियाएं कीं। फिर भोजन बनाने की विधि में निपुण रसोइयों से बहुत सी भोजन-सामग्री तैयार कराई। उसने चारों बहुओं के पिताओं (अपने समाधियों) को तथा नगरवासियों को निमन्त्रित करके आदर के साथ सबको भोजन कराया, भोजन हो चुकने पर सब सम्बन्धियों को आसन पर बिठलाया और पान-सुपारी, फूलमाला, वस्त्र चन्दनादि से उनका सत्कार किया। इसके अनन्तर उन सब के सामने बड़ी बहू उज्झिका को बुलाया और पाँच धान के अखण्ड दाने देकर कहा- ''ये दानें मैं जब माँगू- तब दे देना'' धान के दाने लेकर उज्झिका ने एकान्त में विचार किया-'मालूम होता है बुढ़ापे के कारण ससुर सठिया गया है। उसने पहले तो इतना बड़ा उत्सव किया, और उसी में मुझे बुलाकर पाँच चावल के दाने पकड़ा दिये। इन दानों को सम्हाल कर रख कर क्या करना है? जब वह माँगेगा, घर में से निकाल दूसरे पाँच दाने दे दूँगी।' यह सोचकर उसने वे दानें फैंक दिये। इधर धन सेठ ने दूसरी बहू को बुलाकर पाँच दाने उसे भी दिये। उन्हें लेकर वह (भक्षिका) एकान्त में सोचने लगी-'किसी कारण से ससुर की अक्ल मारी गयी है, क्योंकि उसने बेमौके ही इतना धन वृथा उड़ा दिया और सबके सामने बुलाकर मुझे ये पाँच दानें दिये हैं। लेकिन श्वसुर के दिये हुए इन दानों को फैंके भी कैसे?' ऐसा सोचकर उसने धान के छिलके उतारे और फौरन ही मुँह में रख लिये- खा गयी। धन सेठ ने तीसरी बहू को भी बुलाया और उसे भी वही पाँच दानें दे दिये उसने भी एकान्त में जाकर सोचा-'मैं समझती हूँ- शायद इन दानों से कोई विशेष कार्य होगा। अतः किसी

प्रकार यत्न से इन्हें सम्हाले रखना चाहिए। जब श्वसुर माँगेंगे, तब दे दूँगी। ऐसा विचार कर उसने वे दानें अपने गहनों की डिबिया में साफ कपड़े में बाँधकर रख छोड़े। वह उन दानों को देवता की तरह तीनों समय सँभालती थी।

इसके अनन्तर सेठ ने चौथी रोहिणी बहू को बुलाया। उसके हाथ में भी धान के पाँच कण(दानें) देकर उसने कहा "पुत्री! जब तुझसे ये दानें माँगू तब मुझे ये दे देना।" दानों को ले एकान्त में जा बुद्धिमती रोहिणी ने सोचा- 'मेरे ससुर बहुत ही चतुर हैं, वे बुद्धि में वाचस्पति जैसे हैं, महाजनों में मुखिया हैं और नाना प्रकार के शास्त्रों में प्रवीण हैं। इसलिए उनके दिये हुए इन पाँच दानों की वृद्धि करनी चाहिए।' उसने मन में ऐसा विचार कर वे पाँचों दाने अपने पिता के घर भेज दिये। अपने भाइयों को भी उसने कहला भेजा कि इन कणों को अपने शालिकणों की तरह प्रतिवर्ष बरसात आने पर किसानों द्वारा जुदा बुनाकर इनके बढ़ाने को यत्न करना। जब वर्षाऋतु आई तो रोहिणी के भाइयों ने उसके कहलाने से उन दानों को जल की किनारे बो दिया। वे शालि कण उगे, स्तम्ब रूप हुए और शालिकणों से शोभा पाने लगे। जब उनमें से दाने निकाले गये तो एक प्रस्थ दाने निकले। दूसरे वर्ष में उन सब को बो दिया तो कितने ही आढ़क प्रमाण हो गये। चौथे वर्ष में सौ खारी प्रमाण हुए और पाँचवें वर्ष एक लाख पल्य।

पाँच वर्ष बीत गये। धन श्रेष्ठी ने एक दिन फिर पहले जैसा महान् उत्सव मनाने के लिए सर्व सम्बन्धियों को निमन्त्रण दिया। बाद में सब से बड़ी बहू उज्झिका को बुलाकर सेठजी बोले-"वत्से! मैंने उस दिन पाँच शालि के दाने दिये थे वे वापस दो।" इतना सुनकर वह तुरन्त घर में गयी और शालि के पाँच दाने लाकर सेठजी के हाथ में रख दिये। दाने लेकर अपनी सौगन्ध दिलाकर सबके सामने उसने बहू से पूछा-"वत्से! सच बताओ ये वही शालिकण हैं या दूसरे? वह बोली- "पिताजी! वे कण तो मैं ने फेंक दिये थे।" यह सुनकर सेठजी ने सब के सामने स्पष्ट कहा-"आप लोग कहेंगे कि धनसेठ ने यह अच्छा नहीं किया, पर इस दुष्ट बहू ने मेरे दिये हुए शालिकण फेंक दिये हैं, पर उसका फल मैं इसे अवश्य चखाऊँगा" इतना कहकर उसने आज्ञा दी कि उज्झिका आज से छगणादि परित्याग करे। इसके बाद उसने दूसरी

बहू को बुलाया और उससे भी वही पाँच दानें माँगे। वह बोली-"वे पाँच दानें तो मैं ने खा लिये हैं।" यह उत्तर पाकर सेठ ने सबके सामने कहा-"यह भक्षिका बहू राँधने-पकाने का काम करे।" इसके बाद तीसरी बहू बुलाई गई। उससे भी वही पाँच दाने माँगे गये। उसने उन्हें बराबर सुरक्षित रखा था। उसने यह बात कही और लाकर दे दिये। सेठजी ने सन्तुष्ट होकर कहा "सज्जनों! यह रक्षिका नामक बहू मेरी आज्ञा से मेरे घर के खजाने की अधिकारिणी हो।" अब चौथी बहू का नम्बर आया। वह बुलायी गयी। उससे भी वही पाँचों दानें माँगे गये। वह बोली-"पिताजी! मुझे बहुत सी गाड़ियाँ और बड़े-बड़े बैल दीजिए तो वे शालि लाए जा सकते हैं।" बहू की यह बात सुन सेठजी ने पूछा-"वे पाँच दानें गाड़ियों पर ढोने लायक कैसे हुए? बताओ।" रोहिणी ने आदि से लेकर अन्त तक का सारा हाल कह सुनाया। यह हाल सुन सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और उसे बहुत सी गाड़ियाँ और बैल दिये। वह अपने पिता के घर से सब शालि लाद लायी। यह देख धन श्रेष्ठी बोले-"जिसे ऐसी बहू मिली है, वह धन्य है। देखो तो उसने पाँच कणों की भी कैसी वृद्धि की है"। बहू बोली-"पिताजी, अपने ये पाँचों कण ग्रहण कीजिए।" बहू की बात सुन सेठजी ने सब के सामने कहा-"मेरी यह बहू मेरे घर के सर्वस्व की स्वामिनी होवे। सब घर के मनुष्यों को इसी की आज्ञानुसार चलना चाहिए। जो उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करे वह घर में नहीं रह सकेगा।" सेठजी की बात सभी ने मस्तक पर चढ़ाई/स्वीकार की अनन्तर प्रफुल्लित आनन्द में विभोर धन श्रेष्ठी धीरे-धीरे चिन्ता का त्याग कर सच्चे धर्म को अलङ्कार रूप करने लगा।

शिष्यों! मैंने तुम्हें यह दृष्टान्त कहा है। अब सिद्धान्त में कहा हुआ इसका रहस्य भी सुन लो। दृष्टान्त में जो राजगृह नगर कहा है वह इस लोक में नर-भव है। धन श्रेष्ठी को विचार करने में चतुर आचार्य समझो। चार बहुएँ बताई सो चार प्रकार के शिष्य समझो। पाँच धान के दाने बताये हैं वे पाँच महाव्रत हैं। स्वजन रिश्तेदार बताये हैं वह संघ है। सेठ ने उनके सामने बहुओं को पाँच-पाँच दाने शिष्यों को दिये, इसका मतलब यह कि आचार्य ने संघ के समक्ष पाँच महाव्रत दिये। उनमें से जैसे उज्झिका ने दाने फैंक दिये, इस प्रकार जो पाँच महाव्रतों का त्याग करता है वह इस लोक और परलोक-दोनों में दुखों का पात्र हो जाना है। जैसे भक्षिका ने दाने खा लिये, इसी प्रकार कितनेक ढोंगी

महाव्रतों को अपनी पेट-भराई का साधन बना लेते हैं, किन्तु विवेकी पुरुषों को चाहिए कि वे महाव्रतों को आजीविका साधन न बनावें। रक्षिका ने जैसे पाँचों दानों की रक्षा की, उसी प्रकार साधुओं को पाँचों महाव्रतों की रक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार रोहिणी बहू ने ससुर के दिये हुए दानों की वृद्धि की, उस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह भी पाँचों महाव्रतों की वृद्धि करता रहे।

।। इति व्रतदृष्टान्तः समाप्तः।।

विनय

गुरु महाराज फिर बोले-"हे शिष्यों! विनय जैन शासन की जड़ है। इसलिए साधुओं को विनयी बनना चाहिए। जो विनयहीन है, उसके धर्म कहाँ से हो सकता है? और तप भी कहाँ से हो सकता है? विनयवान् को लक्ष्मी मिलती है, यश मिलता है और अविनीत का मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता। पुरुष भले ही गुणी हो, पर यदि वह विनय-हीन है तो उसे श्रेष्ठ लक्ष्मी कभी प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि घड़ा भी जब थोड़ा नम्र होता है - झुकता है तभी पानी से भर सकता है। अपराध रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये विनय सूरज के समान है और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति का कारण है। कुलीन आदमी को चाहिए कि वह गुरुजनों का, जो गुण में बड़े हों उनका और बालक तपस्वी का भी विनय करे। जैसे संसार के सब तेजस्वी पदार्थों में सूर्य प्रशस्त है, वैसे समस्त गुणों में विनय गुण प्रशस्त है उसके उदित होते ही कर्म रूपी समस्त विनय से सर्व सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं और तो क्या? केवलज्ञान की प्राप्ति भी विनयवान् को ही हो सकती है।

विनय पर दृष्टान्त

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र में, पृथ्वी पर एक मनोहर और कल्याणकारिणी क्षमा नाम की नगरी है। कुबेर के घरों की तरह ऊँचे-ऊँचे घरों वाली इस नगरी के आगे इन्द्र की नगरी अमरावती भी तुच्छ हो गयी जान पड़ती है। उस नगरी के उद्यान के सामने इन्द्र के नन्दन कानन की शोभा भी अपूर्ण प्रतीत होती है। इसके सरोवरों के समक्ष पम्पा आदि सब सरोवर मानो अभिमान रहित हो गये हैं।

उस नगरी में क्षमापतियों[1] से स्तुति गान कराता हुआ श्रीमान् हर्ष (श्रीहर्ष) नामक राजा ऐसा मालूम होता जैसे आकाश में सूर्य। उसमें गुणों का समूह था, तो भी वह गुणी जनों के गुण ग्रहण करने में बड़ा लोभी था। सचमुच विधाता ने समुद्र, कामदेव और मेघ का सार खींचकर उसे बनाया था। यदि ऐसा न होता तो वह इतना गम्भीर, इतना सुन्दर और इतना दाता कैसे होता? शुभ कला वाले राजा के गुणगणों रूपी फूलों के समूह का उल्लसित सौरभ=सुगन्ध समस्त पृथ्वी तल में फैल रहा था। वह कल्याणकारिणी लक्ष्मी का आश्रय-स्थान था, निरन्तर आनन्द का स्थान था। फैली हुई कीर्ति रूपी लताओं के वितानों- समूहों का विकसित मूल था, अत्यन्त पुण्य करने में उत्सुक रहता था और याचकों के सामने कभी मुँह न मोड़ता था। वह राजा शत्रु रूपी करोड़ों मदोन्मत्त हाथियों का विनाश करने के लिए सिंह के समान था। उसकी चारों तरफ फैली हुई कीर्ति से तीनों लोक श्वेत हो गये थे, इसलिए कैलास पर्वत पर निवास करने वाले महादेव को मालूम ही न होता था कि हमारा निवास स्थान कैलास कौन सा है? शास्त्रों में लिखी हुई यह बात राजा प्रत्यक्ष में करके दिखला देता था कि कल्पवृक्ष मनचाही वस्तु देते हैं-वह मन चाहा दान देता था क्योंकि विधाता ने उसे कल्पवृक्ष आदि से ही बनाया था।

उसी नगर में विषवाक्य नामक एक वणिक् का पुत्र रहता था। वह पहले नगर सेठ था, परे कटुवचन बोलने के अवगुण से उसकी वह पदवी छिन गयी थी। वह खेती करके अपनी आजीविका चलाता था। किसी समय वह वणिक् पुत्र मजदूरों के लिए स्वयं भोजन लेकर खेत की तरफ जा रहा था। इतने में रास्ते में निर्जन स्थान में रोते हुए बालक पर दृष्टि पड़ी। उसका दिल भर आया उसने बालक को तुरन्त अपने हाथों में ले लिया और अपनी गोदी में पास बैठाकर कुछ खिलाया।

सेठ ने सोचा-'किसी ने इस बेचारे बालक को यहाँ छोड़ दिया है। यह यहाँ पड़ा-पड़ा मर जायगा।' ऐसा सोचकर सेठ बालक को उठाकर अपने खेत की तरफ चला गया।

---

१. राजा और चन्द्रमा दोनों अर्थ समझना चाहिये।

खेत से लौट कर सेठ घर आया। उसके कोई पुत्र न था, इस कारण वह दुःखी था। अब उसने प्रसन्न होकर दीन मुख वाली अपनी पत्नी को वह बालक सौंप दिया। सेठानी अपनी आत्मा की तरह उसका पालन पोषण करने लगी। बालक धीरे-धीरे चन्द्रमा की भाँति समस्त कलाओं से युक्त युवा अवस्था में आया। पिता की कटुक वाणी से जले हुए सब लोगों को अमृत के समान वचनों से शान्ति पहुँचाता हुआ वह वणिक्पुत्र सब जगह प्रसिद्ध हो गया। सर्वत्र उसका नाम विनीत पड़ गया। राजा ने विनीत की चतुराई से प्रसन्न होकर उसके पिता की नगर-सेठ उपाधि उसे दे दी। उसके मन में जिनशासन के माहात्म्य से उल्लास होता था, वह मनोहर गुण समूह रूपी वृक्षों का उद्यान था, सब के नेत्रों को आनन्द देने वाला था, सदा सुमार्ग में चलता था, उसने अपने निर्मल यश के समुदाय से सब दिशाओं का अन्तर पूर दिया था- दूरी मिटा दी थी, सदा साधुओं की सेवा करने में कुशल था, उसने पृथ्वी भर के याचकों को खूब धन देकर प्रसन्न कर दिया था, प्रसन्न चित्त रहता था, राजा से अपने पिता का स्थान पाकर भाग्य और सौभाग्य का स्थान वह विनीत लक्ष्मी का पात्र हो गया था।

किसी समय उस नगर में महा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। भव्य जीवों को भी यह शङ्का होने लगी कि अब धर्म-कर्म का सत्तानाश हुआ चाहता है। ऐसे समय में दुष्काल के दुःख से दुःखी एक बूढ़ा आदमी, बूढ़ी स्त्री और एक युवक कहीं से आकर विनीत के यहाँ नौकरी करने लगे।

उस समय शत्रुओं को कँपाने वाली चम्पा नाम की नगरी में जितारि नाम का राजा राज्य करता था। सूर्य के समान प्रतापी वह राजा कमलोल्लासी[1] था, पर कठोर कर[2]- कर वाला नहीं था और न पृथ्वी मण्डल को ताप गर्मी करने वाला था। उसमें यह आश्चर्य की बात थी। वर्षा करने वाले मेघ का मुँह काला होता है और अन्धकार को विनाश करने वाला सूर्य पृथ्वी को सन्ताप पहुँचाता है। पर राजा जितारि याचकों को मन चाहा दान देने के कारण मेघ और सूर्य के समान तो था, पर काला मुँह वाला था संताप करने वाला नहीं था।

---

१. राजा कमला (लक्ष्मी) को हर्ष पैदा करने वाला और सूर्य कमल को खिलाने वाला था।
२. सूर्य की कर (किरण) कठोर =सख्त होती है, पर राजा सख्त कर = टैक्स लेने वाला नहीं था।

राजा श्रीहर्ष, चम्पा नगरी के राजा से धन दौलत हथियाने की लालसा से, अपने नौकर-चाकरों (फौज) को साथ ले, विनीत सेठ के साथ बड़ी खुशी से रवाना हुआ। श्रीहर्ष को आता जान चम्पेश भी सेना को साथ ले उसके सामने आया। दोनों का आपस में ख़ूब घमासान युद्ध हुआ। घुड़सवार घुड़सवार को, हाथीसवार हाथीसवार को, रथी रथी को आपस में रोकने लगे और भयानक चेहरे वाले पैदल सिपाही पैदलों का सामना करने लगे। क्रोध को उत्पन्न करने वाले सुभटों ने तीखे तीरों की कतार से मानो अकाल में वृष्टि कर दी। ऐसा मालूम होने लगा जैसे काल रात्रि आ उपस्थित हुई है। तीखे बाणों की मार से हाथियों को करोड़ों घाव हो गये और वे घायल होकर पर्वत की तरह इधर उधर युद्ध के मैदान में ही गिरने-पड़ने लगे। जिनके अङ्गों में पैने भाले घुस गये थे, उनके अङ्गों में से उछलने वाले खून के बहने से, समुद्र रूपी वस्त्र वाली पृथ्वी ऐसी जान पड़ने लगी जैसे उसने कसूमी कपड़े पहन लिए हों- पृथ्वी लहू से लथपथ हो गयी। बहादुरों के नाच करते हुए बिना सिर के धड़ शायद यह सोच कर कि हम स्वामी के ऋण से छूट गये, इधर-उधर शोभित होने लगे। भयानक युद्धभूमि, उछलते हुए रक्त रूपी पानी में योद्धाओं के मस्तकों को बहाती हुई नदी सी दिखने लगी। अन्त में दैवयोग से, चम्पेश के सैनिकों ने श्रीहर्ष की सेना को नीचा दिखा दिया, जैसे कौए उल्लुओं के झुण्ड को मार भगाते हैं। श्रीहर्ष की सेना क्षण भर में इधर-उधर अपनी जान बचाकर कौओं की तरह भाग उठी। यह दशा देख श्रीहर्ष भी भागा। जब राजा ही भाग गया तो जो पैदल सिपाही विनीत के साथ थे, वे सब नौ दो ग्यारह हो गये। लेकिन जैसे सुकृत आत्मा का त्याग नहीं करते तैसे उन तीनों नौकरों ने जो दुर्भिक्ष के समय विनीत के यहाँ नौकर रहे थे, साथ न छोड़ा। अन्त में विनीत भी अपने तीनों नौकरों के सहित भगने लगा, रास्ते में सरस्वती नदी आयी। विनीत ने उसमें स्नान किया, जलपान किया और उसके किनारे वह बैठ गया।

विनीत बैठा ही था कि दौड़ता हुआ एक हरिण उसके पास से निकला। उसे बड़ा त्रास हो रहा था। हरिण के पीछे-पीछे एक घुड़सवार शिकारी आता हुआ दिखाई दिया। विनीत ने उसी दम किसी उपाय से शिकारी को रोक रखा और हरिण को भाग जाने का मौका मिला। क्योंकि उत्तम मनुष्य अपनी जान

को जोखिम में डाल करके भी दूसरे प्राणियों के प्राणों की रक्षा करते हैं। जब मृग दूर जा निकला और हाथ न आते देख शिकारी गुस्सा करने लगा तो विनीत ने कहा-"सभी प्राणियों को शरण देने योग्य आप जैसे उत्तम महात्माओं को दीन प्राणियों की हिंसा करना उचित नहीं है। इसके सिवाय, आपके इन चिह्नों से मालूम होता है कि आप कोई उत्तम क्षत्रिय हैं तो शस्त्रधारी पर ही शस्त्र का उपयोग करना क्षत्रियों को उचित है।" इस प्रकार के अमृत जैसे मधुर विनीत के वचन सुनकर शिकार खेलने निकले हुए राजा पृथ्वीचन्द्र ने प्रतिबोध पाकर क्रोध का त्याग किया- वह शान्त हुआ। राजा 'इसने मुझे धर्म का उपदेश दिया है' ऐसा सोचकर उपकार का बदला चुकाने के लिए उसे अपने साथ क्षमातिलक नगर ले गया। वहाँ ले जाकर राजा ने उसे सबका अधिकारी सचिव (मन्त्री) बना दिया। गुणों के कारण किसे आनन्द नहीं मिलता? विनीत के साथ उसके तीनों नौकर भी आये और सदा उसकी सेवा में तत्पर रहे।

मन्त्री विनीत ने न्यायपूर्वक प्रजा का रक्षण करते हुए खूब यश पाया और आत्मा का कल्याण भी किया। एक बार विनीत ने नौकरों से स्नेह के साथ कहा "जो तुम्हारे जी में आवे, वही मुझ से माँगो।"

वे बोले- "हमें किसी वस्तु की दरकार नहीं है।" अहा, ऐसे निर्लोभ सेवक भी भाग्य से ही मिलते हैं।

इधर अपनी सारी सेना लेकर चम्पा के राजा जितारि ने क्षमापुरी जाकर क्रोध के मारे सम्पूर्ण नगरी को छिन्न-भिन्न कर डाला। उस समय अपनी नगरी और नगरी के राजा के विनाश से तथा अपनी समस्त सम्पत्ति के चली जाने से विषवाक्य (विनीत के पिता) की आत्मा विनीत हो गई और उसने मुनिदीक्षा ले ली। तीव्र तपश्चर्या करते हुए, परिषहों को सहन करते हुए, सिद्धान्तों (शास्त्रों) का अभ्यास करते हुए और गुरु की आज्ञा का आराधन करते हुए, पाप कार्यों का त्याग करने वाले, धर्मकार्यों में श्रद्धा रखने वाले, प्राणिमात्र पर दया करने वाले मोक्षमार्ग की इच्छा करने वाले, उपसर्गों को सहन करने वाले, शील के सब अङ्गों को धारण करने वाले, साधुओं के आचार का पालन करने वाले, सिद्धान्त के मार्ग में चलने वाले करुणानिधान विषवाक्य मुनि, गुरु के

साथ विहार करते हुए क्रमशः क्षमातिलक नगर में आये। वहाँ गुरु की आज्ञा लेकर मुनिराज मासक्षमण के पारणे के लिए नगर में घूमते घूमते विनीत मन्त्री के ही घर आये। उन्हें देख कर सब नौकरों ने कहा-"अहो, हमारे स्वामी के पिता कैसे दुबले हो गये हैं? और मुनिवेष धारण करके ऊँच-नीच आदि घरों में भिक्षा के लिए घूमते फिरते हैं, पाप-पुञ्ज का नाश करने वाले तथा कर्म के मर्म का उच्छेद करने वाले मुनि की सबने सहर्ष वन्दना की। लेकिन उनका दिया हुआ अन्न तथा जल 'अकल्प' जानकर मुनि अन्न-पान बिना लिये ही उपाश्रय आ गये। जब विनीत राजद्वार से घर आया तो हर्ष से भरे हुए नौकरों ने मुनि रूप पिता के आगमन का सार हाल कह सुनाया। सब समाचार सुन विनीतात्मा और श्रेष्ठ मन्त्री विनीत तुरन्त तप के पात्र रूप पिता के उपाश्रय को चला, वहाँ विषवाक्य मुनि के मुख-चन्द्र के दर्शन होते ही मन्त्रीश्वर विनीत का चित्त रूपी समुद्र हर्ष से उछलने लगा। लेकिन जब उसके मन में यह विचार आया कि मुनि मेरे घर गये, पर अन्न-जल को बिना ग्रहण किये ही वापस लौट आये तो उसे रञ्ज हुआ। इस प्रकार विचार करते हुए श्रद्धा से युक्त विनीत ने प्रथम गुरु महाराज को फिर अपने पिता को वन्दना की।

गुरु ने स्पष्ट वाणी से विनीत से कहा-"हे मन्त्रिनायक! धर्म के सुन्दर शब्दों को सुनो और शीघ्र ही पापों का अन्त करो। तुम संसार को बढ़ाने वाली मोह-ममता में मग्न न होओ और निश्चय से संसार को मिटाने वाले सच्चे धर्म का सत्कार करो। जैसे माता-पिता बालकों का हित करते हैं, वैसे ही धर्म प्राणियों का हित करता है। ऐसे हित कोई दूसरा नहीं कर सकता। वह धर्म साधुओं के लिए क्षमा आदि दस प्रकार का है और गृहस्थों के लिए सम्यक्त्व मूलक बारह प्रकार का है। अरिहंत देव पर, सच्चे साधुओं पर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म पर सम्यक् प्रकार की दृढ़ वासना को सम्यक्त्व कहते हैं। तुम उसकी शरण लो और स्थूल अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षा व्रतों-बारह व्रतों को मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए स्वीकार करो। मन्त्री! तुम तीनों काल विधि पूर्वक देव-पूजन करो तथा कुन्द के फूल के समान उज्ज्वल और सुन्दर यश चिरकाल तक प्राप्त करो। दीन जनों को दान

दो, मन को निर्मल बनाओ, न्याय पथ के पथिक बनो और क्रोध आदि शत्रुओं का सत्तानाश करो। जिनेन्द्र के मुख से निकले हुए सिद्धान्तों को आदर से सुनो और सदा सुख देने वाली सिद्धि रूपी स्त्री के शीघ्र स्वामी बनो। मोक्ष को छोड़ कर दूसरा कोई स्थान सर्वसुखमय नहीं है। इससे प्राणियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही उत्सुक रहना चाहिए।

हे मन्त्री! ये नौ तत्त्व हैं। दान, शील, तप और भावना, यह चार प्रकार का धर्म है। पाँच आश्रवों से छुटकारा पाना, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन कठिनता से जीते जाने वाले शत्रुओं को जीतना, मन दण्ड, वचन दण्ड और काया दण्ड, इन तीन दण्डों से मुक्त होना, यह सत्तरह तरह का संयम है। नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देवगति, ये चार गतियाँ हौं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। अनित्यता, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्मदुर्लभता, लोकस्वरूप और बोधिदुर्लभता, ये बारह भावनाएँ हैं। नवकारसी, पोरसी, पुरिमट्ठ, एकाशन, एक लठाण आयंबिल, उपवास, दिवस चरम, अभिग्रह और विगय-त्याग, यह दस प्रकार का प्रत्याख्यान है। अथवा, अनागत, अतिक्रान्त, कोटि सहित, नियन्त्रित, साकार अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत और अद्धा यह भी दस प्रकार का प्रत्याख्यान है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, निषेधिका, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और दर्शन ये बाईस परीषह हैं। स्पर्शन, जिह्वा (रसना) नासिका, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मण्यकी और पारिणामिकी, यह चार प्रकार की बुद्धि है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान यह चार प्रकार का ध्यान है या पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत यह भी चार प्रकार का ध्यान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीन रत्न हैं। कृष्ण लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, और शुक्ल लेश्या, ये छह लेश्याएँ हैं। सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, ये छह आवश्यक हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये छह जीव-निकाय हौं। मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये

तीन योग हैं। ईर्ष्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और उत्सर्गसमिति, ये पाँच समिति है। पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, कायबल, श्वासोछ्वास और आयु ये दस प्राण हैं। मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पाँच प्रमाद हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, यह छह प्रकार का बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, विनय व्युत्सर्ग और शुभध्यान, यह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा, ये चार संज्ञाएं हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, ये आठ प्रकार के कर्म हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्ति हैं। अपायापगम, ज्ञान, पूजा और वचनातिशय, ये चार अतिशय हैं। इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के दूसरे चौतीस अतिशय होते हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) जिन भगवान् का देह अद्भुत रूप और सुगन्ध वाला, व्याधिरहित और पसीने तथा मल से रहित होता है। (2) उनका उच्छ्वास तथा निःश्वास कमल की गन्ध सरीखा सुगन्ध सहित होता है। (3) उनका रुधिर और माँस गाय के दूध की धारा के समान सफेद और दुर्गन्ध रहित होता है। (4) उनके आहार और नीहार की विधि अदृश्य होती है। अर्थात् चर्म चक्षुओं को वह दिखाई नहीं देती, अवधिज्ञानी आदि के लिए अदृश्य नहीं होती, कहा भी है-"पच्छण्णे आहारे अद्दिसे मंस चक्खुण्णा" अर्थात् जिनेन्द्र का आहार गुप्त होता है और वह माँस युक्त चक्षुओं नहीं दिखता है। ये चार बातें- विशेषताएँ-संसार में और कहीं नहीं पाई जातीं, इसीसे इन्हें अतिशय कहते हैं। अब कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाले समवसरण में करोड़ों मनुष्य, देव और तियञ्च समा जाते हैं। (2) देशना में भगवान् की वाणी अर्द्धमागधी होती है। वह मनुष्य, तिर्यञ्च और देवों की भाषा से मिलती-जुलती होती है और उनकी भाषा रूप में परिणत हो जाती है और उसका फैलाव एक योजन तक होता है। (3) तीर्थङ्करों के मस्तक के पीछे प्रभा का मण्डल होता है, वह सूर्य के बिम्ब को भी नीचा दिखाने वाला होता है। (4) चारों ओर सवा सौ योजन तक ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। (5) इतनी ही जगह में जीवों का परस्पर वैर-विरोध नहीं होता। (6) ईति- फसल को हानि पहुँचाने वाले चूहे टिड्डीदल का उपद्रव नहीं होता। (7) मनुष्यों का विनाश करने वाली मारी आदि किसी प्रकार का उत्पात नहीं होता। (8) अतिवृष्टि-

आवश्यकता से अधिक वर्षा नहीं होती। (9) वर्षा का बिलकुल अभाव नहीं होता। (10) दुर्भिक्ष नहीं पड़ता (11) स्वराज्य या परराज्य से भय नहीं होता। ये ग्यारह अतिशय ज्ञानावरणीय आदि चार कर्मों के क्षय होने से प्रगट होते हैं। (1) आकाश में, धर्म का प्रकाश करने वाला चक्र होता है। (2) आकाश में चामर होते हैं। (3) आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल और निर्मल स्फटिकमणि का सिंहासन होता है। (4) आकाश में तीन छत्र होते हैं। (5) आकाश में रत्नमय ध्वजा होती है। (6) पैर धरने के लिए नवीन सुवर्ण कमल होते हैं। (7) समवशरण में रत्न का, सोने का और चाँदी का, इस प्रकार तीन प्राकार (घेरा) होते हैं, उस मार्ग के काँटे अधोमुख (8) तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में चार मुख और शरीर होते हैं। (9) अशोक वृक्ष होता है। (10) भगवान् जिस मार्ग से गमन करते हैं, उस मार्ग के काँटे अधोमुख(नीचे की ओर नोक वाले) हो जाते हैं। (11) सभी वृक्ष नीचे झुक जाते हैं। (12) पृथ्वी और आकाश में चारों ओर व्याप्त हो जाने वाला दुन्दुभि का शब्द होता है। (13) अनुकूल और आनन्ददायक हवा चलती है। (14)पक्षिगण प्रभु की प्रदक्षिणा देकर गमन करते हैं। (15) सुगन्ध युक्त जल की वर्षा होती है। (16) विचित्र रंग वाले फूलों की घुटनों तक वर्षा होती है। (17) बाल, रोम, दाढ़ी, मूंछ तथा हाथ और पैरों के नाखून नहीं बढ़ते। (18) भुवनपति आदि चारों निकाय कम से कम एक करोड़ देव भगवान् के पास सदा बने रहते हैं। (19) वसन्त आदि छहों ऋतुएँ सर्वदा फूल-फलों सहित होती है तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन इन्द्रियों के विषयों में सुन्दरता प्रगट हो जाती है और असुन्दरता नष्ट हो जाती है, अतएव वे सब को अनुकूल हो जाते हैं। इन अतिशयों में से कहीं-कहीं कोई दूसरे प्रकार के हैं। उन्हें मतान्तर समझना चाहिए इन उन्नीस अतिशयों में, जन्म के चार और कर्मों (चार घातिया कर्मों) के क्षय से होने वाले ग्यारह अतिशय जोड़ देने से चौतीस(34) होते हैं।

भगवान् की वाणी के पैंतीस अतिशय हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) संस्कारवत्त्व -संस्कृत के लक्षण से युक्तता (2) औदात्य-ऊँची वृत्ति होना (3) उपचार परीतता गँवारु या ग्रामीण शब्द न होना (4) मेघगम्भीरघोषत्व-मेघ की गर्जना की तरह गम्भीर वचन होना (5) प्रतिनादविधायिता- प्रतिध्वनि-गूँज-होना (6) दाक्षिणत्व - सरल भाषा का होना (7) उपनीतरागत्व-ग्राम-राग

सहित होना। ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से हैं-भाषा के अतिशय हैं। दूसरे (अट्ठाईस) अर्थ की अपेक्ष से हैं (8) महार्थता- गम्भीरतत्पर्य होना (9) अव्याहतत्व -पूर्वापर विरोध न आना (10) शिष्टता माने हुए सिद्धान्त से उल्टा अर्थ न होना या जिन वचनों से असभ्यता जाहिर न होवे (11) निःसंशयता- जिसमें किसी प्रकार का संदेह न उत्पन्न हो सके (12) निराकृतान्योत्तरता- जिसमें कोई दूसरा दोष न दे सके (13) हृदयङ्गमता-(14) मिथः साकाङ्क्षता- परस्पर सम्बन्ध रखने वाले शब्दों का होना (15) प्रस्तावौचित्य-देश काल से विरुद्ध न होना। (16) तत्त्वनिष्ठता- जो कहना चाहते हैं, उससे विरुद्ध न करना (17) अर्थ प्रकीर्णकप्रसरत्व-सुन्दर सम्बन्ध वाले अर्थ का विस्तार और जिस अधिकार में ऐसा सम्बन्ध न होवे, उसका अविस्तार होना, अस्वश्लाघान्यनिन्दता- अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा का अभाव (19) आभिजात्य-जो कुछ कहना है उसके प्रतिपादन की भूमिका बाँधना (20) अतिस्निग्ध मधुरत्व-घी गुड़ की तरह मनोहर होना (21) प्रशस्यता- कहे हुए गुणों के कारण प्रशंसा पाना (22) अमर्मवेधिता-दूसरे के मर्म(गुप्त बात) न प्रगट करना (23) औदार्य-कही जाने वाली वस्तु की तुच्छता न होना(24) धर्मार्थप्रतिबद्धता-धर्म और अर्थ रहित न होना (25) कारकाद्यविपर्यास-विभक्ति, काल, वचन आदि की गड़बड़ी न होना (26) विभ्रमादिवियुक्तता- मन की भ्रान्ति आदि किसी दोष का न होना (27) चित्रकृत्व-निरन्तर कौतुक होना (28) अद्भुतता (28) अति विलम्ब न करना रुक-रुक कर न बोलना (30) अनेकजातिवैचित्र्य-वर्णन से विचित्रता का होना (31) आरोपित विशेषता- दूसरे वचनों की अपेक्षा से विशेषणों को दाखिल करना (32) सत्त्वप्रधानता-साहसरहित होना (33) वर्णपदवाक्यविविक्तता- अक्षर पद और वाक्यों के विभाग का होना(34) अव्युच्छित्ति प्रतिपादन करते-करते बीच ही में न छोड़ देना (35) और अखेदित्व-बोलने में किसी प्रकार का खेद या प्रयास न करना पड़े।

इस प्रकार भगवान् की वाणी के गुण रूप अतिशय पैंतीस होते हैं। तीर्थङ्कर अठारह दोष से रहित होते हैं। वे दोष ये हैं- (1) दान देने में अन्तराय (2) लाभ में होने वाला अन्तराय=विघ्न (3) शक्ति-वीर्य में होने वाला अन्तराय (4) भोग में अन्तराय (5)उपभोग में अन्तराय (6) हास्य (7) रति -अनुकूल

पदार्थों में प्रेम (8) अरति (9) भय (10) घृणा (11)शोक (12) काम-विषयों की अभिलाषा (13) मिथ्यात्व (14) अज्ञान (15) निद्रा (16) अविरति-प्रत्याख्यान न करना (17) राग- भोगे हुए सुख का स्मरण करके, सुख या उसके साधन-अच्छे लगने वाले विषयों में मूर्च्छा करना (18) द्वेष-भोगे हुए दु:ख का स्मरण करके दु:खों पर या दु:ख के कारणों पर क्रोध करना। ये अठारह दोष तीर्थङ्करों में नहीं होते। भूत, भविष्य और वर्तमान, ये तीन काल तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मस्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये छह द्रव्य हैं इत्यादि। जैन शासन के सर्व को समझना विवेकी पुरुष का कर्त्तव्य है।''

इस प्रकार गुरु के मुख से धर्म के रहस्य वाली देशना सुन कर और गुणों के समूह से गुरु, गुरु महाराज को वन्दना करके मन्त्री विनीत अपने घर लौट आया। लेकिन, तब से घर का काम काज छोड़ करके भी विनीत पियासे की तरह धमोपदेशरूपी अमृत को पीने के लिए, प्रतिदिन गुरु महाराज के पास जाने लगा। एक दिन गुरु महाराज विहार करने के लिए तैयार हुए। यह जान कर मन्त्री विनीत ने कहा-''महाराज! मेरे पिता को यहीं रहने दीजिये, जिससे कि उनके दर्शन करके मैं प्रसन्न रह सकूँ।''

यह सुनकर, ज्ञान के द्वारा सब सच्चा हाल जान कर गुरु जी बोले- '' मन्त्री! ये तुम्हारे पिता नहीं हैं, हाँ, तुम्हारा पालन-पोषण करने के कारण पिता के तुल्य हैं। गुरु जी की बात सुनने से मानो विनीत के मस्तक में शूल उत्पन्न हो गया हो, इस प्रकार खेदित होकर वह बोला-''हे निष्कपट गुरुजी! तो मेरा असली पिता कौन है?''

असली बात को जानने वाले सूरि बोले- ''मन्त्री! तुम्हारे घर जो बूढ़ा चाकर है, वही तुम्हारा पिता है और बूढ़ी नौकरानी तुम्हारी माता है। वह जवान नौकर तुम्हारा भाई है। यह तुम्हारा कुटुम्ब है।'' विनीत ने उक्त बात सुनकर और यह निश्चय करके कि मुनि कभी असत्य नहीं बोलते, गुरु को प्रणाम किया और आँखों में आँसू भरकर अपने घर आया। आते ही मैले-कुचैले कपड़ों वाली और धूएँ से काली आँखों वाली बूढ़ी नौकरानी के चरणों में सब के सामने गिर पड़ा और बोला- ''माता! तुम्हारी ऐसी दु:खी अवस्था में भी मैं तुम्हें पहचान न सका अभी-अभी गुरुमहाराज ने सिद्धि के समान तुम्हारी पहचान

कराई है। तुमने तो बिना पहचाने भी मुझे-लड़के की तरह प्यार किया है, पर मैं बड़ा कृतघ्नी हूँ कि तुम्हें चाकरी के काम में लगा दिया।''

माता बोली- ''पुत्र! दुर्भिक्ष के कारण जब मैं तुम्हारा पालन-पोषण करने में असमर्थ हो गयी तो जैसे कोयल अपने बच्चे का त्याग कर देती है, वैसे ही मुझ पापिनी ने रास्ते में तुम्हें त्याग दिया था। मुझ कुमाता को धिक्कार है। लेकिन कोयल के बच्चे की तरह तूने पक्ष (न्यायपक्ष और कोयल के अर्थ में पँख) पाकर अपने भाग्य के बल से, अमृत के समान वचनों से लोगों को प्रसन्न करता हुआ, श्रेष्ठ लक्ष्मी को पाया है, यह देख कर मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ है।''

इसके अनन्तर विनीत विनयपूर्वक अपने वृद्ध पिता और भाई के चरणों में गिरा। उन्होंने भी अपनी छाती से लगाकर आनन्दित किया। सरल बुद्धि वाले विनीत मन्त्री ने राज्य भर में उनका आदर सत्कार कराया और अपने घर में सर्वस्व का स्वामी बनाया। विनीत दूसरे नौकर चाकरों का भी यथा योग्य आदर सत्कार करता, मीठे वचन बोलता और अच्छे-अच्छे काम करता हुआ सब जगह प्रसिद्ध हो गया। वह श्री जिनेश्वर भगवान् के चरण रूपी कमलों में भौंरे के समान था, इसलिए उसके मन में क्रूरता को तो स्थान ही नहीं मिलता था, उसके शम (शान्ति) रूपी गरुड़ से शोभित मन में कषाय रूपी साँप प्राणों के डर से घुस ही नहीं सकते थे। उसे सदा राज्य लक्ष्मी की चिन्ता लगी रहती थी। वह यद्यपि गृहस्थाश्रम में था, तो भी हमेशा सदाचार का ही आचरण करता था।

विनीत मन्त्री एक बार साधुओं को वन्दना करने के लिए उपाश्रय में गया। वहाँ एक साधु ग्लान (बीमार) थे। उन्हें देखकर वह बोला- ''मेरे घर बीमारी मिटाने वाली अच्छी औषध है। दो साधुओं को भेजकर अभी मँगा लीजिये'' यह कहकर और साधुओं को साथ लेकर वह घर आया। दोनों साधु बाहर खड़े और आप भीतर चला गया। इस समय किसी सेठ की गुणवती कन्या के साथ उसका सम्बन्ध (विवाह) होने को था और ज्योतिषी ने उसी दिन लग्न का मुहूर्त बताया था। उसे बाहर खड़े हुए उन साधुओं को औषध देने की सुध न रही। साधु थोड़ी देर तक वहाँ खड़े रहे, फिर उपाश्रय को लौट आये। लग्न का मुहूर्त उसी दिन का था, इसलिये मन्त्री ने सब सामान फौरन तैयार कराया। इतने में उसे दवा देने की बात याद आई। बाहर देखा, मुनि चले गये हैं।

वह उसी दम विवाह के वस्त्रों- सहित उपाश्रय दौड़ा गया। ग्लान मुनि ने दूसरी कोई दवाई न ली थी, इस कारण वे रोग से बहुत ही पीड़ित हो रहे थे यहाँ तब कि उस पीड़ा को सहने में असमर्थ हो गये थे। मन्त्री ने उन्हें इस हालत में देखा तो उसकी आँखों में आँसू भर आये। वह अपने आप अपनी निन्दा करता हुआ मुनि के पैरों में गिर पड़ा। विवाह के योग्य आभूषणों से भूषित वह मन्त्री उन मुनिराज से मन, वचन, काय से क्षमा माँगने लगा और संसार से छुडाने वाली शुभ भावना भाने (करने) लगा। इस तरह जब शुभभाव बहुत बढ गये तो उसी समय घातिया कर्मों का क्षय हो गया और केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। अत्यन्त उज्ज्वल केवलज्ञान से वह तीन लोक में रहे हुए अनन्त प्राणियों को देखने लगा। तत्काल जैन शासन की अधिष्ठात्री देवी ने विनीत को मुनि का भेष पहना दिया।''

श्रीधर्मनन्दन आचार्य कहते हैं- शिष्यों! विनीत मन्त्री, विवाह के उसी शुभ मुहूर्त पर, नितम्ब, जाँघ और स्तनों के भारी भार वाली होने के कारण संसार-समुद्र में डुबाने वाली सुन्दरी स्त्री को त्याग कर तपस्वियों में श्रेष्ठ होकर चारित्र रूपी लक्ष्मी के साथ विवाहित हुआ। साधुओं! विनय प्रधान विनीत मन्त्री मुनि की इस कथा को भलीभाँति हृदय में धारण करना और विनय गुण को प्राप्त करने का तुम भी खूब प्रयत्न करना, जिससे कि तुम्हें भी विनय से मोक्ष के सुख की लक्ष्मी प्राप्त होवे।

।। इति विनय-दृष्टान्तः समाप्त।।

पश्चात् चण्डसोम आदि पाँचों साधुओं ने प्रार्थना की ''हे पूज्य! आप जो कहते हैं, वह सब हम स्वीकार करते है। लेकिन हमने जो बुरे आचरण किये हैं, वे हमें काँटे की तरह चुभ रहे हैं।''

श्रीधर्मनन्दन गुरु- ''साधुओं! तुम मन में कभी ऐसा विचार ही न करो कि हमने पहले पाप किये हैं, क्योंकि जिसने अपने पापों का पश्चात्ताप नहीं किया, उसे ही पापी समझना चाहिए।''

राजा (पुरन्दरदत्त) ने गुरु महाराज के मुख से सब उपदेश सुनकर उन्हें मन में नमस्कार किया। वह उद्यान से बाहर निकलकर,बिजली की भाँति छलाँग मार परकोटा को लाँघकर अपने निवास-स्थान में आया। उसके चित्त में संसार से खेद हो रहा था। वह अपनी शय्या पर चित्त (सीधा) सो गया।

इधर साधु स्वाध्याय में सावधान होकर आवश्यक क्रिया करके थोड़ी देर नींद लेकर प्रातःकाल की क्रियाओं में लग गये।

उस समय आकाश अरुणोदय की आभा से लाल-लाल हो गया। सूर्य ने धीरे-धीरे पूर्व पर्वत के शिखर का सहारा लिया। वन्दी जनों के मुख से वर्णन किये हुए प्रातःकाल को जान राजा शय्या से उठा। उसके दोनों नेत्र निद्रा के कारण माते और लाल हो रहे थे। उठकर उसने आवश्यक क्रिया की, सुबह के जरूरी काम निवटाये और चारदन्त वाले हाथी पर सवार होकर वासव मन्त्री के साथ चतुरङ्ग सेना सहित शक्रेन्द्र की भाँति उद्यान में आया। वहाँ भगवान् धर्मनन्दन गुरु तथा दूसरे साधुओं को वन्दना करके राजा बोला-''पूज्य गुरु! मैं पुत्र, मित्र, कलत्र की सर्वथा ममता त्याग करने में असमर्थ हूँ, लेकिन गृहस्थी में रहने वाले को ही ऐसा कुछ दीजिये, जो संसार रूपी सागर में नाव के समान हो।''

भगवान् धर्मनन्दन-''यदि ऐसा है तो सम्यक्त्व मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत बारह प्रकार के इस गृहस्थ-धर्म का पालन करो।''

राजा-''भगवन्! मैं अपने पहले जन्म का कुछ भी हाल नहीं जानता, उसे जानने की इच्छा है।''

भगवान् धर्मनन्दन ''यह राज्य ही तुम्हें बताएगा। सूत्र पौरसी का समय हो गया है और आज ही हमें विहार करना है।''

राजा ने यह बात सुन गुरु महाराज के चरणों में वन्दना की और वासव मन्त्री के साथ अपने धवल गृह चला गया। भगवान् भी सूत्र पौरसी करके उत्तम स्थानों में विहार करने के लिए रवाना हुए। चण्डसोम वगैरह पाँचों साधु थोड़े ही समय में शास्त्र तथा उसके रहस्य का अभ्यास करके दोनों प्रकार की शिक्षाओं में कुशल हो गये और एक ही दिन गुरु के पास दीक्षित होने वाले उनमें आपस में खूब धर्म राग बढ़ने लगा।

एक समय की बात है। पाँचों साधु आपस में बातचीत कर रहे थे-

''अहा! जिनेश्वर का कहा हुआ धर्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। वह धर्म दूसरे जन्म में किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? इसके लिए हमें कुछ उपाय

करना चाहिए। ऐसा विचार करके पाँचों साधुओं ने परस्पर में कुछ संकेत (इशारा) कर लिया कि जिससे पर भव में प्रतिबोध दिया जा सके। इसी प्रकार सिद्धान्त के अभ्यास की इच्छा रखने वाले वे मुनि अपना समय व्यतीत करते थे। परन्तु चण्डसोम कुछ क्रोधी था और मायादित्य कुछ मायावी। दूसरे मुनिराज कठिनता से जीती जा सकने वाली कषायों को जीतते हुए शुद्ध रीति से दीक्षा का पालन करते थे। धीरे-धीरे, कुछ समय बाद पहले लोभदेव का आयुष्य समाप्त हुआ। उसने अन्त समय में सल्लेखना की विधि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना करके देव आयु बाँध कर काल (मरण) किया। एक ही समय में, वह फौरन ही सौधर्म स्वर्ग में पद्म नाम के विमान में पद्मप्रभ नाम का निर्मल शोभा वाला देव हुआ।

वह पद्मप्रभ देव वहाँ इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा। इसी प्रकार मानभट का भी आयुष्य समाप्त हुआ। वह संसार रूपी बेल को काटने के लिए दाँता के समान और सुख-सम्पत्ति के स्थान रूप पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार का स्मरण करता हुआ, उसी क्रम से अनेक योजन विस्तार वाले उसी पद्म विमान में पद्मसार नामक देव हुआ। इसी भाँति मायादित्य, चण्डसोम और मोहदत्त तीनों साधु आयु पूरी होने पर चार प्रकार के आहार का त्याग कर, णमोकार मन्त्र में लीन हो, आराधना करने में मन लगा, चार शरणों का आश्रय ले, चारित्र विधि के अनुसार क्रिया कर और अठारह पाप स्थानों का त्याग करके उसी विमान में क्रमशः पद्मवर, पद्मचन्द्र और केशर नाम के देव हुए। इस प्रकार पद्मविमान में उत्पन्न हुए, समान विभूति, परिवार, बल, प्रभाव, पुरुषार्थ और आयु वाले, परस्पर प्रीति युक्त मन वाले तथा जिन्होंने आपस में संकेत कर लिया था ऐसे वे पाँचों देव समय व्यतीत करने लगे।

एक बार इन्द्र के सेनापति ने घण्टा बजाया। घण्टे का शब्द सुनकर पाँचों ने तत्काल ही अपने सेवकों से पूछा-"यह घण्टा किस लिए बजाया गया है?" उन्होंने उत्तर दिया- "देव! जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मध्य खण्ड में श्रीमान् धर्मनाथ तीर्थङ्कर को निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनके समवसरण में सब देवों के साथ इन्द्र पधारने वाले हैं।" यह उत्तर सुनकर पाँचों देवों ने पहले वहीं बड़ी भक्ति से मस्तक नमाकर श्रीधर्मनाथ भगवान् को प्रणाम किया। फिर मन से शुद्ध वाले पद्मसार आदि पाँचों देव इन्द्र के साथ चम्पापुरी में, जहाँ

कि भगवान् विराजमान थे, आये। वहाँ पहुँचकर पद्मसार ने इन्द्र से निवेदन किया कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं अकेला ही श्री धर्मनाथ जिनेन्द्र का समवसरण रचूँ। इन्द्र ने उसे आज्ञा दे दी। शुद्ध अन्तःकरण वाले पद्मसार ने एक योजन तक पृथ्वी के ऊपर का बाह्य रज साफ करने के साथ ही अपने अन्तःकरण का भी रज (पाप) साफ किया। फिर उसी ने पृथ्वी पर सुगन्धित जल की वर्षा की, मानो पुण्य का बीज बोया हो। इसके बाद भक्ति से भरे हुए उस पद्मसार देव ने प्रसन्नता के साथ सोने, मणियों और माणिक्यों से उस पृथ्वीतल को बाँध लिया। फिर उसने घुटनों तक और नीचे वृन्त वाले पाँच वर्ण के फूलों से पृथिवी की पहले पूजा की जिस पर श्रीधर्मनाथ भगवान् के चरणों का स्पर्श होने वाला था। उसने चारों दिशाओं में चार मनोहर तोरण बाँधे। उसके द्वारा रची हुई तरह-तरह की पुतलियाँ ऐसी शोभित होने लगीं जैसे अनुपम शोभावाली देवियाँ समवसरण को देखने के लिए साक्षात् आई हों। तोरणों के ऊपर फहराती हुई ध्वजाएँ ऐसी शोभित होती थीं, जैसे धर्मनाथ स्वामी के पास भव्य जीवों को बुला रही हों। फिर उस देव ने हरेक तोरण के नीचे पृथ्वी पीठ-पर आठ-आठ मङ्गल बनाये। तदनुसार उसने प्रसन्नता के साथ पाँच रंगों की मणियों के कँगूरे वाला रत्नों का पहला प्राकार (घेरा) बनाया। वह प्राकार ध्वजाओं की पंक्ति से सुशोभित था। वह ऐसा जान पड़ता मानो भक्ति के कारण अपने शरीर को सिकोड़ कर रोहणाचल आया हो। फिर भक्ति के निवास- स्वरूप उस देव ने रत्न के प्राकार के चारों ओर दूसरा सोने का प्राकार बनाया, मानो उसने अपनी कान्ति से ही उसे बनाया हो। उस प्राकार पर रत्नों के कँगूरों की पंक्ति इस प्रकार शोभा देती थी जैसे बहुत से द्वीपों से आये हुए सूर्यों की पंक्ति हो। उसने दूसरे प्राकार के बाहर फिर तीसरा प्राकार बनाया। वह चाँदी का था। वह ऐसा जान पड़ता था कि भगवान् को वन्दना करने के लिए स्वयं वैताढ्य पर्वत आया है। उस प्राकार पर सोने के कँगूरों की पंक्ति थी। वह ऐसी मालूम होती थी जैसे गङ्गा में सुवर्ण कमल उग आया हो। सातों पृथ्वियों के चारों ओर तीन-तीन वलय (घनोदधि, घनवात और तनुवात) हैं। उनके समान तीनों प्राकार तथा नाना तरह की शोभावाली कँगूरों की पङ्क्ति सुन्दर दिखाई देने लगी। देव ने प्रत्येक प्राकार के चार-चार दरवाजे बनाए और प्रत्येक दरवाजे पर नीलमणि के तोरण बाँधे जो मोक्षलक्ष्मी की तरह सुन्दर

थे। उन तोरणों पर शरद् ऋतु के समान बिलकुल सफेद ध्वजाएँ बाँधीं। वे ऐसी शोभित होती थीं, जैसे पुण्य रूपी लक्ष्मी के सुन्दर और विस्तार युक्त हाथ हों। हरेक दरवाजे पर सुलगते हुए अगर के चूर्ण से व्याप्त धूप घड़ियाँ शोभायमान हो रही थीं। प्रत्येक दरवाजे के पास सुवर्णकमलों से मनोहर बावड़ियाँ शोभा पा रही थीं मानो फड़कते हुए गृहस्थधर्म के व्रत की लक्ष्मी के क्रीड़ा करने के लिए ही हों। इसके बाद उस देवता ने मणि के प्राकार के पूर्व तरफ के दरवाजे पर दो द्वारपाल बनाये। वे सुनहरे रंग के थे और वक्षः स्थल में पड़े हुए सुन्दर हार से जगमगा रहे थे। फिर दो सफेद अङ्ग वाले द्वारपाल दक्षिण के द्वार पर बनाये मानो, साक्षात् साधुधर्म और श्रावक धर्म ही हों। रक्त रंग के दो द्वारपाल पश्चिम के द्वार पर बनाये, मानो सर्वज्ञ पर रहे हुए राग से ही रक्त हो गये हों, इसके बाद दोषों का नाश करने वाले मानो नीलंकास्यासक के हों इस प्रकार श्याम रंग के दो द्वारपाल उत्तर के द्वार पर बनाये। फिर उस देवता ने सुवर्ण के प्राकार में जिनेन्द्र भगवान् के विश्राम के लिए मणियों से एक देवच्छद बनाया। रत्नों के प्राकार में पाँच सौ चालीस धनुष् ऊँचा एक चैत्यवृक्ष बनाया। इसके पश्चात् पद्मसार देव ने उस चैत्यवृक्ष के नीचे मणिपीठ के ऊपर पादपीठ सहित एक सुन्दर रत्न का सिंहासन बनाया।

इस प्रकार तैयार किये हुए समवसरण में सुवर्ण के नव कमल पर चरण रखते हुए करोड़ों देवों के साथ भगवान् ने पहले चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा की फिर "नमस्तीर्थाय" (तीर्थ को नमस्कार हो) कहकर पूर्व की ओर मुख रखकर सिंहासन के ऊपर विराजे। उसी समय पद्मसार देव ने दूसरी तीन दिशाओं में प्रभु के ही प्रभाव से उन्हीं जैसे तीन रूप बनाये। चारों गतियों के समस्त जीवों का उद्धार करने के लिए, मोह रूपी महाबलवान् योद्धा को जीतने के लिए चार कषाय रूपी शत्रुओं को परास्त करने के लिए, पापों को नाश करने वाले चार तीर्थों की स्थापना करने के लिए, दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों को स्पष्ट बताने के लिए तथा चार प्रकार के ध्यान का मार्ग बतलाने के लिए तीनों लोकों को पवित्र करने वाले श्रीधर्मनाथ तीर्थङ्कर देशना देते समय चार स्वरूपों को फैला कर चारों दिशाओं में मुख करके बैठे। इसके पश्चात् उस बुद्धि वाले देव ने स्वयं तीन लोक, तीन प्रकार का विनय और तीन तरह का ऐश्वर्य प्रगट करने वाले तीन छत्र भगवान् के ऊपर रक्खे। इसके

अनन्तर साधु और साध्वियाँ पूर्व के द्वार से समवसरण में प्रवेश करके भगवान् को तीन प्रदक्षिणा देकर अग्नि कोण में बैठे। हर्ष से फूली हुई वैमानिक देवियाँ उसी प्रकार आकर उसी जगह साधु-साध्वियों के पीछे खड़ी हो गईं। फिर दक्षिण द्वार से प्रवेश करके क्रम से ज्योतिष्क भुवनपति और व्यन्तर देवियाँ आईं और विधिपूर्वक नैर्ऋत्य कोण में खड़ी हो गईं। फिर भुवनपति ज्योतिष्क और व्यन्तर पश्चिम द्वार से प्रवेश करके विधिपूर्वक वायव्य कोण में बैठे। फिर वैमानिक देव मनुष्य और मनुष्य स्त्रियाँ उत्तर के द्वार से ईशान कोण में बैठे। समवसरण में भगवान् के प्रभाव से किसी भी प्राणी को भय, मात्सर्य, पीड़ा, कटुक वचन, बन्धन या अहङ्कार न उत्पन्न होता था।

दूसरे प्राकार में सिंह हाथी आदि स्वभाव से विरोधी प्राणी भी आपस में प्रीति युक्त होकर बैठे। तीसरे प्राकार में राजाओं की सवारियाँ, देवों और असुरों के विमान क्रमशः रखे गये। समवसरण की भूमि सिर्फ एक योजन की थी तो भी भगवान् के प्रभाव से उसमें करोड़ों प्राणी बिना किसी प्रकार की तकलीफ के अच्छी तरह समा गये। इस प्रकार सब व्यवस्था हो जाने पर त्रिलोकनाथ श्री धर्मनाथ भगवान् को नमस्कार करके पद्मसारदेव स्तुति करने लगा- " पाप के नाश करने वाले प्रभो! जैसे वायु के द्वारा मेघों का नाश हो जाता है उसी प्रकार आज आपके दर्शन से मेरे सब पाप नष्ट हो गये हैं। स्वामिन्! संसार में जो आपके चरण- रूपी कल्पवृक्ष की सेवा में तत्पर रहते हैं वे ऐसे आश्रय-स्थान को पाते ही नहीं हैं जिस पर दरिद्रता का सिक्का जमा रहता है। नाथ! कहा जाता है कि आप के मन राग से रहित हैं परन्तु यह बात मिथ्या है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो आपका मन मुक्ति रूपी स्त्री का आलिङ्गन करने में लोलुपी कैसे होता? धर्मनाथ! आपके अत्यन्त निरन्ध्र गुणों से मेरा चित्त ऐसे बँध गया है कि वह दूसरी जगह जा ही नहीं सकता। धर्मनाथ भगवन्! वह क्षण कब आवेगा? जब आप और मैं मोक्ष-स्थान में इकट्ठे होंगे। प्रभो! आपके चरण कमल की सेवा करने के लिए मेरा मन जितना उत्कण्ठित होता है उतना मोक्ष रूपी लक्ष्मी के लिए नहीं होता। स्वामिन्! आपका ज्ञान अनन्त है और मेरी बुद्धि तुच्छ है, इसलिए मैं आपके गुणों की स्तुति करने में असमर्थ हूँ। नाथ! विधि ने मुझे सिर्फ एक जिह्वा दी है और कान तथा आँखें दो-दो दी हैं, तो मैं आपकी कीर्ति की प्रशंसा करने में, गुण सुनने में और आपका रूप देखने में

कैसे समर्थ हो सकता हूँ? इसलिए तीर्थपति! भिखारी की तरह मैं आप से यही माँगता हूँ कि मेरे मन को वीतराग भगवान् में आसक्त तथा वीतराग बनाओ।''

तत्त्व दृष्टि वाला पद्मसार देव प्रसन्नता के साथ भगवान् की स्तुति करके अपने स्थान पर बैठ गया। धर्मचक्रवर्ती भगवान् धर्मनाथ ने अमृत रस को बहाने वाली और सम्यक् आचार को बढ़ाने वाली देशना देना प्रारम्भ किया- ''हे भव्य प्राणियों! यह संसार असार है और सदा दु:खों का आगार है। ऐसे संसार में स्वर्ग और मोक्ष का दाता धर्म ही प्रशंसनीय है। इस संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करते-करते प्राणी बड़े पुण्य से मनुष्य जन्म पाता है, जैसे जमीन में से रत्नों का खजाना पाता है। जो प्राणी ऐसे दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर अपना खूब हित नहीं करता वह अन्त में अपने आपका शोक करता है। जैसे अग्नि की भयङ्कर ज्वाला से व्याप्त मकान में रहना उचित नहीं है उसी प्रकार दु:खों से भरे हुए संसार में रहना मनुष्य को उचित नहीं है। चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ मनुष्य भव पाकर विवेकी जनों को कदापि प्रमाद न करना चाहिए। जैसे कोई मूर्ख मनुष्य करोड़ों का धन छोड़कर एक कौड़ी लेवे, उसी प्रकार कितनेक मनुष्य जिनेश्वर प्ररूपित धर्म का त्याग करके विषयों से पैदा होने वाला सुख ग्रहण करते हैं। मनुष्यों की लक्ष्मी समुद्र की हिलोरों के समान है, संसार का सुख साँझ के बादलों की रेखा के समान क्षणिक है।''

इस प्रकार देशना देकर भगवान् धर्मनाथ ठहरे। इतने में उनके मुख्य गणधर हाथ जोडकर भगवान् से बोले-''भगवन्! करोड़ों देव, दानव, मनुष्य और तिर्यञ्चों से भरी हुई इस सभा में से कौन जीव पहले मोक्ष पावेगा?''

भगवान्- देवानुप्रिय! जिसे पूर्वभव का स्मरण हुआ है, जिसका मन संवेग को प्राप्त हुआ है, जिसकी गति निर्भय है, जो मेरे दर्शन से सन्तुष्ट हुआ है, जिसके नेत्रों से हर्ष के आँसू निकल रहे हैं, जिसके दोनों कान नाच रहे हैं ऐसा तुम्हारे पास जो चूहा आ रहा है, वह यहाँ के सब प्राणियों से पहले ही पाप से छूटकर सिद्धि पद पावेगा।

भगवान् का इतना कहना था कि उसी दम सब राजाओं और इन्द्रों के नेत्र उस चूहे पर पड़े। इतने में भक्ति के भार से पुष्ट अङ्ग वाला वह चूहा श्रीधर्मनाथ प्रभु के पास आकर उनके पादपीठ पर लोटने लगा। इसके अनन्तर

जिसके तमाम अङ्ग में रोमाञ्च हो आये थे ऐसा वह चूहा पृथ्वी पर माथा टेक कर अपनी भाषा में बोलने लगा। यह देखकर इन्द्र ने भगवान् से कहा- ''भगवन्! सबसे अधम और तुच्छ जाति वाला और जंगल में रहने वाला यह चूहा हम सबसे पहले मोक्ष पावेगा, यह सुनकर मेरे मनमें बड़ा ही आश्चर्य पैदा हुआ।'' यह सुनकर भगवान् स्वयं बोले -''इन्द्र! सुनो विन्ध्या नामक पर्वत की तलहटी में विन्ध्यावास नाम का एक बड़ा गाँव है। उसमें महेन्द्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी बड़े-बड़े नेत्रों वाली तारा नाम की रानी थी। उसकी कोख से उत्पन्न हुआ ताराचन्द्र नामका लड़का था। जब वह आठ वर्ष का हुआ तो अति वैर के कारण दोषों को देखते-देखते कोशल राजा ने एक दम हमला करके सारा विन्ध्यावास गाँव छिन्न-भिन्न कर दिया। महेन्द्र राजा उसके साथ युद्ध करता हुआ शत्रु के हाथ से मारा गया। इसलिए 'बिना सेनापति की सेना भी मरी हुई समझना चाहिए' इस न्याय के अनुसार समस्त सेना भाग खड़ी हुई। उनमें रानी तारा भी अपने पुत्र ताराचन्द्र को अँगुली से पकड़कर अपने गुप्त सेवकों के साथ भागकर अनुक्रम से भृगुकच्छ (भरोच)नगर में आई। वह नगर महादेव की तरह दुर्गान्वित,[१] स्त्रियों के कुचों के तट के समान विहार[२] से शोभित, सरोवर की तरह कमलालय,[३] गंधी की दुकान की भाँति चन्द्रसहित[४] और स्वर्णमण्डल की तरह या वाटिका (बावड़ी) स्थान की नांई सद्वृषों[५] का आश्रय रूप था। इसी प्रकार सदा आरम्भवाला,[६] सदा शिववाला[७] और लाट देश की लक्ष्मी के मस्तक के तिलक के समान था। उस नगर की सुन्दर भौंहों वाली स्त्रियों के मुख-मुख के ही समान थे - अन्य किसी से उनकी उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि पूर्णमासी का चन्द्रमा और

---

१. महादेव दुर्गासहित और नगर किले सहित।
२. कुचतट विचित्र-विचित्र हारों से और नगर महलों से।
३. सरोवर कमलों का और नगर लक्ष्मी का आलय = स्थान।
४. गांधी की दुकान कपूर सहित और नगर में समृद्ध।
५. स्वर्ग अच्छे इन्द्र का आश्रय, उद्यान अच्छे वृक्ष नामक वृक्षों का और नगर धर्मात्माओं का आश्रय।
६. सदा नये-नये कार्य आरम्भ होते थे।
७. कभी उपद्रव न होते थे।

कमल तो उन मुखों के दास हो गये थे। उस नगर के चारों ओर आकाश को चूमने वाला-बहुत ऊँचा परकोटा था। उसकी परछाई खाई के पानी में पड़ती थी। इससे वह ऐसा जान पड़ता था कि पाताल लोक की नगरी को जीतने के लिए इच्छा करता हो। ऐसा मालूम होता था कि, 'इस नगर ने मेरे घर में से रत्न ले लिए हैं' ऐसा सोचकर, क्रोध उत्पन्न होने से खाई के बहाने समुद्र ने ही आकर इस नगर को घेर लिया है। 'मम' इन दो अक्षरों का उद्धरण पहले तो वहाँ के लोग किया करते थे, परन्तु याचकों को देखकर वे अक्षर उन्हें दे दिये, जिससे वे उनके लिए भूले से ही हो गये थे। अर्थात् वहाँ के लोग बड़े दानवीर थे। तारा रानी का चित्त उस नगर में आकर 'अब मुझे क्या करना चाहिए' यह विचार करते-करते मूढ गया। वह ऐसा विचार करती हुई यूथ (संघ) से बिछुड़ी हुई हरिणी की तरह चच्चरमहेश्वर के मण्डप में घुसी। उसी समय गोचरी के लिए निकली हुई दो साध्वियाँ उसे दिखाई पड़ीं। उन्हें देख कर उसने सोचा - 'अरे! ये तो महानुभाव और क्रियाओं में तत्पर श्रेष्ठ साध्वियाँ मालूम होती हैं।' उसने ऐसा विचार कर खड़े होकर उन्हें वन्दना की। साध्वियों ने उसे धर्म लाभ देकर पूछा-"तुम कहाँ से आई हो?" उसने कहा-"विन्ध्यावास नगर से आई हूँ।" उसका रूप, लावण्य, लक्षण देखकर तथा गद्‌गद कण्ठ से निकली हुई बोली सुनकर साध्वियों को उस पर बड़ी दया आई। कहा भी है-

महतामापदं वीक्ष्य, मोदन्ते नीचचेतसः।
महाशया विषीदन्ति, परं प्रत्युत सर्वदा।।

अर्थात् बड़े आदमियों की विपत्ति देख कर नीच हृदय वाले लोग हमेशा खुश होते हैं, परन्तु उदार विचार वाले उलटे दुःखी होते हैं।

साध्वियों ने कहा-"भद्रे! यदि इस नगर में कोई तुम्हारी जान-पहचान का न हो तो हमारे साथ चलो।" रानी 'बड़ी कृपा' कहकर उसके साथ उपाश्रय में आई। उसने वहाँ प्रवर्तिनी की बड़ी भक्ति से वन्दना की। प्रवर्तिनी ने उसे देखकर विचार किया- 'इसका चेहरा बहुत सुन्दर है पर मालूम होता है कि इसकी बड़ी दुर्दशा हो गई है। तो भी आकृति से जान पड़ता है कि यह कोई राजवंश की है या किसी राजा की रानी है और इसके साथ अत्यन्त सुन्दर

और शुभ लक्षणों वाला पुत्र है।' ऐसा विचार कर प्रवर्तिनी ने तारा को पुत्र के साथ शय्यातर श्रावक के घर भेज दी। वह श्रावक उसे अपनी लड़की की तरह रख कर और कुमार का हमेशा भाँति-भाँति के अन्न पान और वस्त्रों से पालन करने लगा। कुछ दिन बीतने पर श्रम रहित और सुख से बैठी हुई तारा से प्रवर्तिनी जी ने पूछा-''बच्ची! अब तुझे क्या करना है?''

तारा- पूज्य! मेरा पति, जो राजा था, वह, युद्ध में मारा गया है, उसके विन्ध्यावास नगर को कोशल राजा ने छिन्न-भिन्न कर डाला है और तमाम सेना कौए की तरह भाग गई है। मेरे पति का शत्रु कोशल राजा बहुत बलवान् सेना के सहित है और मेरा पुत्र सेना के बिल्कुल रहित है। मेरी राज्यलक्ष्मी मुझे फिर मिल जायेगी, ऐसी आशा मुझे बिल्कुल नहीं है। इसलिए इस मिले हुए मौके पर मैं ऐसा काम करना चाहती हूँ कि फिर कभी ऐसी विपत्ति न भोगनी पड़े। आप पूज्य हैं, मुझे जो आज्ञा देंगी, वही मैं अवश्य करूँगी।

प्रवर्तिनी- पुत्री यदि तेरा यही निश्चय हो तो पुत्र ताराचन्द्र को दीक्षा लेने के लिए हमारे आचार्य के पास भेज दे और तू हमारे पास दीक्षा ले। इस प्रकार अपने दुःख को दबा। ऐसा करने से तू सब को नमस्कार करने योग्य होगी और संसार- सम्बन्धी तेरे सभी दुःख दूर हो जायेंगे।

यह सुनकर तारा ने उनकी आज्ञा स्वीकार की और निष्कपट तारा ने तुरंत ताराचन्द्र को श्री अनन्तनाथ भगवान् के तीर्थ में विचरने वाले श्रीधर्मनन्दन आचार्य को व्रत ग्रहण कराने के लिए अर्पण कर दिया। आचार्य ने उसे विधिपूर्वक दीक्षा दी।

कुछ समय व्यतीत होने पर वह राजकुमार मुनि जवान हुआ और कर्म के वश से अभ्यास करने में आलसी हो गया। हमेशा तलवार, धनुष्, गन्धर्व, नृत्य, वादित्र में मन दौड़ाने लगा। आचार्य महाराज ने सिद्धान्त के अनुसार उसे स्वयं मीठे वचनों से उपदेश दिया, उपाध्याय, साधु तथा दूसरे-दूसरे श्रावकों ने भी समझाया, तो भी उसका मन उसमें न लगा और अकार्य विचार से पीछे न हटा। कहा है-

स्वभावो नोपदेशेन, शक्यते कर्त्तुमन्यथा।
सुशिक्षितोऽपि कापेयं, कपिस्त्यजति नोद्यतः।।

अर्थात् उपदेश के द्वारा स्वभाव नहीं बदला जा सकता, क्योंकि बन्दर को कितनी ही अच्छी तरह शिक्षा दी जाय, परन्तु वह अपनी कपिता(चञ्चलता)नहीं छोड़ता।

एक बार धर्मनन्दन सूरि 'बाह्यभूमि' के लिए जा रहे थे। ताराचन्द्र भी गुरु के पीछे-पीछे वन में गया। वहाँ चूहों को अपने इच्छानुसार क्रीड़ा करते देखकर उसने सोचा-'अहो! ये चूहे मनचाही क्रीड़ा करते हैं, किसी के आगे नमते नहीं हैं और दुर्जनों के वचन भी कभी नहीं सुनते। ये चूहे बड़े भाग्यवान् मालूम होते हैं। हम तो इतने पराधीन हैं कि बेड़ियों का दृढ बन्धन न होने पर भी हमको सदा बन्धन में रहना पड़ता है। पर्वत और वृक्ष पर बिना चढ़े ही हमारा हमेशा उतने ऊँचे से पतन होता है, हम जीवित होने पर भी मरे हुए के समान ही हैं, क्योंकि एक कहता है- 'ऐसा कर' दूसरा कहता है- 'वैसा कर', तीसरा कहता है-'गुरु के चरण पखार (धो)' चौथा कहता है- 'भूमि का प्रमार्जन कर', पाँचवाँ कहता है-'वैयावृत्य कर', छठा कहता है- 'वन्दना दे', सातवाँ कहता है-'प्रतिक्रमण कर'। इस तरह पाँहुने जैसे वचनों से मुझे सदा प्रेरणा की जाती है। मैं पल भर भी नारकी जीवों की तरह कभी सुख का अवसर नहीं पाता। इसलिए ये चूहे मुझसे सुखी दीख पड़ते हैं।' इस प्रकार के विचार करता हुआ ताराचन्द्र मुनि कुछ समय तक चारित्र का पालन करके, पहले के बुरे विचार रूपी शल्य की गुरु के पास बिना आलोचना किये ही अकाल मृत्यु से मरकर ज्योतिष्क निकाय में कुछ कम एक पल्य की आयु वाला देव हुआ। वहाँ देवों के भोग-भोग कर आयु पूर्ण होने पर इसी नगरी के ईशान कोण में जङ्गल में चूहा हुआ। जब वह जवान हुआ तो अनेक चूहियों के साथ क्रीड़ा करने लगा। आज यह अपने बिल से बाहर निकला। इतने में सुगन्धी गन्धोदक और फूलों की वर्षा की सुगन्ध को सूँघकर, उसी सुगन्ध का अनुसरण करता हुआ यहाँ (समवसरण में) आकर धर्मोपदेश सुनने लगा। यहाँ मेरे वचन सुनने से इसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इसने सोचा-'पहले भव में मैंने शल्य सहित व्रतों का पालन किया, इससे मैं ज्योतिष्क निकाय में देव हुआ, फिर वहाँ से जंगली चूहा हुआ हूँ। अहा! कर्म का कैसा फल है? संसार के विलास को धिक्कार है कि जिसके कारण मैं देव होकर फिर तिर्यञ्च गति में चूहा हुआ। पास में विराजे हुए भगवान् के चरणकमल के पास

जाकर उन्हें नमस्कार करके पूछूँ कि मैं इस चूहे के भव के बाद कौनसा भव पाऊँगा? ऐसा विचार कर यह मेरे पास आया। इसका अन्तःकरण भक्ति-भार से भर गया था। यह अपने मन में मेरी इस प्रकार स्तुति करने लगा- 'तीन लोक के मुकुट के समान भगवन्! इस संसार में जो प्राणी तुम्हारी आज्ञा का लोप करता है, वह चिरकाल तक दुर्गति में घूमता-फिरता है।'

भगवान् ने मुख से चूहे का ऐसा वृत्तान्त सुनकर गणधर महाराज यद्यपि ज्ञानी होने से जानते थे, तो भी लोगों को प्रतिबोध हो, इस अभिप्राय से भगवान् से पूछने लगे-'प्रभो! इस चूहे ने पहले क्या पाप किया था, जिस के प्रभाव से यह चूहा हुआ है?'' भगवान् ने उत्तर दिया-''पूर्व भव में जब यह साधु था, तब गच्छ में रहने रूप बन्धन से इसके चित्त में खेद हुआ था। जब यह 'बाह्य भूमिका' को गया था तब वहाँ इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए चूहों को देखकर इसने सोचा था कि 'इस जङ्गल में ये चूहे अत्यन्त धन्य हैं।' इस दुष्ट विचार रूपी शल्य के साथ इसने व्रतों का पालन किया था। इसके प्रभाव से इसने देव और चूहा दोनों की आयु बाँधी थी।'' यह सुनकर गणधर ने भगवान् से फिर पूछा-''स्वामिन्! सम्यग्दृष्टि जीव को तिर्यञ्च की आयु का बन्ध होता है या नहीं?'' भगवान् ने कहा-'' गणधर! सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यञ्च-आयु को भोगता है, बाँधता नहीं है, क्योंकि यदि सम्यक्त्व को वमन न किया हो या सम्यक्त्व होने से पहले आयु का बन्ध न कर लिया हो तो वह अवश्य ही वैमानिक देव होता है। परन्तु इस चूहे ने देव-भव में सम्यक्त्व का वमन करके तिर्यञ्च की आयु बाँधी थी।'' यह सब हाल सुनकर इन्द्र ने पूछा-''भगवन्! यह चूहा यहाँ से वापस जंगल में जाता हुआ विचार करेगा कि 'अहो, संसार का अन्त बड़ी कठिनाई से होता है। कुश के अग्रभाग पर ठहरी हुई जल की बूँद के समान जीवन चञ्चल है और विषय का सुख भी क्षणिक है। इसलिए निदान[१] आदि की शल्य रखना ठीक नहीं है। फिर चूहे की जाति महानीच है तथा जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म दुर्लभ है, अतः इसी भव में महामन्त्र के ध्यान में लीन होकर मरना ही श्रेष्ठ है जिससे अब की बार ऐसा जन्म मिले कि जिसमें साधुपना लिया जा सके।' ऐसा विचार कर उसी जगह चारों आहारों

---

१. आगामी विषय भोगों की इच्छा न रखना।

का त्याग कर मेरे वचनों को तथा संसार के दुष्ट स्वरूप को विचारता हुआ नवकार मन्त्र के ध्यान में लीन हो जायगा। उसे ऐसी दशा में देख कर चूहियाँ उसके पास चावल और कोदों आदि भोजन डालेंगी। उसे देखकर चूहा विचार करेगा-'अनन्त भवों में भ्रमण करते-करते इस जीव ने मेरु पर्वत से अधिक आहार और समुद्र से भी अधिक जल ग्रहण किया है। जब इतने से भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ तो इतने से दाने खाने से इसे कैसे तृप्ति होगी?' ऐसा विचार कर यह चूहा उन्हें खायगा नहीं और चूहियों के ऊपर जरा भी दृष्टि न डालेगा। यह देखकर चूहियाँ सोचेंगी अपना स्वामी किसी कारण से नाराज हो गया मालूम होता है। इसे हम राजी करें। चूहियाँ ऐसा विचार कर उसके पास जायेंगी। उनमें से कितनेक उसका मस्तक खुजायेगी और कितनीक शरीर पर हाथ फेरेंगी। चूहियों द्वारा चारों ओर से सेवित चूहा सोचेगा ये स्त्रियाँ सदा नरक का मार्ग हैं, तथा संसार के दुःखों की जड़ हैं। ऐसा सोचकर वह स्थिर समाधि में मग्न रहेगा। जैसे आँधी से सुमेरु का शिखर जरा भी नहीं डगमगाता, उसी प्रकार चूहियों से उसका मन भी नहीं डिगेगा। जब चूहियाँ निराश हो जायेंगी तो 'हमारा प्रयत्न वज्र पर नाखून के द्वारा लकीर करने के समान व्यर्थ होता जा रहा है' ऐसा विचार करके उसे छोड़ देंगी। इसके पश्चात् तीसरे दिन भूख से कमजोर कूँख वाला चूहा मृत्यु पाकर, मिथिला नगरी में, मिथिल राजा की चित्रा नामकी पटरानी के उदर रूपी सरोवर में राजहंस की लीला को अलंकृत करेगा- गर्भ में आवेगा। उसके गर्भ में आते ही उसकी माता का मन सब जीवों पर मैत्री की वासना से सुवासित हो जायगा। समय बिताने पर जब उसका जन्म होगा तो राजा मित्रकुमार नाम रखेगा। कुमार कौतूहल पूर्वक कुत्ता, बन्दर, सांबर, हरिण और चूहा आदि जानवरों को पींजरों में रख कर उनके साथ क्रीड़ा करता हुआ आठ वर्ष का होगा। किसी समय वर्षा काल आवेगी। मेघ-मालाओं से समस्त आकाश मण्डल ढँक जायगा। वह विरही जनों के लिए काल के सदृश होगा। उस समय जल को पाकर नदियाँ किनारे के वृक्षों को उखाड़ फेकेंगी। ठीक है-'नीच आदमी राजा की विभूति पाकर किसे दुःख नहीं देता? सभी को देता है।' उस समय बादल ज्यों-ज्यों पृथ्वी पर पानी की वर्षा करते हैं, स्त्रियाँ त्यों-त्यों कामदेव से पीडित होकर वन-उद्यान की इच्छा करती हैं। अंधेरी रात में, आकाश में उड़ते हुए जुगनू (खद्योत)

ऐसा प्रकाश करते हैं मानो स्त्रियों के हृदयों में उठी हुई विरहाग्नि की चिनगारियाँ उड़ रही हों। ऐसे समय में योगियों का भी मन चञ्चल हो उठता है तो दूर रहने वाले बेचारे मुसाफिरों के मन का कहना ही क्या है? वर्षा ऋतु सब प्राणियों को प्यारी लगती है, परन्तु वियोगिनी स्त्रियों को अत्यन्त निष्ठुर लगती है। उस समय मयूर नाच करते हैं, मेघ गर्जना करते हैं, और बिजली चारों दिशाओं में चमचमाहट करती है। 'मेरे आने पर भी ये प्याऊ क्यों बनी हुई हैं? ऐसा आक्षेप करता हुआ मेघ खूब जल की वर्षा करके समस्त प्रपाओं को व्यर्थ कर देता है। ऐसे वर्षाऋतु के मौसम में मित्रकुमार नगर से बाहर जाकर, रस्सी से बाँधे हुए पशु-पक्षियों के साथ क्रीड़ा करेगा। इतने में उसी स्थान से होकर एक अवधिज्ञानी मुनि निकलेंगे। मुनि पीछे लौटकर कुमार की चेष्टा देख कर ज्ञान का उपयोग लगावेंगे और सोचेंगे-'अहो, इसकी कैसी जघन्यतर प्रकृति है? परन्तु इसका कारण क्या है? ऐसा सोचकर अवधिज्ञान के प्रयोग से देखने पर मुनि हथेली में रखे हुए कमल की तरह ताराचन्द्र के भव में साधुपन, ज्योतिषी विमान में देवपन, चूहापन, फिर इस भव में प्राप्त हुआ राजकुमारपन, ये सब बातें जानेंगे। इसलिए 'यह जीव बोध देने योग्य है' ऐस विचार कर मुनि कहेंगे-'राजकुमार! पहले जन्म में प्राप्त हुआ साधुपन, देवपन और चूहापन, तुझे याद हैं कि नहीं? क्यों इन जीवों को वृथा सता रहा है?' साधु के वचन सुनकर कुमार विचार करेगा-'अहो, इस साधु ने मुझ से क्या कहा है? साधु, ज्योतिष्क देव, चूहा। मुझे याद आता है कि ये शब्द पहले भी कभी मैंने सुने हैं, ऐसा ऊहापोह करते समय कुमार को उस प्रकार के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होगा, फिर संसार को दु:खों का सागर जान कर उसी दम उन्हीं मुनि के पास वह दीक्षा ग्रहण कर लेगा। दीक्षा लेने पर नाना प्रकार के अभिग्रह करके तथा समाधि पूर्वक विविध प्रकार की तपस्या करके, क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर अन्तकृत केवली होगा। इन्द्र! इसलिए मैं कहता हूँ कि यह चूहा हम सब से पहले मोक्ष पा जावेगा क्योंकि मेरा आयुष्य अभी दस हजार वर्ष का बाकी है।''

भगवान् के मुख से चूहे का इस प्रकार का वृत्तान्त सुनकर इन्द्र आदि देवों तथा मनुष्यों के मन में बहुत ही कौतुक उत्पन्न हुआ।

इसके अनन्तर जिसका अन्तःकरण भक्ति से भर गया है ऐसे इन्द्र ने उस चूहे को हाथ में लेकर कहा-'अहो मूषक! तू हम से पहले मोक्ष पद पावेगा ऐसा भगवान् ने कहा है। देवों! देखो, श्री जिनेश्वर के मार्ग का कैसा प्रभाव है? जिससे तिर्यञ्च भी दूसरे भव में मोक्ष पाते हैं।'' इसके पश्चात् सौधर्म इन्द्र की ही तरह दूसरे वैमानिक इन्द्रों ने, असुरेन्द्रों ने और सैकड़ों राजाओं ने चूहे को राजकुमार की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में लेते हुए आलिङ्गन किया। स्नेह के कारण पराधीन हुई दृष्टि से उन्होंने यह कहकर अत्यन्त प्रशंसा की कि 'यह चूहा हम से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि आगामी भव में ही इसे मोक्ष प्राप्त होगा। जिनेन्द्र का वचन कभी मिथ्या हो ही नहीं सकता।'

इसके बाद पद्मप्रभ देव ने खड़े होकर हाथ जोड़कर भगवान् से पूछा- ''प्रभो! हम पाँचों मित्र भव्य हैं या अभव्य हैं?''

भगवान्- तुम भव्य हो और सुलभबोधी हो।

पद्मप्रभ- पूज्य! हम पाँचों कितने दिन में मोक्ष पावेंगे?

भगवान्- तुम पाँचों इस भव से चौथे भव में समस्त दुःखों के क्षय रूप मोक्ष-पद पाओगे।

पद्मप्रभ- स्वामिन्! यहाँ से चय कर हम लोग कहाँ उत्पन्न होंगे?

भगवान्-''यहाँ से चयकर तुम वणिक्पुत्र होओगे, पद्मवर राजकुमारी होगा, पद्मसार राजकुमार होगा, पद्मचन्द्र विन्ध्य पर्वत पर सिंह होगा और पद्मकेशर भी राजपुत्र होगा।'' इतना कहकर श्री धर्मनाथ भगवान् मौन रह गये। देवता समवसरण को संहार कर अपने-अपने स्थान को गये और भगवान् भी भव्य-जन रूपी कुमुदों को प्रफुल्लित करने के लिए चन्द्रमा की तरह विहार करने में प्रवृत्त हुए।

इसके बाद वे पाँचों देव अपने विमान में पहुँचकर आपस में बातचीत करने लगे। एक ने दूसरे के सामने देखकर कहा-''स्वयं श्री भगवान् ने जो कुछ कहा है वह तो तुमने सुना ही है। अब सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए ?'' दूसरे ने कुछ सोच-विचार कर कहा- ''हम लोगों को अत्यन्त कठिन कठिन कार्य करना है क्योंकि एक वणिक्पुत्र होगा, एक

राजकुमारी होगा, एक सिंह होगा और दो राजकुमार होंगे। कुछ भी समझ में नहीं आता कि हमें कैसे बोधि-लाभ होगा? अपना संगम कहाँ होगा? इसलिए पद्मकेशर! भगवान् ने कहा है कि तू सब से पीछे स्वर्ग से चय होगा। इसलिए तुम अवधिज्ञान से जानकर हम चारों जहाँ उत्पन्न हों, वहाँ आकर हमें सम्यक्त्व देना। हाँ, स्वर्ग की अप्सराओं के स्तन स्पर्श के सुख में मग्न होकर इस समय कही हुई बात भूल मत जाना।'' यह सुनकर पद्मकेशर बोला-''मैं तुम्हें सम्यक्त्व दूँगा, किन्तु यदि तुम्हारा मन उस समय मोह से मोहित हो जायगा और मेरी बात न मानोगे तो उसका क्या उपाय करना होगा?'' पद्मकेशर की बात सुन चारों बोले-''तुमने यह अच्छी याद दिलाई। अभी इसका उपाय करना चाहिए। अपने पूर्व भव के मनुष्य का आकार रत्नों का बना कर एक जगह रख देना चाहिए। वे आकार मौका आने पर हमें दिखलाना। इससे उन आकारों को देखने से शायद पूर्व जन्म का स्मरण हो जाय और धर्म में प्रीति हो जावे।'' ऐसा कहकर उन्होंने मध्यलोक में उसी वन में, जहाँ सिंह उत्पन्न होने वाला था, अपने आकार एक गुफा में रख दिये और उस गुफा के द्वार पर एक बड़ी भारी शिला अड़ा दी। फिर पाँचों अपने, विमानों में आकर वहाँ की लक्ष्मी को भोगने लगे और दिव्य आनन्द का अनुभव करने लगे।

कुवलयचन्द्र कुमार! इसके बाद पाँचों में से पद्मप्रभ देव के शरीर की कान्ति क्षीण हुई। मुख मुरझा गया। मन दीन हो गया। अन्त में पवन से प्रतिहत प्रदीप की तरह वह तत्काल बुझ गया- मर गया।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में शत्रु-राजाओं को कँपा देने वाली चम्पा नाम की नगरी है। उसमें लगे हुए चम्पक वृक्षों की सुगन्ध से नन्दनवन का अनुभव होता है। उस नगरी में पवित्र बुद्धिवाला मनुष्यों में मुकुट के समान धनदत्त नाम का एक सेठ है। वह अपनी लक्ष्मी से कुबेर की लीला का अनुभव करता है। इस सेठ की विष्णु की लक्ष्मी जैसे प्रिया है उसी प्रकार, लक्ष्मी नाम की प्रिया है। वह देव वहाँ से चय कर उसकी कोख में आया। जब उसका जन्म हुआ तो सागरदत्त नाम रखा गया। पाँच धायें उसका पालन करती थीं। वह कान्ति, गुण और कलाओं के साथ बढ़ता-बढ़ता युवावस्था रूपी लक्ष्मी को प्राप्त हुआ। उसके पिता ने उसे समान आचार और स्वभाव वाली किसी वणिक् की श्री

नामकी कन्या से ब्याह दिया। वह उसके साथ इच्छानुसार सदा विषय-सुख भोगता था, कि इतने में शरद् ऋतु की शोभा प्राप्त हुई। जैसे न्यायी पुरुष लक्ष्मी पाकर विनीत हो जाते हैं उसी प्रकार फलों को पाकर कलामशालियाँ नम्रता धारण करने लगी। जल सत्पुरुषों के हृदय की तरह निर्मल हो गया। सप्त-वर्ण वृक्षों के फूलों की सुगन्ध से समस्त दिशाएँ सुगन्ध-युक्त हो गईं। तीव्रकर-सूर्य-दुष्ट राजा की भाँति सारे पृथ्वीमण्डल को अपने तीव्रकरों[1] से मनमाना ताप पहुँचाने लगा। मदिरा से जीने वाले कलाल भी सन्मार्ग के दूत से हो गये। सरोवर के अलंकार रूप राजहंस आकर क्रीड़ा करने लगे। ऐसे शरद् ऋतु के समय में सागरदत्त अपने स्नेही और मुग्ध बन्धुजनों के साथ नगरी के बाहर गया। वहाँ कौमुदी (चाँदनी) का महोत्सव देखकर वह जब वापस लौट रहा था तो किसी चौराहे पर, नटों की टोली में से एक नट किसी कवि का बनाया हुआ एक श्लोक बोला! उसने यह श्लोक सुना। वह यह था-

यो धीमान् कुलजः क्षमी विनयवान् वीरः कृतज्ञः कृती,
रूपैश्वर्ययुतो दयालुरमदो दाता शुचिः सत्रपः।
सद्भोगी दृढसौहृदोऽतिसरलः सत्यव्रतो नीतिमान्,
बन्धूनां निलयो नृजन्म सफलं तस्येह चामुत्र च।।

अर्थात्-जो मनुष्य बुद्धिमान्, कुलीन, क्षमावान्, विनयवान्, वीर, कृतज्ञ, निपुण, रूपवान्, ऐश्वर्यवान्, दयालु, अभिमान-रहित, दानी, पवित्र, लज्जावान्, अच्छा भोगी, दृढ मैत्री वाला अत्यन्त सरल स्वभाव वाला, सच्चा, नीतिमान् और बन्धुओं का सहारा हो, उसका मनुष्यजन्म इस लोक और परलोक में सफल है।

इस सुभाषित काव्य के रस से सागरदत्त का चित्त अति प्रसन्न हुआ। उसने कहा-"भरतपुत्र! तेरी कविता से प्रसन्न होकर तुझे एक लाख का धन देता हूँ।" यह सुनकर किसी ने उसकी प्रशंसा की-"अहो! यह सागरदत्त सेठ बड़ा रसिक है, चतुर है, दातार है, अवसर का जानकार है और बड़ा सात्त्विक है।" यह बात सुन दूसरे लोग बोले-"ओहो! इसमें इसकी क्या प्रशंसा करते हो? इसके पुरुखों ने तो द्रव्य कमाया है, वह उसे यह याचकों को दे रहा है। इसमें इसकी

१. सूर्य तेज किरणों से और राजा अधिक कर से ताप पहुँचाता है।

क्या प्रशंसा है? जो पुरुष अपने बाहु-बल से कमाये हुए धन को इस प्रकार खर्च करे वही प्रशंसा का पात्र है।'' यह सुनकर सागरदत्त ने सोचा-'लोग मेरी हँसी उड़ाते हैं।' यह वचन उसके मन में काँटे की तरह चुभ गया। वह बहुत ही लज्जित होकर, आपत्ति में पड़े हुए आदमी की तरह खिन्न-चित्त होकर अपनी शय्या पर बैठा। कहा भी है-

विज्ञानामप्यविज्ञानां, मुदे मिथ्याऽपि स्तुतिः।

निन्दा सत्याऽपि विज्ञानामपि दुःखाय जायते।।

अर्थात् झूठी प्रशंसा भी बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों को प्रसन्न कर देती है किन्तु निन्दा यदि सच्ची हो तो भी बुद्धिमानों को उससे दुःख होता है। चेष्टा और आकृति मनोभाव जानने में कुशल उसकी स्त्री श्री ने उस समय सोचा- 'मालूम होता है किसी कारण से आज मेरे पति को उद्वेग (खेद) हो रहा है।' कहा है-

जानन्ति जल्पितादपि, निःश्वसितादपि विलोकितादपि च।

ते परमनांसि येषां, मनःसु वैदग्धमधिवसति।।

अर्थात्-जिनके मन में चतुराई होती है वे दूसरों के मन की बात बोली से, स्वासें छोड़ने से और देखने से जान लेते हैं।

फिर वह बोली-''स्वामिन्! आज तुम उदास कैसे मालूम होते हो?'' सागरदत्त अपनी आकृति को छुपा कर बोला-''प्रिये! कुछ नहीं है। आज शरत् पूनम के दिन कौमुदी के महोत्सव देखने से बहुत थकावट हो गई है, इसलिए ऐसा मालूम होता है, और कोई कारण नहीं है।'' इतना कहकर वह चुप हो गया। इसके अनन्तर रात में शयनगृह में वह थोड़ी देर बनावटी नींद में सोया और क्षण भर में ही कुछ विचार करने लगा। अपनी स्त्री को सो गयी जानकर वह धीरे-धीरे उठा। उसने एक कपड़े का टुकड़ा पहना और एक टुकड़ा कन्धे पर रख लिया। फिर उसी शयनगृह में के ऊपर अपना बनाया हुआ एक श्लोक खड़िया के टुकड़े से लिखा। वह श्लोक यह था-

वर्षान्तरे न यद्यस्मि, सप्तकोटीः समर्जये।

विशामि ज्वलनेऽ वश्यं, ज्वालामालाकुले ततः।।

अर्थात् यदि मैं एक वर्ष में सात करोड़ धन न कमा सकूँगा तो ज्वालाओं की माला से व्याप्त अग्नि में अवश्य प्रवेश करूँगा।

इस प्रकार लिखकर सागरदत्त निवास-गृह से बाहर निकल कर, शहर के पानी निकलने के रास्ते दक्षिण की ओर रवाना हुआ। वह चलते-चलते भिन्न- भिन्न देशों का हाल जानता हुआ दक्षिण समुद्र के किनारे शोभायमान जयश्री नामकी नगरी के पास आया। वह नगरी के बाहर एक पुराने बगीचे में अशोकवृक्ष के नीचे रास्ते की थकावट मिटाने की लिए बैठ गया। वह विचारने लगा-'मैं मच्छ, कच्छप, मगर और हिलोरों से भयङ्कर इस समुद्र को जहाज में बैठकर पार करूँ? या चामुण्डा देवी के पास जाकर तीक्ष्ण कटार से दोनों जाँघों को चीरकर उनमें से निकलते हुए रक्त से पृथ्वी को लथपथ करके, माँस के टुकड़ों से बलिदान दूँ? अथवा दूसरे सब उद्योगों को लात मार कर रात-दिन रोहणाचल पर्वत से धातुवाद (रसायन बनाना) सीखूँ? इस प्रकार के संकल्प विकल्पों से सागरदत्त का मन व्याकुल हो गया। इतने में उसे एक जगह नारियल के वृक्ष के नीचे उगता हुआ एक नवीन अङ्कुर दिखाई दिया। उसे देख कर सागरदत्त को नया सीखा हुआ 'खन्यवाद' याद आया। उसने 'नमो धरणेन्द्राय नमो धनदाय, नमो धनपालाय 'यह मन्त्रोच्चारण कर जमीन खोदी तो उसे एक निधि दीख पड़ी। ज्यों ही उसने निधि लेने का विचार किया, त्यों ही आकाशवाणी हुई-'वत्स! यद्यपि तूने समस्त खजाना देख लिया है, तो भी तू इसमें से थोड़ा- एक खोवा भर-धन पूञ्जी के लिये ले।' यह सुनकर सागरदत्त ने उसमें से सिर्फ एक खोवा रुपया लिये। वह खजाना भी तत्काल गायब हो गया। उसने उस धन को कँधे के कपड़े के छोर में बाँध लिया। फिर उस उत्तम वणिक् ने विचार किया-'देखो, भाग्य कैसा चपल है! दैव पहले तू ने खजाना दिया, फिर क्यों ले लिया? तेरे इस बर्ताव से मुझे मालूम हुआ कि तेरी गति चञ्चल है। तो भी, यदि तू (दैव) मध्यस्थ वृत्ति धारण करेगा तो मैं इतने ही से सात करोड़ के छोर द्रव्य उपार्जन करके अपनी प्रतिज्ञा को सच्ची कर दिखाऊँगा।' ऐसा विचार कर जिसके मन में सन्तोष हो गया है, ऐसा सागरदत्त उस नगरी में प्रविष्ट हुआ। उसने नगरी में सरल और स्वभाव से सुशील एक वृद्ध वैश्य को देखा। उसे देखकर वह विचार करने लगा-'इसका चेहरा मनोहर है, यह बड़ा व्यापारी और सब का मुखिया जान

पड़ता है। इसके चरणों में प्रणाम करना उचित है। सागरदत्त ने उसे प्रणाम किया और उसके पास बैठ गया। बूढे सेठ ने भी अत्यन्त आदर के साथ उसका स्वागत किया। उस समय नगरी में कोई उत्सव था, इस कारण सेठ की दुकान पर आस पास के गाँवों के लोग बड़ी उत्सुकता से चीजें खरीदने आये। सेठजी का शरीर बुढ़ापे के कारण बिलकुल शिथिल हो गया है, इसलिए वह एकदम बहुत चीजें नहीं दे सकते ऐसा जानकर सागरदत्त बोला- ''पिताजी! दुकान से चीजें लाकर तुम मुझे देते जाओ और मैं युक्ति से तौल तौल कर ग्राहकों को देता जाऊँ। यह कहकर वह तौल-तौल कर देने लगा। 'यह आदमी जल्दी माल देता है। यह देख सब ग्राहक उसी दुकान पर आने लगे। सागरदत्त ने उन सबको फौरन माल देकर विदा किया। उस माल के बेचने में सेठजी को बहुत ज्यादा नफा हुआ। सेठ जी ने सोचा-'यह लड़का किसी बड़े कुल में पैदा हुआ और पुण्यात्मा जान पड़ता है। इसलिए यदि मेरे ही घर रहे तो बहुत अच्छा हो।' फिर वह बोला-''बेटा! तू कहाँ से आया है?'' सागरदत्त ने जवाब दिया-''पिताजी! मैं चम्पा नगरी से आया हूँ।'' सेठ ने कहा-''बच्चे! तू मेरे घर को शोभित कर, मेरे घर पर रह।'' सागरदत्त सेठ के साथ उसके घर चला गया। सेठ ने अपने पुत्र की तरह प्रेमपूर्वक भोजन-पान से उसका सत्कार किया।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। सागरदत्त के गुणों से वृद्ध सेठ का मन सन्तुष्ट हो गया। उसने नवीन खिले हुए यौवन वाली, मुख चन्द्रमा की कान्ति से युक्त विकसित कमलपत्र के ऐसे बड़े-बड़े नेत्रों वाली रति के समान मनोहर अपनी कन्या सागरदत्त को देना चाहा। किन्तु सागरदत्त ने उसके साथ ब्याह करना स्वीकार न किया। उसने कहा- ''पिताजी! मैं कुछ कहना चाहता हूँ वह यह कि मैं अपने घर से किसी कारण से निकला हूँ। यदि मेरा वह कार्य सिद्ध हो गया तो आप जो कहेंगे, अवश्य करूँगा। कदाचित् सिद्ध न हुआ तो अग्नि ही मेरे लिए शरण है। इसलिए पिताजी! अभी इस विषय में आप आग्रह न कीजिये।'' सेठजी बोले-''अच्छा, यदि ऐसा ही है तो मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ?'' सागरदत्त- '' यदि आप हमारे सच्चे पिता ही हैं तो मेरी पूँजी से समुद्र के उस पार ले जाने योग्य माल खरीद कर दीजिये और एक जहाज भाड़े पर दिलवा दीजिये। मुझे समुद्र पार जाना है।'' सेठजी ने 'बहुत अच्छा'

कहकर उसी दिन से आगे होकर ले जाने लायक माल खरीद करना प्रारम्भ किया। अनगिनती चीजें लेकर, ज्योतिषी के द्वारा बताये हुए शुभ मुहूर्त में समुद्रदेव की पूजा करके, तपस्या से गुरुता को प्राप्त हुए गुरु को नमस्कार करके, श्री अरिहंत भगवान् की पूजा करके सेठ को प्रणाम करके और उससे आज्ञा लेकर तथा पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान करके सागरदत्त जहाज पर चढ़ा। जहाज का पाल ताना गया। अनुकूल हवा चलने लगी। जहाज समुद्र को पार करके यवन द्वीप में आ पहुँचा। वहाँ खरीद-बेच करके सागरदत्त ने सात करोड़ द्रव्य कमाया। फिर वह प्रसन्नचित्त होकर अपने देश की ओर रवाना हुआ। जहाज मध्य समुद्र में आया कि कर्म के योग से वर्षा ऋतु न होने पर भी काजल की तरह काले और जल से भरे हुए बादल आकाश में चढ़ आये। उनके अन्धकार से सारा आकाश मण्डल ढँक गया। नक्षत्र आदि दिखाई न देने से खलासी दिशा-मूढ हो गये। जाने की उतावली से चलाया हुआ जहाज किसी पर्वत की खड़क चट्टान से टकरा कर स्त्री को बताई हुई बात की तरह तत्काल भग्न हो गया। उसमें बैठे हुए सब आदमी मर गये, केवल सागरदत्त ही जहाज पटिया मिल जाने से बड़ी -बड़ी तरङ्गों से प्रेरित होकर कठिनाई से पाँच दिन रात में चन्द्रद्वीप में आ पाया। वहाँ आकर उसे मूर्छा आ गई। उसकी आँखें मुँद गई। किनारे के किसी वृक्ष के नीचे क्षण भर हवा लगने से वह होश में आया। प्यास के मारे उसकी चित्तवृत्ति इसलिए चञ्चल हो रही थी और जोर की भूख लगने से वह इधर-उधर घूमने लगा। किसी जगह उसे नारियल, नारंगी, बिजोरा, फालसा और अनार आदि के फले हुए वृक्ष दिखाई दिये। उन फलों से आहार करके आगे बढ़ा तो चन्दन और लोंग का लतागृह देख कर उसके मन में कुतूहल हुआ। वह उसी जगह जाने लगा। इतने में किसी का शब्द उसके कान का अतिथि हुआ- सुनाई दिया। यह शब्द सुनकर उसने सोचा 'इस प्रदेश में पहले तो किसी आदमी का आवागमन ही नहीं मालूम होता, फिर यह किसी बाला का शब्द कहाँ से सुनाई दिया? ओहो! मैं भी कहाँ आ फँसा हूँ? जो कहानियों में नही सुना जाता और जो कभी स्वप्न में भी दिखाई नहीं देता वही भाग्य के योग से प्राप्त हो जाता है।' यह सोच कर उसने अच्छी तरह देखा तो केले के वृक्षों के झुण्ड में लगे हुए अशोक वृक्ष के नीचे, सामान्य रूप से अतिशय रूपवती और गुणों से सुन्दर मानो कोई

वन देवता है, ऐसी स्त्री अपने गले में फाँसी लगाई हुई नजर आई स्त्री बोली -"वन की देवियों! सुनो! अब फिर दूसरे जन्म में मुझ पर ऐसी न होना" इतना कह कर उसने अपने गले में फाँसी लटकाई। इसी समय करुणा के आधार सागरदत्त ने पहुँच कर उसकी फाँसी फौरन काट डाली। वह पृथ्वी पर जा गिरी। सागरदत्त ने हवा करके उसे तसल्ली दी और चन्दन की कोंपलों के रस से उसके वक्षःस्थल पर लेप किया। इससे उसे होश आगया। किन्तु अपने पास बैठे हुए सागरदत्त को देख कर उसके हृदय में भय उत्पन्न हुआ। इसलिए वह वहाँ से जाने लगी। उस समय सागरदत्त ने उससे कहा- "कृशोदरी! क्या तुम कामदेव की स्त्री (रति) हो। वनदेवी हो? या कोई दूसरी स्त्री हो? तुमने अपने को किस कारण से इस विपत्ति में डाला है? यह सब हाल कहो।" स्त्री ने उत्तर दिया-"मैं कामदेव की स्त्री नहीं हूँ, न वन की देवी हूँ। मैं अपना सच्चा वृत्तान्त बतलाती हूँ, ध्यान देकर सुनिये-

दक्षिण समुद्र के किनारे जयतुङ्गा नाम की एक नगरी है। उसमें कुबेर की तरह धनाढ्य वैश्रमण नाम का सेठ रहता है। मैं उसकी अत्यन्त प्यारी पुत्री हूँ। एक बार दिन के समय मैं अपने निवासगृह के जड़ाऊ अगासी में सेज पर सो रही थी। कुछ समय बाद अनेक पक्षियों और जंगली जानवरों की आवाज से जागकर मैंने आँखें खोलीं तो यह अरण्य दिखाई दिया जिसमें सैकड़ों वृक्षों के पौधों की पङ्क्तियों के कारण सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर सकतीं। इसे देखकर भय के आवेश से मेरा शरीर काँपने लगा। मैंने विलाप करना प्रारम्भ किया कि-हे पिताजी! मुझ निराधार को तुमने क्यों त्याग दिया? अब इस भयङ्कर अरण्य में मुझे कौन शरण देगा? मैं इस प्रकार विलाप कर रही थी कि इतने में किसी लतागृह में छिपा हुआ दिव्य वेषधारी पुरुष 'मैं तेरी शरण हूँ' कहता हुआ मेरी ओर आया। उसे देखकर मुझे दुगुना क्षोभ हुआ। मैं रोने लगी। वह पुरुष मेरे पास आकर कहने लगा-"हे सुन्दर अङ्ग वाली! मैं तुम्हारा जरा भी अनिष्ट नहीं करूँगा। तुम्हारे रूप पर मेरा मन ललचा गया, इसलिए मैंने ही तुम्हारा हरण किया है।"

"सुन्दर मुखवाली! सुनो मैं वैताढ्य पर्वत पर निवास करने वाला महाबलवान् विद्याधर हूँ। मैं देवाङ्गनाओं के मन में भी विकार उत्पन्न कर देता हूँ। आज मैं समस्त पृथ्वीतल देख रहा था, उसी समय ऊपर की अगासी पर

तुम्हें सेज पर सोती देखा। मैंने समझा-'यह कृशोदरी तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दरी है।' बस मैं तुम पर मोहित हो गया। तुम मेरे मन में प्रवेश कर गई। सुन्दरी! किसी आदमी को दैवयोग से किसी पर इतना अधिक प्रेम उत्पन्न हो जाता है कि वज्रलेप की तरह लगा हुआ प्रेम दूर नहीं किया जा सकता। फिर मैंने यह सोच कर कि यहाँ किसी दूसरे उपाय से काम नहीं चल सकता तुम्हें सोई हुई अवस्था में ही वहाँ से हरण कर लिया और अपने बड़े-बूढ़ों के भय की संभावना से अपने नगर की ओर न ले जाकर इस निर्जन द्वीप में तुम्हें लाया हूँ। इसलिए मेरे साथ भोग भोगो और मन में दुःख न करो।''

यह सुनकर मैंने विचार किया-'मैं अभी कन्या हूँ। मेरे माता-पिता ने किसी के साथ ब्याह नहीं किया है। मुझे कोई वणिक् ब्याहेगा, इसकी अपेक्षा सुन्दर आकृति वाला और तीन लोक की स्त्रियों का प्यारा यह विद्याधर प्रेम से मोहित मन होकर यदि पाणिग्रहण करे तो मुझे कौन सा सुख न मिलेगा?' ऐसा विचार कर मैंने कहा- ''तुम मुझे इसे अरण्य में लाये हो तो जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो।''

उसका मन खुशी से भर गया। इतने में ही तीखी तलवार खींचे हुआ एक भयानक विद्याधर आया और 'अरे नीच! कहाँ जाता है?' कहता हुआ मेरे प्रिय विद्याधर पर प्रहार करने लगा। मेरा पति भी हथियार खींचकर ''अरे दुष्ट! मेरी कलाओं का नाश करने वाले!! कहकर उसके साथ युद्ध करने लगा। इसके अनन्तर दोनों युद्ध करते-करते तीक्ष्ण तलवारों की चोट से एक दूसरे का मस्तक काट कर पृथ्वी पर गिर पड़े। इस घटना से मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। मैं विलाप करने लगी- ''हा प्यारे! हा सौभाग्य के खजाने!! अपने रूप की निधि से कामदेव को पराजित करने वाले हे स्वामी!!! इस निर्जन वन में मुझे अकेली छोड़कर कहाँ चले गये? हे प्राणेश! मुझे मेरे घर से लाकर यहाँ वन में अकेली छोड़कर तुम कहीं न जाओ। मुझे अपने घर ले चलो।'' इस प्रकार विलाप करके अन्त में मैंने मरने का निश्चय किया और फिर कभी संसार के ऐसे दुःखों की पात्री मैं न बनूँ-ऐसा सोचकर मैंने लतागृह की लताओं का पाश (फँदा) बनाया। अपनी आत्मा को शोक तथा स्त्रीजन्म की निन्दा करती हुई मैं ने कुलदेवी का स्मरण तथा माता-पिता को प्रणाम करके गले में फन्दा डाला। इसके बाद क्या हुआ?

सो मैं कुछ नहीं जानती। हाँ, तुम्हें हवा करते देखा। तुम कहाँ से आये हो? कहाँ के रहने वाले हो? इस दुर्गम द्वीप में कैसे आये सो बताओ।''

यह सुनकर सागरदत्त ने सात करोड़, द्रव्य उपार्जन करने की प्रतिज्ञा से लगाकर जहाज भग्न हो जाने तक का सारा हाल कह सुनाया। सागरदत्त का हाल सुनकर वह बोली ''इस प्रकार उल्टा कार्य होने से अब क्या करना है?''

सागरदत्त- प्राण भले ही चले जायें पर सत्पुरुष प्रतिज्ञा को भङ्ग नहीं करते।

स्त्री- भद्र! प्रतिज्ञा का निर्वाह होना तो भाग्य के अधीन है, इसमें तुम्हारा जरा भी दोष नहीं है। इसलिए अब तुम क्या करना चाहते हो?

सागरदत्त- मुझे समुद्र में भ्रमण करते-करते अब तक ग्यारह महीने हो चुके हैं। अभी बारहवाँ महीना चालू है। एक महीने में किस प्रकार सात करोड़ द्रव्य उपार्जन कर सकता हूँ? कदाचित् उपार्जन भी कर सकूँ तो उतना धन घर कैसे ले जा सकता हूँ? सुन्दरी! मेरी प्रतिज्ञा भ्रष्ट हो गयी और प्रतिज्ञा को भ्रष्ट करके अब जीवित रहना उचित नहीं है। इस लिए मैं तो अग्नि में प्रवेश करूँगा।

स्त्री- प्रतिज्ञा के भ्रष्ट होने से तुम यदि अग्नि में प्रवेश करना चाहते हो तो मैं भी पति के वियोग से तुम्हारी ही तरह अग्नि की साधना करूँगी। तुम कहीं से अग्नि खोज लाओ।

सागरदत्त-भद्रे! तुम्हें वैसा करना उचित नहीं है।

स्त्री-मैं इस वन में रह कर क्या करूँगी? मैं भी अवश्य चिता में प्रवेश करूँगी।

सागरदत्त ने चिता बनाकर अरणि की लकड़ियों को आपस में रगड़ कर अग्नि सुलगाई। फिर वह बोला-''हे लोकपालों! तुम सुनो। मेरी प्रतिज्ञा एक वर्ष में पूरी नहीं हो सकती, इसलिए मैं अग्नि में प्रवेश करता हूँ।'' इतना कहकर सागरदत्त अग्नि में प्रविष्ट हो गया, परन्तु दैवी-लीला से वह अग्नि कमल की तरह शीतल हो गई। यह हाल देखकर कौतूहल-पूर्ण हृदय से सागरदत्त ने सोचा-'अरे यह तो उलटी बात हो गई। क्या यह स्वप्न है? मन की भ्रान्ति है? अथवा कोई इन्द्रजाल है? जिससे यह चिता भी शतपत्र-कमल की नांई

शीतल हो गई है! 'सागरदत्त इस भाँति विचार ही रहा था कि आकाश में पद्मराग मणि का बना हुआ और मोतियों के अवचूल से शोभित विमान नजर आया। उसमें एक देव सुन्दर काञ्चन का मुकुट धारण किये हुए बैठा था। उसका शरीर जाज्वल्यमान दीप्ति से देदीप्यमान हो रहा था। कानों में पहने हुए अखण्ड कुण्डल हिल रहे थे। मुँह से निकलती हुई मुस्कान से उसके होठ खिल रहे थे। उसने अपने दाँतों की चमकीली किरणों से दिशा रूपी स्त्रियों के मुख देदीप्यमान कर दिये थे। देव ने सागरदत्त से कहा-"सागरदत्त! जिसका कायर लोग आश्रय लेते हैं और पण्डित लोग निन्दा करते हैं, ऐसा आत्मघात करना तुमने क्यों प्रारम्भ किया है? भद्र! प्राणनाथ के दुःख से संतप्त स्त्री यदि चिता में प्रवेश करने का साहस करे तो ठीक भी है, परन्तु तुझे ऐसा करना ठीक नहीं। भद्र! तू हमारे साथ सौधर्म विमान में देव हुआ था, वहाँ तू ने कर्केतन, इन्द्रनील और पद्मराग मणियों के ढेर के ढेर छोड़ दिये थे, तो इस सात करोड़ धन से क्या होना-जाना है? इसलिए तू सम्यक्त्व, रात्रि भोजन त्याग और पाँच महाव्रत रूपी सात करोड़ द्रव्य को ग्रहण कर। यदि तुझे द्रव्य की ही अभिलाषा हो तो उससे तिगुना इक्कीस करोड़-धन ले। मेरे विमान में बैठ जा। मैं तुझे शीघ्र ही तेरे घर लेचलूँगा।" इस प्रकार के वचन सुनकर तथा उस देव की ऋद्धि देखकर अच्छी तरह विचार करते-करते सागरदत्त को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने सोचा- 'मैं पद्मप्रभ नामक देव था, वहाँ से चय कर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ। यह पद्मकेशर नाम का देव है। देव-भव में मैंने इससे कहा था कि तू मुझे तीर्थङ्कर भगवान् के धर्म का बोध देना। इस बात को स्मरण करके इस देव ने मुझे मृत्यु से बचाया है। अहो! इसकी प्रतिज्ञा कैसी दृढ है? यह कैसा परोपकारी है? अहो! यह कैसा प्रेमपरायण है? और यह मैत्री की कैसी रक्षा करता है? मनुष्य भव में जीवन ही सार है और जीवन में सुन्दर प्रेम ही सार है, प्रेम में परोपकार ही प्रधान है और परोपकार अवसर देखकर करना ही उत्तम है।" ऐसा विचारकर सागरदत्त ने देव को प्रणाम किया। देव ने कहा-"तुझे पूर्व जन्म स्मरण हो गया, यह बहुत अच्छा हुआ।"

सागरदत्त - आपने संसार में गिरने से मेरी रक्षा की, यह बहुत ही उत्तम किया है। अब मैं क्या करूँ?

देव - अभी तुम्हारा चारित्रावरणीय कर्म बाकी है, इसलिए सांसारिक भोग विलास भोगकर फिर सत्तरह प्रकार का संयम ग्रहण करना।

इतना कहकर देव ने सागरदत्त को विमान में बिठला लिया। सागरदत्त ने उस स्त्री को भी साथ ले लिया। वह विमान क्षण-भर में जयश्री नगरी में पहुँच गया। वहाँ उसी बूढे सेठ के यहाँ सागरदत्त उतरा और उस साथ लायी हुई स्त्री के साथ तथा सेठ की पुत्री के साथ विवाह किया। इसके पश्चात् विमान में बैठकर वह अपनी चम्पापुरी में आया। वहाँ उसने अपने माता-पिता आदि गुरुजनों को बड़ी भक्ति के साथ प्रणाम किया। फिर देव ने कहा-"भद्र! तुम्हारी उम्र दस हजार वर्ष की है। इनमें से तीन हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अब पाँच हजार वर्ष तक सांसारिक भोग भोगो, फिर दो हजार वर्षतक चारित्र का पालन करना।' इतना कहकर उसके घर में इक्कीस करोड़ द्रव्य की वर्षा करके देव स्वर्ग चला गया।

इसके पश्चात् सागरदत्त चिरकाल की वियोगिनी पहली पत्नी की संभावना करके उन तीनों के साथ, जिनके नेत्र कमल सरीखे थे, क्रीड़ा करने लगा। धीरे-धीरे कामभोग से विरक्त होकर, परमार्थ का ज्ञाता होकर जिसे पूर्वभव और देव के वाक्य स्मरण थे, ऐसा वह सागरदत्त भोग-फल वाले कर्मों का क्षय हो जाने से वैराग्य-मार्ग में प्राप्त हुआ। फिर जिनेन्द्र के चैत्यों में अट्ठाईस महोत्सव करके तथा सब कार्य समाप्त करके सागरदत्त पवित्र स्थविर मुनि के पास दीक्षा लेकर उनका शिष्य हो गया। हे कुवलयचन्द्र कुमार! वह सागरदत्त मैं ही हूँ। सब शास्त्रों का अभ्यास करके, दो प्रकार की शिक्षा को अङ्गीकार करके एकाकी (अकेले)विहार करने रूप प्रतिमा को धारण करने वाला हूँ। मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हो चुका है। उसमें मैं नीचे की ओर रत्नप्रभा पृथ्वी के समस्त प्रतरों (पाथड़ों) तक ऊपर की ओर सौधर्म विमान की चूलिका तक तथा तिर्यक् लोक में मानुषोत्तर पर्वत के शिखर तक सब पदार्थों को देख सकता हूँ। इस प्रकार देखते हुए मैं ने अपने लोभ देव और पद्मप्रभ ये दो भव देखे। ये भव देखकर मुझे विचार हुआ कि मेरे दूसरे चार मित्र देव थे, वे अब कहाँ उत्पन्न हुए हैं? ऐसा विचार कर मैंने उपयोग लगाया तो मालूम हुआ कि जो चण्डसोम स्वर्ग में पद्मचन्द्र देव हुआ था, वह वहाँ से चयकर अयोध्या नगरी में दृढवर्मा राजा का पुत्र कुवलयचन्द्र हुआ है। जो मायादित्य मर कर स्वर्ग

में पद्मवर देव हुआ था, वह दक्षिणदिशा में जया नामक नगरी में श्री महासेन राजा की पुत्री कुवलयमाला हुआ है। तपस्वी के भव में पहले- उन्होंने मुझसे कहा था कि हम चाहे जहाँ उत्पन्न हुए हों, पर तुम हमें सम्यक्त्व देना। जिस समय उनकी यह प्रार्थना मुझे याद आई, उसी समय इस पद्मकेशर देव ने आकर मेरी स्तुति की-"हे अवधिज्ञानी! तथा सर्व प्राणियों के पूर्वभवों को जानने वाले मुनीश्वर! आपकी जय हो, आप ही हमारे धर्माचार्य हैं।" यह सुनकर मैं ने उसे पहचान लिया। मैंने कहा-"भद्र! क्या करना चाहिए? सो कहो।"

देव - भगवन्! मैंने पहले स्वीकार किया था कि मैं पद्मसार, पद्मवर और पद्मचन्द्र के जीवों पर अनुग्रह करूँगा, सम्यक्त्व प्राप्त कराऊँ गा। उनमें से दो तो मिथ्यादृष्टि के कुल में उत्पन्न हुए हैं और एक सिंह हुआ है। उन तीनों को जिनेन्द्र भगवान् के दुर्लभ मार्ग का बोध कराना चाहिए। इसलिए आप पधारें तो हम-लोग अयोध्या पुरी में चल कर कुवलयचन्द्र कुमार को प्रतिबोध करें।"

मैं- तुमने जो उपाय बताया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि सुख में मग्न मनुष्यों को धर्म में प्रीति नहीं होती। नीरोग मनुष्य को औषधि के प्रति तनिक भी आदर नहीं होता। इसलिए राज्य के सुख में डूबे हुए और माता, पिता, भ्राता, भगिनी, स्वजन तथा मित्रों से कभी दूर न रहने वाले कुमार को बोध के लिए अवसर ही कहाँ होगा? मनुष्य जब तक माता-पिता और भ्राता के वियोग से दु:खी नहीं होते तब तक वे धर्म कार्य नहीं कर सकते। हे भद्र! इसलिए अभी तू कुमार को वन में लाने के लिए जा। मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ चण्डसोम सिंह हुआ है। वहीं कुमार पिता और बन्धुओं के वियोग के कारण सरलता से सम्यक्त्व ग्रहण कर सकेगा।

मैं इतना कहकर यहाँ जंगल में आया और पद्मकेशर देव तुझे लाने के लिए रवाना हुआ। उस समय उसने तुझे घोड़े पर सवार होकर वाहकेलि के लिए निकला देखा। वह उसी घोड़े के शरीर में घुस गया और तुझे आकाश मार्ग से उठा लाया। तुमने आश्चर्य के साथ यह हाल देख कर घोड़े पर कटार का प्रहार किया। देव ने तुम्हें घोड़े को मरा हुआ दिखला दिया, परन्तु वह सचमुच मरा नहीं है। देव ने सिर्फ तुम्हारे मन की आशा भङ्ग की है। कुमार! तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त कराने के लिए घोड़े के द्वारा तुम्हारा हरण करके यह देव

ही यहाँ लाया है। इन सब बातों की खातिरी के लिए पूर्व भव के ये रत्नों के बने हुए आकार (स्वरूप) देख लो।'' मुनि की बात सुनकर कुवलयचन्द्र ने अपने पूर्व भव का स्वरूप तथा कुवलयमाला आदि के पूर्वभव की स्मृति कराने वाले दूसरे रूप देखे। उन रूपों को देखते ही कुमार तथा सिंह को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

मुनि ने कहा- हे कुमार! तू विचार कर कि संसार असार है। नरक की व्यथाएँ महातीक्ष्ण हैं। श्री जिनेन्द्र प्ररूपित धर्म दुर्लभ है। संयम का भार सहना कठिन है। घर में निवास करना बन्धन के समान है। स्त्रियाँ सख्त बेड़ी के समान हैं। अज्ञान महान् भयकारक है। धर्मगुरुओं का मिलना सुलभ नहीं है। बड़े सौभाग्य से मनुष्य जन्म मिलता है। ऐसा समझकर तू सम्यक्त्व को ग्रहण कर, बारह व्रतों को स्वीकार कर और अठारह पाप स्थानों का त्याग कर।

गुरु के मुख से इस प्रकार अपने पूर्वजन्म तथा अश्व के द्वारा हरण किये जाने का वृत्तान्त सुनकर कुवलयचन्द्र का हृदय भक्ति से भर गया। वह बोला- ''पूज्य आपने सम्यक्त्व के दान रूप प्रसाद से मुझ पर बड़ा उपकार किया है। अब मुझे जिनेन्द्र दीक्षा देकर विशेष अनुग्रह कीजिये।''

मुनि- कुमार! तुम अधिक उत्सुक न होओ, क्योंकि अभी तुम्हारा भोग -फल वाला कर्म बाकी है। इसलिए अभी दीक्षा मत लो। इस समय श्रावक के बारह व्रतों का पालन करो।

कुमार-'पूज्य! सुनिये। आज से जिनेश्वर देव और साधुओं के सिवा किसी को नमन नहीं करूँगा तथा श्रावकधर्म का पालन करूँगा।

मुनि-'एवमस्तु।' मुनिराज फिर सिंह से कहने लगे- सिंह! तू ने भी अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुन लिया है। हम भी उसी प्रतिज्ञा को स्मरण करके यहाँ आये हैं। इसलिए तू सम्यक्त्व को स्वीकार कर, देशविरति का पालन कर, क्रूरता त्याग दे, प्राणियों की हिंसा को छोड़ और क्रोध का बिल्कुल त्याग कर। दुष्ट क्रोध से ही तू सिंह की पर्याय में आया है।

यह वचन सुनकर सिंह के शरीर में रोमाञ्च हो आया। वह अपनी पूँछ हिलाता हुआ उठा और मुनि को प्रणाम करके 'पच्चक्खाण' माँगा। मुनि ने ज्ञान

से उसका अभिप्राय समझकर कहा-'कुमार सिंह यह कह रहा है कि हम जैसे पापी प्राणियों को प्रासुक आहार तो मिलता नहीं, सदा मांस खा कर रहना पड़ता है। इसलिए मेरा जीवित रहना ही अच्छा नहीं है।' मुनि ने उसे प्रतिबोध पाये हुए सिंह को आगार रहित अनशन व्रत दिया। उसने उसे स्वीकार किया। वह त्रस और स्थावर जीवों से रहित भूमि पर बैठ कर संसार की असारता की भावना करने लगा, पञ्चनमस्कार मन्त्र में तत्पर हो गया और उसने सिंह जाति के समस्त दुराचारों का त्याग कर दिया।

इसके अनन्तर कुमार ने मुनि से पूछा-"पूज्य! कुवलयमाला को किस प्रकार बोध देना होगा?"

मुनि- विजयपुरी में चारणमुनि की कथा सुनकर कुवलयमाला को भी अपने पूर्व जन्म की स्मृति हो जायगी। वह एक गाथा का चौथा चरण राजसभा में सब के सामने दिखलाएगी। तू वहाँ जाकर उस गाथा की पूर्ति करके उसे ब्याहेगा। तेरी पटरानी होगी। उसकी कोख से उत्पन्न होकर यह पद्मकेशर देव तेरा पहला पुत्र होगा। अतएव तू दक्षिण दिशा में जाकर कुवलयमाला को प्रतिबोध दे।

इतना कहकर मुनिराज ने तत्काल वहाँ से विहार कर दिया। मुनिराज से 'आप मुझे बोध देना' कह कर देव भी आकाश में उड़कर अपने स्थान पर चला गया।

कुमार ने यह सोच कर कि मुझे मुनिराज की आज्ञा का पालन करना चाहिए, दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में उसी सिंह को देखकर उसने विचार किया-'यह सिंह मेरा सहधर्मी है, पहले का मित्र है, स्नेही बन्धु है, गुरु महाराज द्वारा दीक्षित हुआ है और अनशन व्रतधारी है। अतः मुझे इसकी सेवा करनी चाहिए। यदि मैं इसके शरीर की हिफाजत नहीं करूँगा तो किसी समय किसी शिकारी के शर से यह मारा जाएगा और रौद्रध्यान के वश होकर नरक या तिर्यञ्च गति के दुःखों का पात्र होगा।' कुमार ऐसा विचार कर वहाँ ठहर गया और उसकी भलीभाँति सेवा बजाई। कुमार ने उससे कहा-"मृगराज! तुमने मिथ्यात्व के कारण इस संसार में बारम्बार उत्पन्न होकर मृत्यु पायी है। अब की बार इस प्रकार मरण करो कि फिर कभी मृत्यु से पाला न पड़े।"

इस प्रकार धर्मकथा सुनता हुआ सिंह, जिसका शरीर क्षुधा से क्षीण हो गया था, नमस्कार मन्त्र के ध्यान में मग्न होकर समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुआ और सौधर्म स्वर्ग में दो सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ।

सिंह के शरीर का संस्कार करके कुवलयचन्द्र कुमार दक्षिण की ओर रवाना हुआ। चलता-चलता वह विन्ध्य पर्वत के वन में आ पहुँचा। पर्वत के झरनों के 'कल-कल' नाद से वन की दिशाएँ वाचाल हो रही थीं। वह वन त्रिपर्ण तथा सप्तपर्ण आदि अनेक वृक्षों से व्याप्त था। उसमें वृक्षों के फूलों की फैली हुई गन्ध में मस्त भ्रमर विलास कर रहे थे। जगह-जगह कोयल की मनोहर कुहुक कानों में पड़ती थी। वह वन भयानक शिकारी पशुओं से भरा हुआ था। जिस समय की यह बात है, उस समय भीषण ग्रीष्म ऋतु थी। इसलिए वन की बालू इतनी गर्म हो गई कि नाखूनों को भी जला डालती थी। चारों ओर जलती हुई दावाग्नि से जो धुआं निकलता था उससे दिशा-मण्डल श्याम पड़ गया था। सब जगह के वृक्ष सूख गये थे, बवण्डर के मारे आकाश में धूल उड़ रही थी और सूर्य की प्रचण्ड किरणें रूपी दण्ड से मही मुरझा सी गई थी। ऐसी ग्रीष्म ऋतु होने से कुमार का गला और तलुवा प्यास से सूख गया। वह जल की खोज में कुछ आगे बढ़ा। इतने में उसे एक सरोवर दिखाई दिया। सरोवर क्या था, मानों गङ्गा का आवर्त था, क्षीरसमुद्र का छोटा भाई था और अमृत का कुण्ड था। वह कमलों से सुशोभित हो रहा था। वह सरोवर ऐसा सुन्दर लगता था कि पृथ्वी रूपी स्त्री के ललाट में लगा हुआ तिलक हो या नाच करते समय देवाङ्गना का कुण्डल जमीन पर गिर पड़ा हो। हवा के द्वारा हिलाए हुए कमलों के पराग से दिशा रूपी स्त्रियों के मुख भर गये थे। उसकी तरङ्गें उससे क्रीड़ा करने वाली देवाङ्गनाओं के पुष्ट स्तनों को भी क्षुब्ध कर देती थीं। उसके किनारे के वृक्ष के झुण्ड में इकट्ठी हुई किन्नरियाँ गाना कर रही थी। उस सरोवर को देखकर कुमार ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे उसका हृदय उच्छ्वसित हो उठा हो, नष्ट हुई बुद्धि फिर प्राप्त हो गई हो, या उसके सभी मनोरथ पूरे हो गये हों। कुमार ने किनारे पर आकर विचार किया-'मैंने वैद्यक शास्त्र में सुना है कि जब मनुष्य को असह्य भूख-प्यास या थकावट हो तो तत्काल पानी न पीये। तत्काल पानी पीने से सातों धातुएँ प्रकुपित हो जाती हैं और वात, पित्त तथा कफ के दोष उत्पन्न होते हैं। इस

समय मैं बहुत ज्यादा थका हुआ हूँ, इसलिए एकदम पानी पीना या स्नान करना उचित नहीं है।' ऐसा विचार कर कुमार ने किसी वृक्ष के नीचे बैठ कर थोड़ी देर विश्राम किया। फिर सरोवर में एक लतामण्डप में बनी हुई एक यक्ष की मूर्ति उसे दिखाई दी और उस यक्ष के मस्तक पर समस्त तीन लोक के बन्धु श्री अरिहंत भगवान् की मोतियों की मूर्ति नजर आई। यह देखकर हर्ष के आवेश से उसके नेत्र खिल गये। वह इस प्रकार स्तुति करने लगा- "हे तीन लोक के नाथ! आपकी जय हो। हे माया ममता रहित प्रभो! आपकी जय हो। हे दया के सागर आपकी जय हो। हे कल्याण रूपी लक्ष्मी के भण्डार! आपकी जय हो।" इस प्रकार स्तुति करके कुमार ने सरोवर के जल से प्रतिमा का प्रक्षालन किया और सूर्य की किरणों से खिले हुए कमलों से पूजा की। कुमार ने इस प्रकार फिर स्तुति की-"तीन लोक के अलंकारों में मणि के समान प्रभो! आप संसार-सागर की पापरूपी लहरी में बिलकुल डूबते हुए प्राणियों के रक्षक हैं, आप नायक हैं और आप ही गुरु हैं। प्रभो! और तो क्या कहूँ? मुझ दीन के आप ही पिता हैं, आप ही जीवन हैं और आप ही गति हैं।" कुमार इस प्रकार स्तुति कर रहा था कि इतने में सरोवर के भीतर से, जल को क्षुब्ध करती हुई एक दिव्य रूप धारिणी स्त्री बाहर निकली। उसे देखकर कुमार ने सोचा 'यह समुद्र की पुत्री लक्ष्मी है? कोई श्रेष्ठ विद्याधरी है? कोई सिद्धाङ्गना है? या विद्याधरी है।' कुमार यह विचार ही रहा था कि उस स्त्री के पीछे एक दासी निकली। दासी के एक हाथ रूपी कमल में जल से भरा हुआ एक सुवर्ण का कलश था और दूसरे हाथ में दिव्य पुष्प आदि पूजा की सामग्री से भरी हुई एक पटलिका थी। इन दोनों को देखकर कुमार ने विचारा कि मैं इसी जगह रहूँगा तो इनके मन में क्षोभ होगा। इसलिए थोड़ी देर इस यक्ष के पीछे खड़ा रहूँ और देखूँ कि 'ये स्त्रियाँ यहाँ क्यों आई हैं? यहाँ आकर क्या करती हैं?' कुमार यह सोचकर यक्ष की मूर्ति के पीछे जाकर खड़ा हो गया। वह कोमलाङ्गी स्त्री आई और भगवान् की प्रतिमा को कमलों से पूजी हुई देखकर बोली-"दासी! मालूम होती है आज किसी ने आदीश्वर भगवान् की प्रतिमा की पूजा की है। परन्तु यह पूजा किसी देव ने की है या मनुष्य ने? यह ठीक नहीं मालूम होता।" दासी-"इस वन में रहने वाले भील लोगों ने की होगी।" स्त्री- "नहीं नहीं, तू इन पैरों को तो देख। रेत में उछरे हुए

पैरों में पद्म, शङ्ख, अङ्कुश आदि चिह्न मालूम होते हैं। मेरे खयाल से किसी उत्तम पुरुष ने पूजा की है।'' ऐसा कहती हुई सुन्दर दाँतों की पंक्ति वाली उस स्त्री ने पहले की हुई पूजा के कमल अलग करके भगवान् की प्रतिमा को सुवर्णकलश के गन्धोदक से स्नान कराया और फूले हुए कमलों से पूजा की। फिर यक्ष की भी पूजा करके वह गायन करने लगी। उसकी लय, ताल, तान, श्रुति, स्वर, मूर्छना और ग्राम से सुन्दर तथा नाना गुण वाले गान को सुनकर कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ 'अहा, सुन्दर गान! अहा सुन्दर गान' कहता हुआ प्रगट हो गया। गुण समूह से युक्त कुमार को देखकर वह मृगाक्षी स्त्री उसका सत्कार करने के लिए खड़ी हुई। कुमार ने भी साधर्मि-वात्सल्य का विचार कर उसने पहले वन्दना की। वह भय और लज्जा के भार से काँपते हुए स्तनों के बोझे के कारण नम्र हो गई। कुमार ने उससे पूछा-''इस अरण्य में आने वाली आप कौन हैं? यह यक्ष कौन है और इसके मस्तक पर जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति क्यों बनाई गई है? हे मृगनयनी! मेरे मन में इस विषय में बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ है। मुझे शीघ्र बतलायें।''

स्त्री- कुमार! सुनिये -इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में स्वर्गपुरी के समान सुन्दर, बहुतेरे माकन्द (आम) के वृक्षों से शोभित और सदा दीनता रहित माकन्दी नाम की नगरी है। उस नगरी में अरिष्ट[१] शब्द की प्रवृत्ति सिर्फ नीम के वृक्षों के लिए होती थी, कलि[२] शब्द की प्रवृत्ति सिर्फ नीम के वृक्षों के लिए थी और पल[३] शब्द सिर्फ धातकी तथा गूगल वृक्ष के विषय में प्रवृत्त होता था। वहाँ के निवासियों में इनकी प्रवृत्ति नहीं होती थी। उस नगरी में यज्ञदत्त नामक कठ शाखा का श्रोत्रिय ब्राह्मण रहता था। वह काले शरीर वाला, दूब के समान दुबला और कठोर स्पर्श वाला था। उनके शरीर की सारी नसें बाहर दीख पड़ती थीं। उस पर सदा दरिद्रता का सिक्का जमा रहता था-दरिद्र रहता था। सावित्री नाम की उसकी स्त्री थी। उसकी कोख से उत्पन्न उस ब्राह्मण के तेरह लड़के थे। सब से छोटे लड़के का नाम सोम था। जब वह जन्मा उसी समय समस्त

---

१. नीम तथा दुर्भाय। दुर्भाग्य प्रज्ञा में न था।

२. विभीतक का झाड़ तथा कलह, कलह प्रजा में न था।

३. मांस।

वर्षों में निकृष्ट वीसी (बीस वर्ष) शुरू हुई। उस वीसी के प्रभाव से बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई। उनमें औषधियाँ उत्पन्न न हुईं। वृक्षों में फल न लगे, अनाज की उपज न हुई। हाँ, सिर्फ थोड़ी-थोड़ी घास उगी। ऐसे दुष्काल के कारण न कोई मनुष्य देव-पूजा करता, न अतिथियों का आदर सत्कार करता, न दान देता। यहाँ तक कि कोई गुरुजनों की सेवा भी न करता था। ऐसे भयानक दुष्काल में यज्ञदत्त का सारा कुटुम्ब काल के गाल में चला गया। केवल वही लड़का जीवित बचा। कर्म के योग से महान् कष्ट पूर्वक उसके समस्त बन्धु जन भूख से मरे। बेचारे लड़के को सड़क पर बनी हुई दुकानों की कतारों के आस-पास कभी अनाज के दाने मिल जाते, कभी कोई उसे थोड़ा सा टुकड़ा दे देता। इसी से पेट पालकर बड़ी मुसीबत के साथ वह उस भीषण दुर्भिक्ष रूपी अरण्य को पार कर पाया। इसके बाद ग्रहों की शुभ गति से और प्रजा के भाग्य से पानी की काफी वर्षा हुई। सब जगह मनुष्यों के चित्त में आनन्द हुआ और जगह -जगह उत्सव मनाये जाने लगे। जब यह सुकाल हुआ तो सोम बटुक की उम्र सोलह वर्ष की हुई। नगरी के निवासी उसे दरिद्री के नाम से पुकार कर स्थान-स्थान पर उसकी हँसी उड़ाते थे। इसलिए उसने अपने मन में विचार किया-'कितने ही मनुष्य हजारों प्राणियों के पेटों का पालन करते हैं और हमारे जैसे कितनेक पहले किये हुए पाप कर्मों के कारण अपने भी पेट का गुजारा नहीं कर सकते। इससे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व भव में मैंने कुछ भी पुण्य नहीं किया। मेरी दशा कभी नहीं सुधर सकती। सब लोगों के मन में सदा सुख पाने की इच्छा होती है, परन्तु वे कुछ भी सत्कार्य नहीं करते कि जिससे सुखी हों। धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों से सर्वथा रहित मुझे अब प्राणों का त्याग करना ही कल्याणकारी है या वह उचित नहीं, क्योंकि आत्मघातकरण ठीक नहीं है। पृथ्वी पर जिन प्राणियों को धन और मान ने त्याग दिया हो उन्हें वनवास या परदेश-गमन ही श्रेयस्कर है। इसलिए मुझे परदेश में चला जाना चाहिए, ऐसा विचार कर सोम बटुक माकन्दी पुरी से निकल कर दक्षिण की ओर रवाना हुआ। निरन्तर गमन करता हुआ, रास्ते में भीख माँगता हुआ वह अनुक्रम से विन्ध्याचल के बड़े भारी जंगल में आ पहुँचा। उस समय गर्मी की ऋतु थी। वह प्यास से दुःखी था। वह रास्ता भूल गया। सिंह और बाघों के दिखाई देने से काँप रहा था। फिरता-फिरता एक

सरोवर के समीप आया। वहाँ उसने जलपान करके जंगल के फल खाये। फिर वह उसी वन में विहार करने लगा। उसे लोंग, चन्दन और इलायची की वेलों के मण्डप में भगवान् ऋषभदेव की मूर्ति देखकर विचार आया-'ओहो! पहले माकन्दी नगरी में भी मैंने ऐसी मूर्ति देखी थी।' इस प्रकार विचार कर तीर्थंकर की प्रतिमा का पूजन करके वह कहने लगा-''भगवन्! मैं तुम्हारा नाम, गोत्र, गुण या कला- कुछ भी नहीं जानता। परन्तु आपके भक्तिपूर्वक दर्शन करने तथा आपके चरण-कमल की पूजा करने से प्राणियों को जो लाभ होता हो, वह मुझे भी प्राप्त होवे।'' इस प्रकार प्रार्थना करके वह फिर विचार करने लगा- 'इस वन का यह प्रदेश मनोहर है, यह सरोवर उत्तम है, यह लतागृह रमणीय है, ये वृक्ष फले हुए हैं, और ये देव भी सौम्य गुण युक्त हैं। फिर मुझ जैसे की, जिसकी आत्मा दु:सह दरिद्रता और अपमान से कलङ्कित हुई है, और जिसने पहले तपस्या नहीं की, परदेश जाकर भी दूसरे की गुलामी करने के सिवा और क्या गति है? क्योंकि मनुष्य चाहे जितनी दूर चला जाय, उसे किये हुए कर्म छोड़ते नहीं हैं। कोई दरिद्री रोहण नामक पर्वत पर चला जाय तो भी उसकी दरिद्रता तो जैसी की तैसी ही बनी रहती है। पहले किये हुए कर्मों का सर्वथा नाश होता ही नहीं है। तो यहीं रहकर इस जल में स्नान करके तथा इसके कमलों से इन देवता ही पूजा करके इस वन में ही तपस्वी की तरह क्यों न आनन्द से रहूँ?' इत्यादि विचार करके सोम वहीं रहने लगा। किसी समय उसने बहुत से फलों का आहार किया। इससे उसे विसूचिका का रोग हो गया। वह हृदय में भगवान् की मूर्ति का ध्यान करता हुआ समाधि पूर्वक मृत्यु पाकर रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले सौ योजन में, व्यन्तरों के जो आठ अल्प[१]-ऋद्धि वाले यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व नाम के निकाय हैं इनमें से पहले निकाय में महान् ऐश्वर्य वाला रत्नशेखर नाम का यक्षराज हुआ। वहाँ उत्पन्न होते ही उसने विचार किया-'मैं किस पुण्य से ऐसे ऐश्वर्य का पात्र हुआ हूँ?' ऐसा विचार कर उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया तो उसी लतागृह में तीन लोक के नाथ (भगवान्) के पास अपना शरीर देखा। फिर वह यक्षराज युगादि भगवान् की प्रतिमा का पूजन करके बोला-

१. अन्य देवों की अपेक्षा से अल्प ऋद्धि वाले हैं। मनुष्यों की अपेक्षा तो बहुत अधिक ऋद्धि समझनी चाहिए।

"प्रभो! मैं सब पुरुषार्थों से रहित था। लोग सभी जगह मेरी हँसी उड़ाते थे। इतना होने पर भी मैं ऐश्वर्य का पात्र यक्षराज हुआ हूँ सो सिर्फ आपकी ही कृपा है। अतः अपने मस्तक पर आपकी स्थापना करना उचित है। ये जिनेन्द्र प्रथम तो सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, और नरेन्द्रों के भी पूज्य हैं, दूसरे ये मेरे उपकारी हैं, तीसरे मोक्ष सुख के कारण हैं' यक्षराज ने अपने परिवार से इस प्रकार कहकर अपनी मुक्ता मणिमय मूर्ति बनाकर उसके मुकुट पर श्रीमान् आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित की। उस दिन से यक्षों ने उसका रत्नशेखर नाम बदल कर जिनेश्वर नाम प्रसिद्ध किया। फिर उस यक्षराज ने मुझसे कहा- "कनकप्रभा! तू सदा यहाँ आकर दिव्य पुरुषों से भगवान् की पूजा करना और मैं अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन परिवार को साथ लेकर छत्र-चँवर आदि राज चिह्नों सहित भगवान् की पूजा करने आऊँगा।" यक्षराज ऐसा कहकर अपने स्थान पर चला गया। हे राजकुमार! आपने मुझ से पूछा था कि यह यक्ष कौन है? इसके मस्तक पर जिनेन्द्र की प्रतिमा क्यों है? और तू कौन है? इसके उत्तर में यक्षराज तथा जिनेन्द्र की प्रतिमा सम्बन्धी वृत्तान्त मैंने निवेदन कर दिया। मैं यक्षराज की किङ्करी हूँ और उसकी आज्ञा से यहाँ सदा आया करती हूँ।" इस प्रकार वृत्तान्त सुनकर कुमार ने कहा " ओहो! बड़ा आश्चर्य है। इन महाप्रभावशाली भगवान् की भक्ति के समूह से भरपूर यक्षराज को, विनयवती तुमको तथा इस मनोहर प्रदेश को देख कर अपनी दृष्टि तथा श्रुति का फल मुझे पूरा मिल गया।"

स्त्री- भद्र! देव का दर्शन सफल होता है, इसलिए तुम मुझ से कुछ न कुछ माँगो, जिससे तुम्हारा मनचाहा फल दूँ।

कुमार- मुझे कुछ नहीं माँगना है।

स्त्री- प्रत्येक प्राणी को कुछ न कुछ इष्ट होता ही है, अतः खुशी के साथ माँग लो।

कुमार-"भद्रे! इन पूज्य जिनराज का, जिनेश्वर के पूर्ण भक्त इन यक्षराज का और तुम्हारा दर्शन हो गया, इससे अधिक और क्या माँगना है?" कुमार इतना कहकर खड़ा हो गया। वह फिर बोली-"भद्र! तुम्हें बहुत दूर जाना है और जंगल का मार्ग बहुत टेढ़ा तथा विघ्नों का कारण है।" ऐसा कहकर देवी

ने पराक्रम का स्थान- रूप औषधि का एक कड़ा जो उसके हाथ में बँधा हुआ था खोलकर उसे दे दिया। कुमार उसे लेकर दक्षिण की तरफ चल दिया। चलते चलते रास्ते में नर्मदा नदी आई। प्रचण्ड हवा से हिलाई हुई उस नदी की हिलोरें किनारे के पक्षियों को प्रेरित कर रही थीं। हाथियों की सूँड़ों के आघात से जल की कल्लोलें उछल रही थीं। उसमें स्नान करने वाले मदोन्मत्त दुर्दान्त हाथियों के गण्डस्थलों से झरते हुए मद जल की बूँदों से नदी का जल सुगन्धित हो गया था। नर्मदा नदी को पार करके कुमार उसके किनारे पर घूमने लगा। इतने में तमाल के वृक्ष और भौंरों की ध्वनि से मनोहर एक झोंपड़ी उसे दिखाई दी। कुमार उसमें घुसा तो रुद्राक्ष की माला तथा कमण्डलु पर उसकी नजर पड़ी। केशर वृक्ष था और उसके खिले हुए फूलों की सुगन्ध में लुब्ध होकर भौंरे ''गुनगुन'' शब्द कर रहे थे। वहाँ की भूमि की रेत में किसी मनुष्य के पैर बने थे। उन्हें देखकर कुमार ने विचारा-'सचमुच ये चरणन्यास के प्रतिबिम्ब किसी स्त्री के होने चाहिए, पुरुष के नहीं' इस प्रकार विचार करता हुआ कुमार उस उछरे (बने) हुए पैरों के चिह्न को देखता हुआ जरा आगे बढ़ा तो एक बूढी तपस्विनी उसे दिखाई दी। उसने अपने बड़े बड़े स्तन छाल के वस्त्रों से ढंक लिये थे। उसके पीछे-पीछे तीन लोक के रूप से भी अधिक रूप वाली एक नवयुवति कन्या चल रही थी। उन दोनों के साथ एक राजकीर (तोता) चल रहा था। उसके पीछे और बहुत से तोते और मैनाएँ चल रही थीं। यह सब देखकर कुमार ने विचार किया-'ओहो, इस तपस्विनी का कितना बड़ा उपश्रम है कि वनवासी पक्षी भी उसके पास से नहीं हटते।' इस प्रकार विचार करते हुए कुमार को यकायक देखकर उस नवयुवति की दृष्टि डर के मारे चञ्चल हो गई, क्योंकि वह निर्जन वन में जन्मी थी। इसलिए वह सुन्दर मुख वाली युवति वहाँ से भागने का विचार करने लगी। यह बात राजकीर ने जान ली। वह बोला-''स्वामिनी एणिका ! तू क्यों भागती है?''

युवति- मेरी इस झोंपड़ी में यह किस तरह का जानवर आ गया हे?

राजकीर- एणिका! तू अपने मन में मत डर। यह कोई मुसाफिर मनुष्य है। रास्ते की थकावट से यहाँ आ गया है। अतः तू इस भले आदमी की आव-भगत कर।

तोते ने ऐसा कहा तो, जिसके स्तन भय से काँप रहे थे ऐसी, उस युवति ने लज्जा के साथ, मुसाफिर से 'आइए पधारिये' कह कर पूछा- "आप कहाँ से आये और कहाँ जा रहे हैं?"

तोता भी बोला-"महाप्रभाव वाले महापुरुष! पधारिये। थोड़ी देर इस पत्तों के बिछौने पर विराजिये।"

कुमार उस बिछौने पर बैठ गया। फिर एणिका ने तरह-तरह के वृक्षों के पके मीठे सुगन्धित फल लाकर कुमार के पास रखे। कुमार ने सोचा-'यह स्त्री कौन होगी? और किस कारण से विरक्त होकर यहाँ तप कर रही होगी? यह कुछ समझ नहीं पड़ता। चलो इसी से पूछ लूँ।' यह सोचकर बोला-"भद्रे! तुम कौन हो? इस वन में आकर क्यों रहती हो? और इस तपस्या के लिए वैराग्य क्या कारण है? बतलाओ तो सही।"

कुमार ने ऐसा पूछा, मगर वह नीचा मुँह किये ही खड़ी रही, बोली कुछ भी नहीं। कुमार उसके उत्तर की राह देखता हुआ क्षणभर के लिए उद्विग्न हो गया। यह देखकर राजकीर बोला-" महाप्रभाव वाले कुमार! यह कन्या आपसे कुछ लजाती है। परन्तु आपकी प्रार्थना वृथा न हो, ऐसा ख्याल करके मैं ही इसका हाल आपको बतलाता हूँ। सुनिये-

इस नर्मदा नदी के दक्षिण किनारे पर ही देवाटवी नामक एक बड़ा भारी जंगल है। उस जंगल में पत्तों के समूह से भरा हुआ सुन्दर घनी छाया वाला एक बड़ा बड़ का झाड़ है। उस पर सदा तोते वास करते हैं। उनमें सब तोतों का मुखिया एक मणिमय नाम का राजकीर रहता था। अनुक्रम से उसके, राजकीरिका (उसकी स्त्री) से देदीप्यमान इन्द्रनील मणि के समान पंखों से शोभित और मनोहर कान्ति वाला एक तोता उत्पन्न हुआ। एक बार की बात है कि भयङ्कर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से जिसका शरीर तप गया था और जिसका गला तथा तलुवा प्यास से सूख गया था ऐसा, वह बाल-कीर किसी तमाल वृक्ष के नीचे जाकर क्षणभर बैठा। इतने में वहाँ एक व्याघ्र आया। उस व्याघ्र ने भय से भागते हुए राजकीर के बच्चे को जबरदस्ती से पकड़ कर पल्लीपति को भेंट कर दिया। उसने उसे राजकीर (कीरों तोतों का राजा) समझकर पींजरे में डाल लिया और पाल पोष कर बड़ा किया। महापुरुष! मैं

वही तोता हूँ। इसके बाद पल्लीपति ने मुझे एक बार लक्ष्मी के स्थान- रूप भृगुकच्छ (भरोंच) नगर के भृगु राजा को भेंट कर दिया। उसने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री मदनमञ्जरी को क्रीड़ा करने के लिए मुझको दिया। उसने थोड़ी ही दिनों में मुझे स्थावर और जङ्गम विष की परीक्षा तथा चिकित्सा, हाथी-घोड़ा, कुत्ता, पुरुष और स्त्री के लक्षण आदि बताने वाले समस्त शास्त्रों का पारङ्गत बना दिया। एक बार वहाँ भयानक ग्रीष्म ऋतु में अनित्य आदि भावना भाते हुए किसी मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय केवलज्ञान की स्तुति करने के लिए आते हुए देवों को देखकर नगर निवासियों ने भृगु राजा से प्रार्थना की-"महाराज! आपके पिता को चार घातिया कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।" यह सुनकर भृगु राजा परिवार को साथ लेकर अपने केवली पिता को वन्दना करने गया। इतने में काले और पीले वस्त्र पहने हुए देदीप्यमान मणि तथा कञ्चन जैसी कान्ति वाले अलङ्कारों से अलङ्कृत दो विद्याधरों ने वहाँ आकर, केवली को वन्दना करके पूछा-"भगवन्! वह स्त्री कौन है?" यह प्रश्न सुनकर भृगु राजा और दूसरे लोगों ने उनसे पूछा-"विद्याधरों! तुम किस स्त्री के विषय में प्रश्न कर रहे हो?" वे बोले-"एक बार हम वैताढ्य पर्वत से निकलकर सम्मेद पर्वत की शिखरों पर विराजमान तीर्थङ्करों को वन्दना करके वहाँ से श्रीशत्रुञ्जय महातीर्थ की तरफ जा रहे थे। वहाँ विन्ध्याचल पर्वत के जंगल में नर्मदा के दक्षिण किनारे पर मृगों की टोली के साथ चलती हुई एक बालिका को देखकर हमने सोचा-'मृगों की टोली के साथ मानुषी का रहना बड़े आश्चर्य की बात है।' इस कौतूहल से हम नीचे उतरे और उससे पूछा-"बालिका! तू इस भयङ्कर और निर्जन वन में अकेली क्यों है? तू यहाँ कहाँ से आई है?" यह सुनकर वह कुछ भी न बोली उलटी हम से दूर दूर जाने लगी। हम देखते ही रहे और वह सुन्दर नेत्र वाली बालिका मृगों की टोली के साथ चली गई। यह आश्चर्य देखकर 'कोई अतिशय ज्ञानी मुनि मिलेंगे तो उनसे इस विषय में पूछेंगे' ऐसा विचार कर हम वहाँ से आगे चले। इतने में यहाँ केवली भगवान् के दर्शन हुए। इसीलिए हमने उनसे प्रश्न किया है कि भगवन्! वह स्त्री कौन है?

इसके बाद केवलज्ञान से शोभित मुनीश्वर स्वयं बोले-"इस जम्बूद्वीप में सब नगरियों से श्रेष्ठ, दान सहित कवियों से सुशोभित तथा लक्ष्मी के द्वारा

देवनगरी के समान अवन्ति नाम की सुन्दर नगरी है। उसमें प्रजा के पालन करने में लालसा रखने वाला और प्रजा का प्रेम पूर्वक पालन करने वाला नल राजा के समान वत्स नाम का राजा राज्य करता था। यह आश्चर्य की बात थी कि उस राजा की प्रताप रूपी अग्नि शत्रु राजाओं के गजेन्द्रों के कपोलों से झरते हुए मद-जल का शोषण करके साथ ही साथ उन राजाओं की स्त्रियों के नेत्र जल के पूर की वृद्धि करती थी। उस राजा का एक उन्नत ज्ञान रूपी विभूति वाला तथा इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीवर्धन नामक पुत्र था और श्रीमती नाम की एक कन्या थी। उस कन्या को विजयपुर के स्वामी विजय राजा के पुत्र सिंह के साथ ब्याह दिया था। जब सिंह कुमार युवावस्था में आया तो सदा अन्याय मार्ग में चलता था और कुमार्ग में द्रव्य का व्यय करता था। इस कारण राजा ने उसे देश निकाला दे दिया। सिंह कुमार अपनी पत्नी को लेकर पास के किसी गाँव में रहने लगा। इधर कुछ समय बाद श्रीवर्द्धन राजकुमार ने धर्मरुचि मुनि के पास चारित्र ले लिया और उनका शिष्य होकर कुछेक समय में समस्त शास्त्रों का अभ्यास कर लिया, इसके पश्चात् अकेले विहार की प्रतिमा को अङ्गीकार करके विहार करता-करता वहीं आया जहाँ उसके बहिन-बहनोई रहते थे। एक बार कृश शरीर वाले और तीव्र तप के भण्डार वे मुनि 'मासखमण' के पारणे के लिए अपनी बहिन के ही घर में गये। श्रीमती ने दूर से ही अपने भाई को आता देख विचार किया-'मालूम होता है मेरे भाई को किसी पाखण्डी ने बहका कर दीक्षा दे दी है।' ऐसा विचार कर चिरकाल से भाई के दर्शन में उत्सुक तथा स्नेह के भार से भरपूर हृदय वाली श्रीमती ने मुनि को गाढ़ आलिङ्गन किया। इसी समय उसका पति सिंह बाहर से आ रहा था। यह चेष्टा देखकर उसके चित्त में अत्यन्त क्रोध आया और उसने मुनि को मार डाला। यह देख उसकी पत्नी ने 'पापी ने मेरे भाई को मार डाला' ऐसा विचार कर अपने पति पर काठ के टुकड़े से प्रहार करके उसे मार डाला। सिंह ने मरते-मरते उसी काठ के टुकड़े से अपनी पत्नी का माथा फोड़ दिया। सिंह मरकर महामुनि के घात से उत्पन्न हुए पापों के कारण रत्नप्रभा पृथ्वी के रौरव नामक नरक में एक सागरोपम की स्थिति वाला नारकी हुआ। मुनि की बहिन श्रीमती भी भाई के मोह से मोहित हो रही थी और तत्काल क्रोध उत्पन्न होने से अपने पति की हत्या की थी, इन पाप कर्मों से पहले ही नरक के उसी

प्रस्तार में उत्पन्न हुई। वे मुनिराज तलवार के निर्दय प्रहार से व्यथा पाकर भी समाधि पूर्वक काल करके सौधर्म स्वर्ग में सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए। वही देव आयु पूर्ण होने पर चय कर इस भृगुकच्छ में राजा हुआ। मैं वही हूँ और यहाँ मुझे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। यह बात जान कर तुम मेरे पास आये हो।

सिंह कुमार नरक से निकलकर नन्दीपुर गाँव में ब्राह्मण हुआ। वह अनुक्रम से विरक्त होकर एक दण्डी संन्यासी हो गया। वहाँ समस्त आश्रम के योग्य तपस्या करके आयु पूर्ण होने पर काल करके ज्योतिष्क विमान में देव हुआ। उस देव ने किसी केवली से अपना पूर्वभव पूछा। केवली ने उसे पूर्व भव बतलाया। पूर्व भव सुनकर उसे मन में अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने सोचा-'अरे! मुझे मेरी पत्नी ने ही मार डाला। वह पापिनी इस समय कहाँ है?' यह सोचकर उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया तो उसे नरक से निकालकर पद्मपुर में पद्मराजा की पुत्री रूप से तत्काल जन्मी हुई देखा। उसे देखते ही देव को ऐसा क्रोध आया कि उसके होठ काँपने लगे। वह वहाँ आया और लड़की को उसी समय उठा लाकर विन्ध्य पर्वत के वन में ऊपर से पटक दी। सौभाग्य से लड़की नये-नये कोमल अङ्कुरों वाले स्थान पर गिरी और हवा लगने से होश में आई। भवितव्य के योग से गर्भ के भार से पीडित वन की एक हरिणी उसी जगह आई और वहीं उसने प्रसव किया। जब हरिणी की प्रसव वेदना शान्त हुई तो उसने अपने पास एक बच्चा और एक तत्काल जन्मी हुई राजपुत्री को देख कर सोचा- 'अरे, इस बार मुझे क्या दो बच्चे हुए हैं?' ऐसा सोचकर वह मृगी सरलभाव से अपनी ही प्रसूति समझकर उस बालिका के मुँह में भी अपने स्तन का दूध डाल कर उसका पोषण करने लगी। धीरे-धीरे वह बालिका निर्जन वन में मृग की टोली के साथ क्रीड़ा करती हुई जवान हुई। उसके लिए वहाँ वन के निकुञ्ज गृह के समान, पक्षी ही बन्दरों के बच्चे मित्र, वन के फल ही भोजन और झरणों का पानी ही जल-पान के लिए है, विशाल शिलायें ही शय्या है और मृगों की पीठ तथा मस्तक का खुजाना ही उसके लिए विनय है। इस कारण मृगों के समुदाय में रही हुई वह बालिका मनुष्य को देख कर हरिणी की भाँति नेत्रों को प्रफुल्लित करके भागती है। हे विद्याधरों! तुमने मुझसे पूछा था कि 'वन में भ्रमण करने वाली

वह बालिका कौन है?' उसके उत्तर में मैंने तुम्हें बतलाया कि वह बालिका मेरे पूर्व जन्म की बहिन है। उसने इस जन्म में कभी मनुष्य को देखा ही नहीं है। इसलिए वह तुम्हें देख कर भाग गई थी।''

केवली भगवान् के मुख से इस प्रकार वृत्तान्त सुनकर विद्याधरों ने निवेदन किया- भगवन्! वह बालिका भव्य है या अभव्य?

केवली- वह भव्य है?

विद्याधर- उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होगी?

केवली- इसी भव में उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी।

विद्याधर- उसका धर्मगुरु कौन होगा?

भगवान् ने मेरी ओर इशारा करके कहा- यह राजकीर उसका गुरु होगा।

भगवान् का इस प्रकार कथन सुनकर मदनमञ्जरी ने यह विचार कर कि पितामह का कथन कभी असत्य नहीं हो सकता, इस बालिका को प्रतिबोध करने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। मैं आकाश में उड़ कर यहाँ आया। वन में इधर-उधर घूमते-घूमते मैंने इसे देखा। मैंने इसे कितने ही दिनों तक भक्ष्य अभक्ष्य में, कार्य और अकार्य में, जिनेश्वर प्रणीत धर्म में तथा दूसरे समस्त मनुष्यों के व्यवहार में चतुर बनाया तथा केवली भगवान् द्वारा बतलाया हुआ इसका पूर्व जन्म भी इसे कह सुनाया। मैंने इससे कहा- ''तू पद्मराजा की पुत्री है। तेरे वैरी देव ने तुझे यहाँ लाकर छोड़ दिया है। तू वन में नहीं उत्पन्न हुई। इसलिए अब तू इस वन को त्याग कर मेरे साथ मनुष्यों की वस्ती में चल। वहाँ संसार के भोगों को भोगो और परलोक के कार्य का भी साधन करो।'' इसने मुझसे कहा-''यह वन ही मेरी रक्षा करने वाला है। मैं मनुष्यों के रहन-सहन से अनजान हूँ। पाँचों इन्द्रियों के विषय रूपी घोड़े विषम और चपल हैं। संसार में दुर्जन बहुत होते हैं। अतः मेरे मन की समाधि (शान्ति) इसी वन में अच्छी रहेगी, दूसरी जगह मनुष्यों के व्यवहार में पड़ने से नहीं'' मुझसे ऐसा कह कर यह बालिका इसी वन में रहकर जमीन पर गिरे हुए प्रासुक पुष्प, कन्द, फल, मूल और पत्ते आदि खाकर दुष्कर तपस्या करती हुई बहुत वर्षों से रहती है। कुमार! तुमने इस

बालिका से पूछा था कि 'तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? और इस वन में रहने के लिए वैराग्य होने का क्या कारण है?' इसके उत्तर में मैंने इसका सारा हाल कह सुनाया।''

यह सब वृत्तान्त सुनकर कुमार खड़ा होकर विनय के साथ बोला- ''राजकीर! तुम मेरे सहधर्मी हो तुम्हें अभिवन्दन करता हूँ।''

एणिका बोली-''मेरा वन-वास आज सफल हुआ कि सम्यक्त्व को धारण करने वाले आप जैसे श्रावक के दर्शन हुए। दोपहर का समय हो गया है। उठिये, चलिए स्नान करने चलें।''

इतना कहकर बालिका आश्रम के पास के जलाशय से पानी छान कर ले आई। उससे स्नान करके धुले हुए कोमल सफेद वल्कल पहने। फिर एक पर्वत की गुफा में विराजमान आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा का जल से अभिषेक करके जल और स्थल में उत्पन्न हुए कमलों से पूजा और वन्दन की। इसी प्रकार कुमार स्नान और पूजन करके भगवान् की स्तुति करने लगा-''नाभिराजा के पुत्र! आप गुणों से अमेय हैं और संसार का उच्छेदन करने वाले हैं अतः मेरे संसार की भ्रान्ति के भय का नाश कीजिये। वृषभ के चिह्न वाले जगन्नाथ! देवों के देव!! कामदेव स्वरूप भगवन्! वास्तव में देखा जाय तो मुझ पर प्रहार करने वाले उस (कामदेव) का संहार करने वाले तुम्हीं हो।''

कुमार इस प्रकार स्तुति करके एणिका और राजकीर के साथ झोंपड़ी में आया तथा अत्यन्त स्वादिष्ट और मनोहर पके फल खाये। इसके पश्चात् कुमार ने वहीं रह कर विविध प्रकार के शास्त्र, अनेक कलायें, भिन्न-भिन्न देशों की भाषा तथा बहुत सी कथा-कहानियाँ सुनाकर एणिका और राजकीर को प्रसन्न किया।

एक बार वहाँ एक भील-भीलनी का जोड़ा आया। उसके शरीर का रंग काला था। उसने मोर के पंखों का कर्णभूषण बनाया था। तरह-तरह के वृक्षों के फूलों से उसका केश-पाश गुँथा हुआ था। वह जोड़ा वहाँ आकर राजकुमार, बालिका और राजकीर को नमस्कार करके दूर शिला पर बैठ गया। एणिका ने उसका कुशल-समाचार पूछा। सब बातों का उत्तर उसने मस्तक झुका कर ही दिया। मुँह से कुछ भी न बोला। फिर भील ने अपना धनुष् जमीन पर

रख दिया। कुमार ने उसके रूप और शोभा से विरुद्ध भील का भेष देखकर कुछ आश्चर्य युक्त हो विचार किया-'रूप को धिक्कार है, लक्षण निष्फल हैं, शास्त्र अप्रामाणिक हैं, सब गुण निस्सार हैं तथा वेष और आचार भी प्रमाणता-रहित हैं। सब कुछ उलटा है, अन्यथा कहाँ तो यह शुभ लक्षण तथा व्यञ्जनों से सुशोभित रूप और कहाँ तुच्छ पुरुष बताने वाला यह भील का वेष' ऐसा सोचकर कुमार ने कहा-"एणिका! यह क्या बात है?"

एणिका- कुमार! मैं इन्हें सदा वन में घूमता देखती हूँ परन्तु विशेष वास्तविक बात कुछ भी नहीं जानती।

कुमार- एणिका! यह भील-भीलनी का जोड़ा नहीं है, सिर्फ भील का भेष धारण किया है। यह जोड़ा कोई मामूली नहीं है।

एणिका- यह कैसे जाना जाय?

कुमार- सामुद्रिक शास्त्र में बताए हुए लक्षणों से जाना जा सकता है।

एणिका- क्या सामुद्रिक शास्त्र आप जानते हैं? हाँ तो इस जोड़े की बात छोड़िये, पहले सामान्य रूप से पुरुष के लक्षण बतलाइये।

कुमार- उन लक्षणों को संक्षेप से कहूँ या विस्तार से?

एणिका- विस्तार से तो यह शास्त्र एक लाख श्लोक प्रमाण है और संक्षेप से कहा जाय तो घटते-घटते अन्त में एक हजार या एक सौ श्लोक प्रमाण भी हो सकता है। तो पहले कुछ विस्तार से कहता हूँ। सुनो-

जिस पुरुष की हथेली में या तलुवे में पद्म, वज्र, अङ्कुश, छत्र, शङ्ख और मत्स्य आदि की रेखाएँ दिखाई देती हों उसे लक्ष्मीपति समझना। भाग्यवान् पुरुषों के नख ऊँचे विस्तार वाले, लाल, चिकने और दर्पण समान तेजस्वी (चमकीले) होते हैं। वे धन के कारण तथा सुख देने वाले होते हैं। नख सफेद हों तो उसे यति के समान जानना और पीले हों तो इस जन्म में दुराचारी समझना। जिसके दाँत शुद्ध, सम अनीदार तथा चिकने हों उसे शुभ समझना और इससे उल्टे हों तो दुःख के कारण समझना चाहिए। जिस मनुष्य के दाँत थोड़े या बहुत हों, जो गर्भ से ही दाँत सहित उत्पन्न हुआ हो या जिसके चूहे सरीखे दाँत हो वह पापी कहा गया है। जिस मनुष्य के (हाथ के) अँगूठे में

या मूल में जौ का चिह्न हो वह धनवान् होता है। जिसके मस्तक पर दाहिनी तरफ दक्षिणावर्त होता है, लक्ष्मी सदा उसकी मुट्ठी में रहती है। जिसके बाईं तरफ दक्षिणावर्त होता है उसे बुढ़ापे में भोग (सुख साधन) प्राप्त होते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अब उन लक्षणों को संक्षेप से मैं एक ही श्लोक में कहता हूँ सो सुनो-गति (चाल की अपेक्षा रंग श्रेष्ठ है) और स्वर की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि सत्त्व में ही सब कुछ रहा हुआ है।''

इस प्रकार सुनकर वह बाला बोली-''तुमने कहा सो सब सत्य है, परन्तु इस भील में तुमने क्या-क्या लक्षण देखे हैं?''

कुमार- 'एणिका! मैंने जो लक्षण बताये हैं वे सब शुभ लक्षण इस पुरुष के शरीर में दीखते हैं। मेरे विचार से यह कोई महासत्त्ववान् पुरुष है। वह किसी कारण से भील का भेष बनाकर अपना असली रूप छिपाकर इस विन्ध्याचल के वन में रहता है।

यह बात सुनकर भील ने सोचा, 'यह आदमी पुरुष के लक्षण जानने में सचमुच कुशल है। अतः मुझे अब यहाँ अधिक देर तक रहना उचित नहीं है-जब तक इसने मुझे जान नहीं पाया तब तक यहाँ से चल देना ही श्रेष्ठ है।' यह विचार कर भील-भीलनी वहाँ से उठकर अपने स्थान पर चले गये। फिर एणिका बोली -'' कुमार! तुम्हारी चतुराई का क्या कहना है, तुमने भील का भेष बनाये हुए को भी पहचान लिया।''

कुमार- यह तो मैं पहले ही जान चुका था, परन्तु अब उन्हें विशेष जानना चाहता हूँ। अतः सच्ची बात बताओ।

एणिका-कुमार! ये दोनों विद्याधर हैं।

कुमार- तो इन्होंने ऐसा भेष क्यों धारण किया है?

एणिका- ये विद्याधर तुम्हें भी पहचानते हैं। पहले आदिनाथ भगवान् की सेवा में लीन हुए नमि और विनमि को धरणेन्द्र ने बहुत सी विद्याएँ दी थीं। उसमें कोई विद्या किसी प्रकार सिद्ध होती है कोई किसी प्रकार। सब के साधन करने के उपाय जुदे-जुदे हैं और कितनी ही जितेन्द्रिय होकर श्मशान में साधी

जाती हैं। कुमार! यह विद्याधर इस जंगल में अपनी स्त्री के साथ इच्छानुसार भ्रमण करता रहता है।

कुमार- तुमने कैसा जाना कि यह विद्याधर है?

एणिका-'मैं भी नहीं जानती थी, पर एक बार राजकीर के मुख से उनका हाल सुना था। मैंने एक बार पाप के लिए औषध के समान पौषध को स्वीकार किया था। उस दिन राजकीर आदीश्वर भगवान् की पूजा के लिए फल-फूल पत्ते लाने के लिए पास के वन में गया था। वहाँ से दोपहर होने के बाद आया। मैंने उससे पूछा-"आज तू इतनी देर करके क्यों आया?" वह बोला "आज तू ठग गई है, क्योंकि तूने आँखों को अचरज करने वाली कोई बात नहीं देखी। देखने योग्य वस्तु को देखना ही आँखों का फल है।" यह सुनकर मैंने कहा- "राजकीर! वह आश्चर्य की बात क्या है? कहो।" उसने मुझसे कहा-"आज मैं वन में गया तो वहाँ शङ्ख, तुरही, भेरी और मृदङ्ग की तेज आवाज सुनी। यह सुनकर मैंने यह जानने के लिए कान लगाया कि किस ओर से यह आवाज आ रही है? फिर उस ध्वनि का अनुसरण करता हुआ मैं उसी तरफ चला तो भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा के पास दिव्य पुरुष और स्त्रियों को प्रणाम करते तथा आहार्य वाचिक आङ्गिक और सात्त्विक, ये चार प्रकार के अभिनय करते देखा। मैंने सोचा-'ये दिव्य जन देव तो नहीं जान पड़ते, क्योंकि एक बार केवली भगवान् के केवलज्ञान की महिमा (पूजा) करने के लिए आये हुए देवों को देखा था तो उनके पैर धरती को नहीं छूते थे और नेत्र निमेष सहित थे। इससे जान पड़ता है कि ये देवता नहीं हैं। हाँ अत्यन्त लक्ष्मीवान् होने से कोई साधारण मनुष्य भी नहीं मालूम होते। जान पड़ता है ये आकाश में चलने वाले विद्याधर हैं। मैं पूछता हूँ कि इन्होंने यह क्या प्रारम्भ किया है?' ऐसा विचार करके मैं क्षण भर एक आम के वृक्ष के नीचे बैठा। इतने में वे विद्याधर और विद्याधरियाँ भी अपनी-अपनी जगह बैठ गये। इसके पश्चात् एक विद्याधर तथा विद्याधरी ने प्रसन्न-चित्त होकर आदीश्वर भगवान् का, स्नान करा कर पाँच वर्णों के मनोहर जल तथा स्थल के कमलों से पूजन किया। फिर दोनों ने स्तुति करके नागराज धरणेन्द्र की आराधना के लिए एक कायोत्सर्ग किया, दूसरा कायोत्सर्ग धरणेन्द्र की अग्रमहिषी की आराधना के लिए किया

और तीसरा शाबरी विद्या का किया। फिर शरीर के समस्त आभूषण उतार कर उन दोनों ने शबर का वेष बनाया। उनके महाराजाधिराज ने दोनों ने मौन व्रत लिया और उसी समय आदिनाथ भगवान् के तीर्थ में होने वाले गुरुओं तथा सधर्मियों को वन्दना की। इसके बाद विद्याधरों में से एक उठा और हाथ जोड़कर बोला-''लोकपालों तथा विद्याधरों! तुम सब सुनो। पहले शबरशील नामक विद्याधर राजा था। उसने सब तरह की शबरविद्या का कोश सिद्ध किया था। उस प्रतापी राजा ने चिरकाल तक राज्य का पालन किया। फिर उसे वैराग्य का रंग चढ़ा तो वह जिनधर्म अङ्गीकार करके समस्त परिग्रह का त्याग करके इसी पर्वत की गुफा में रहा था। उसके पुत्र शबर सेनापति ने पितृभक्ति से यहीं भगवान् के स्फटिकमणि की प्रतिमा स्थापित की है। तब से लेकर यह वन विद्या सिद्ध करने का क्षेत्र हुआ है। अतः शबर का वेष धारण करने वाले विद्याधर को भगवान् श्री आदिनाथ के प्रभाव से तथा धरणेन्द्र के नाम से यह विद्या निर्विघ्न सिद्ध हो।'' यह सुनकर सब विद्याधर 'इसकी विद्या शीघ्र सिद्ध हो' कह कर अपने स्थान को चले गये, पर जिन्होंने शबर वेष धारण किया था वे वहीं रह गये। कुमार! राजकीर ने मुझे यह वृत्तान्त सुनाया था, इससे मैं समझती हूँ कि शाबर भेष धारण करने वाले विद्याधर हैं।

वह हाल सुनकर कुमार बोले-''एणिका! मेरा एक कर्ण-कटु वचन सुनो।''

एणिका- आज्ञा दीजिये।

कुमार- मुझे यहाँ आये बहुत समय बीत चुका है। तुम्हारा कल्याण हो। मुझे दक्षिण में अवश्य जाना है, इसलिए मैं अब जाऊँगा।

ऐणिका- कुमार! तुम सच ही कह रहे हो, क्योंकि अतिथि से घर नहीं वसता। किन्तु अपना वृत्तान्त सुनाकर मुझे आनन्द दीजिये।

कुमार ने मूल से लेकर वन में आने तक का अपना सारा हाल कह सुनाया। हाल सुनकर एणिका ने कहा- ''कुमार! तुम्हारे वियोग से तुम्हारे माता, पिता तरह-तरह की पीड़ा पा रहे होंगे। यदि तुम्हें रुचे तो तुम्हारे शरीर का कुशल- समाचार कहने के लिए इस राजकीर को वहाँ भेज दूँ।''

कुमार 'अच्छा ऐसा कीजिये' कह कर वहाँ से चल दिया। कुमार की संगति के विरह से एणिका को अत्यन्त शोक हुआ। शोक से उत्पन्न हुए अश्रु-जल की बूँदों से उसके नेत्रों की गति बन्द हो गई। वह राजकीर के साथ कुमार के पीछे-पीछे कुछ दूर तक गई, फिर उसकी आज्ञा लेकर वापस लौट आई।

चलते-चलते कुमार अनुक्रम से विन्ध्याटवी को लाँघ कर सह्य पर्वत के पास आया। वहाँ एक सार्थ को किसी सरोवर के किनारे पड़ा हुआ देखकर कुमार ने एक आदमी से पूछा-"क्यों भाई! यह सार्थ कहाँ से आ रहा है? और कहाँ जाने वाला है?" उसने उत्तर दिया-"यह सार्थ विन्ध्यपुर से आ रहा है और काञ्चीपुरी (करांची) जाने वाला है।" कुमार ने कहा-"विजयपुरी यहाँ से कितनी दूर है? तुम्हें मालूम है?" उसने उत्तर दिया-"देव! विजयपुरी यहाँ से बहुत दूर है। सुना है वह दक्षिण समुद्र के किनारे पर है।" कुमार ने सोचा-'मुझे इस सार्थ के साथ ही चलना चाहिये' ऐसा सोचकर वह सार्थपति वैश्रमणदत्त के पास गया और बोला-"सार्थपति! मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।" सार्थपति ने कहा-"ठीक है। आपने हम पर बड़ी कृपा की।" फिर सार्थपति वहाँ से रवाना हुआ। वह कुछ दूर पहुँचा कि सूर्य अस्ताचल पर आरूढ़ हो गये। सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार फैल गया। सार्थ ने वहीं कहीं पड़ाव डाल दिया। दैवयोग से उसी रात में कठोर तलवारों को धारण करने वाले और धनुष् पर बाण चढ़ा कर तैयार हुए भीलों ने 'पकड़ो पकड़ो' पुकार कर समस्त सार्थ को लूट लिया। यह सारी मुसीबत देख सार्थ के लोग भागने लगे। उसी समय सार्थपति की धनवती नाम की कन्या अपने परिजनों के भाग जाने, सिपाहियों के मारे जाने और सार्थपति के प्राण चले जाने से भीलों के कब्जे में आ पड़ी। उसकी आँखें भय से विह्वल हो गईं। वह साँसें छोड़ने लगी और उसके पुष्ट स्तन काँपने लगे। अन्त में निराधार धनवती ' कोई रक्षा करो, रक्षा करो' की प्रार्थना करती हुई कुवलयचन्द्रकुमार के पास आई और बोली-"निर्भय भद्र! तुम शूरता में सिंह के समान जान पड़ते हो तो इन भीलों से सताई हुई मेरी रक्षा करो" कुमार ने कहा-"सुन्दरनेत्रे! अपने नेत्रों को भयभ्रान्त न कर। मैं अपनी जान देकर भी तेरी रक्षा करूँगा।" ऐसा कह उसने किसी भील से बाणों

सहित धनुष् छुड़ा कर बाणों की ऐसी वर्षा की जैसे जल की धाराओं से मेघ की वर्षा होती है। कुमार के प्रहारों से भीलों की समस्त सेना जर्जरित होकर भाग खड़ी हुई। यह देखकर पल्लीपति (सरदार) क्रोध में आकर स्वयं युद्ध करने लगा। दोनों एक दूसरे पर पैने बाणों की वर्षा करने लगे। ऐसा जान पड़ने लगा कि दूसरी काल रात्रि आ उपस्थित हुई है। कुमार के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। उसने अन्त में पल्लीपति पर स्तम्भन मन्त्र का प्रयोग किया भीलों के सरदार ने भी कुमार पर उसी मन्त्र का प्रयोग किया परन्तु उस पर मन्त्र का जरा भी असर न हुआ। यह देख कर सरदार ने सोचा-'अहो, यह कोई महान् पराक्रमी तथा समस्त कलाओं में कुशल मालूम होता है। मैं इसे नहीं मार सकता। हाँ, यह हो सकता है कि यही मुझे मार डाले। अतः मुझे अब प्रहार करना उचित नहीं है। समस्त संग (परिग्रह) का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।' ऐसा विचार कर सरदार युद्धक्षेत्र से सौ हाथ पीछे हट गया और भयङ्कर तलवार हाथ से नीचे डाल दी। फिर हाथ लम्बे करके, दुर्ध्यान का त्याग करके, आगार सहित नियम धारण करके पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता हुआ शत्रु-मित्र पर समता रखकर उसने कायोत्सर्ग अङ्गीकार किया। उसकी ऐसी चेष्टा देख तथा पञ्च नमस्कार मन्त्र का उच्चारण सुन एकदम सम्भ्रान्त हुआ कुमार उसे सधर्मी समझ उसके पास आया और बोला-"पल्लीपति! तुमने यह अपूर्व साहस यकायक क्यों किया है? कायोत्सर्ग छोड़ दो। मुझे क्षमा करो, जिसने कि पहले तुम्हारा अपराध किया है।" पल्लीपति ने यह विचार कर कि, यह मेरा सधर्मी है, इसे मुझे 'मिथ्या दुष्कृत' देना चाहिए, कायोत्सर्ग का त्याग करके कुमार को वन्दना दी। कुमार ने भी उसे वन्दना की। इस प्रकार दोनों आपस में धर्मानुराग दिखाने लगे। उनके चित्त प्रीति से ओतप्रोत हो गये और नेत्रों में जल भर आया।

कुमार- जब तुम्हारा ऐसा कर्म है तो यह धर्म कैसे? और जब यह धर्म है तो दूसरे (धनादि) से क्या प्रयोजन?

पल्लीपति- मैं सब जानता हूँ परन्तु कर्म रूपी दुष्ट वैरियों ने मुझे लोभ में फँसा दिया है। तो भी अब तुम्हारी संगति से नियम और ध्यान के संयोग से आत्मा का कल्याण करूँगा।

कुमार- तुम्हारा चारित्र बेमेल है, अत यह बताओ कि तुम हो कौन?

पल्लीपति- मैं भील नहीं हूँ। यह हाल विस्तार पूर्वक बाद में कहूँगा। इस समय सार्थ को लूटने वाले भीलों को रोकता हूँ।

इतना कहकर उसने भीलों से सब सार्थ की रक्षा की। सब भील सरदार के डर से दूर भाग गये। सार्थ के मनुष्यों की जो चीजें भील ले गये थे, उसने सब वापस दिलवाईं। भागते हुए सार्थपति को पकड़ कर भीलों ने अपने सरदार को ला सौंपा। सरदार ने उससे कहा-"सार्थपति! डरो मत। अपनी सब वस्तुएँ सँभाल लो और जहाँ जाना हो सुख से जाओ।" इस प्रकार कह कर सेनापति तुरत उठा और कुमार के साथ अपनी महापल्ली में गया जो कि पर्वत के शिखर पर थी। वहाँ नगरी की तरह समृद्धिशाली पल्ली तथा उसके बीच में बने हुए स्वच्छ प्रासाद को देखकर कुमार ने उससे पूछा-"इस संनिवेश का क्या नाम है?" उसने उत्तर दिया-"इसका नाम चिन्तामणि है।" इस प्रकार तरह तरह के प्रश्न पूछता-पूछता राजकुमार राजमन्दिर में गया। वहाँ थोड़ी देर तक दोनों स्नान करने की चौकी पर बैठे। फूले हुए मालती के फूलों जैसे सुगन्ध युक्त तैल उनके सिर में डाल कर नौकरों ने कमल सरीखे कोमल हाथों से शरीर की अच्छी तरह संवाहना की। फिर गुन गुने पानी से स्नान करके पवित्र होकर चन्द्रमा की किरणों से बनाये हुए जैसे श्वेत वस्त्र पहन कर उस महल में बने हुए देवालय में गये। मोक्ष-लक्ष्मी के द्वार के समान उस देवालय के सुवर्णमय दरवाजे को खोल कर वे अन्दर घुसे। वहाँ सोने तथा रत्नों की बनी हुई पूज्य तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की पूजा की। फिर चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति का पाठ करके उन्हें प्रणाम करके दोनों भोजनशाला में आये। वहाँ इच्छानुसार आनन्दपूर्वक भोजन करके आपस में बात-चीत करने लगे। इतने में वहाँ अचानक ही एक पुरुष आया। वह सफेद वस्त्र पहने हुआ था और हाथ में लोहे का एक डण्डा लिये हुए था। वह बोला-"पल्लीपति! इस अपार और असार सागर के समान संसार को तू जानता है तथा मोक्ष सुख का ही उपदेश देने वाले जिनेन्द्र के वचन भी जानता है, तो भी यदि तू इस व्यवसाय को न छोड़ेगा तो मैं इस डण्डे से तेरी खबर लूँगा।" ऐसा कहकर उस पुरुष ने सरदार के सिर में बिलकुल धीरे से डण्डा लगाया। सेनापति इतने से प्रहार से ही नीचे की ओर देखने लगा जैसे महान् गरुड़-मन्त्र से मन्त्रित सरसों

के प्रहार से साँप नीचे देखने लगता है। उसने सोचा-'ओहो, कैसे आश्चर्य की बात है कि इस निर्दय आदमी ने ऐसे सत्पुरुष के सामने मुझे मारा और कठोर वचन कहे। अथवा मैं प्रमाद में मग्न था, सो इतने मेरा भला ही किया है, क्योंकि जरा मृत्यु और महाव्याधियों के दुःख से दुःखी अनेक प्राणी इस घोर और बीहड़ संसार रूपी अरण्य में परिभ्रमण करते हैं। उनमें से कोई-कोई भव्य प्राणी कर्म की ग्रन्थि भेद कर अमूल्य और दुष्प्राप्य सम्यक्त्व-रत्न को पाते हैं। वे संसार-समुद्र में सम्यक्त्व रूपी पाटिया पाकर भी यदि प्रमाद करते हैं तो वह अपनी आत्मा को अत्यन्त दुःख उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार विचार करते-करते सेनापति का मन चिन्ता से व्याप्त हो गया। उसकी दोनों आँखें आँसुओं के जल से भीग गईं। वह साँसे लेने लगा उसका मुख दीन हो गया। यह सब हाल देख कुमार बोला-"भद्र! बात क्या है? बतलाओ तो।"

सेनापति ने लम्बी निःश्वास छोड़कर कहा-"कुमार! सुनिये। इस भरतक्षेत्र में संसार को आनन्द देने वाली, गुणों से सुन्दर, पाप रहित तथा पृथ्वी रूपी स्त्री के तिलक की शोभा के सदृश रत्नपुरी नाम की एक श्रेष्ठ नगरी है। वह नगरी स्वर्ग की नगरी की तरह उग्रधन्वा[१] से भरी हुई, आकाश-लक्ष्मी की भाँति मङ्गल[२] सहित अलका नगरी की तरह धनद[३] सहित, लङ्कापुरी की नांई सदानवा,[४] वन की भूमि की तरह सन्नेत्राकलिता[५] सुन्दर अशन[६] वाली पुन्नाग[७] सहित सनारङ्ग[८] और श्रीफलों[९] से मनोहर थी। उसमें समस्त भूतल की रक्षा करने वाला तथा समस्त राजाओं को नमाने वाला रत्नमुकुट नामक राजा था। उसके दर्पफलिक और भुजफलिक नाम के दो लड़के थे। राज्य का पालन

---

१. शिव और उग्र धनुर्धर।
२. मङ्गल नामक ग्रह और माङ्गलिक कार्य।
३. कुबेर और धन देनेवाले आदमी।
४. दानवों सहित और सदा नयी।
५. अच्छे नेत्र जाति के वृक्षों के सहित तथा सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियों के सहित।
६. एक प्रकार के वृक्ष और भोजन।
७. एक प्रकार के वृक्ष और उत्तम पुरुष।
८. नारङ्गी वृक्ष और कामी पुरुष।
९. नारियल और लक्ष्मीरूपी फल।

करता हुआ वह राजा एक बार अमावस्या के दिन सायंकाल वास-भवन में जाकर कुछ विचार करता हुआ बैठा। इतने में एक पतंगा दीपक के पास आया। उसे देखकर स्वभाव से ही दयालु-हृदय राजा ने विचार किया-'यह बेचारा पतंगा दीपक में गिर कर मर जायगा, मैं इसकी रक्षा करूँ।' ऐसा विचार कर उसने पतंगे को तीन बार खिड़की से बाहर किया परन्तु वह बारम्बार दीपक के पास आने लगा। राजा ने यह विचार कर कि किसी जीव का रक्षण यदि प्रयत्न पूर्वक किया जाय तो वह चिरकाल तक जीवित रहता है, एक खुले हुए करण्डक में उसे डाला और बन्द करके अपने सिरहाने के पास रख लिया। कुछ देर में राजा ने निद्रा का आनन्द लिया। प्रातःकाल जागकर उसने उसको खोला तो उसमें एक छिपकली निकली, पतङ्गा दिखाई न दिया। उसने सोचा-'छिपकली पहले ही से करण्डक में बैठी होगी और मालूम होता है, अवश्य इसी ने पतंगे को खा लिया है। अहो, किये हुए कर्म कभी छूटते नहीं हैं। जीवन-पूर्व जन्म में शुभ या अशुभ जितने कर्म उपार्जन किये हैं, उतना फल उसे इस जन्म में प्राप्त हो जाता है।' ऐसा सोच करके वैराग्य में आगे बढ़े हुए राजा को यकायक जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपना पूर्वभव देखा कि- मैं पूर्व जन्म में चारित्र का पालन करके स्वर्ग लोक में गया था, वहाँ से आकर यहाँ राजा हुआ हूँ। उसी समय पास में छिपी हुई किसी देवी ने राजा को रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्टा आदि साधु के उपकरण दिये। वह राजर्षि केश-लोच करने के लिए तैयार हुआ कि इतने में प्रातःकाल होने से मङ्गल पाठक इस प्रकार बोलने लगे-"ये राजा तो मुनिधर्म में सूर्योदय के पहले ही जागृत हो चुके हैं और हम लोग प्रातःकाल में सूर्योदय होने के बाद जागे हैं।

सूर्य उदयाचल के शिखर पर आरूढ़ हुआ है और पद्मालय पद्म रूपी नेत्रों को खोलकर निद्रा का त्याग कर रहे हैं। चारों ओर पक्षियों की चहचहाहट फैली हुई है और काम-क्रीडा के परिश्रम से निकली हुई पसीने की बून्दों को सोखता हुआ वायु बह रहा है। अपने शत्रु सूर्य के क्रूर करों के आघात से डर कर अन्धकार नपुंसक की नाईं नौ दो ग्यारह हो गया है। जैसे कुसेवक निर्धन स्वामी का साथ छोड़कर धनवान् स्वामी की शरण में चला जाता है, वैसे ही भौंरे लक्ष्मी रहित इन्दीवर (चन्द्र विकासी कमल) को त्यागकर अम्बुज (सूर्य विकासी कमल) का आश्रय लेने लगे। पक्षी अपने कल-कल शब्द से मानो यह बतला रहे हैं कि देखो, जगत् की लक्ष्मी आती है और चली भी जाती है, इसका दृष्टान्त सूर्य

है। सूर्य का 'उदय' हुआ है, अतः आकाश-लक्ष्मी तारा रूपी पुष्पों के मिष से उसको अर्घ दे रही है और चन्द्रमा की किरणों रूपी जल से पाद्य दे रही है। राजन्! ऐसे प्रातःकाल में तू मोह (निद्रा) का त्याग कर और केवल परलोक में हितकारी कार्य का आचरण कर।" इस प्रकार उनकी मङ्गल-स्तुति का पाठ सुनकर पूज्य महर्षि वासभवन के द्वार से बाहर निकला जैसे सिंह गुफा से निकला हो। लोच किये हुए केश वाले तथा पात्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका हाथ में लिए हुए राजा को देखकर शय्या का काम करने वाली सब स्त्रियाँ चिल्लाने लगीं-"अरे परिजनों! दौड़ो जल्दी दौड़ो, अपने स्वामी कोई विचित्र विडम्बना पाकर जा रहे हैं।" यह सुनकर संभ्रम के वश से गिरती-पड़ती हुई तथा नूपुर और करधनी से झनझनाहट करती हुई रनवास की स्त्रियाँ वाराङ्गनाएँ तथा परिजन सब के सब वहाँ इकट्ठे हो गये। उन्होंने कहा-"नाथ! हम निर्दोषों को त्याग करके और अपनी आत्मा को इस प्रकार विडम्बित करके आप कहाँ चले? हम आपके बिना निराश्रय हैं।" परिजन इस प्रकार का विलाप कर रहे थे तो भी उन्हें बिना उत्तर दिये ही राजर्षि वहाँ से आगे बढ़े। परिजन आदि का विलाप सुनकर राजा का प्रधान मन्त्री वहाँ आया और बोला-"देव! आपका यह मुनि वेष के समान आचरण आज यकायक क्यों हुआ?" किन्तु राजर्षि ने उसका भी कुछ उत्तर न दिया। अन्तःपुर के लोग तथा मन्त्री पीछे-पीछे चलने लगे। राजर्षि नगर के बाहर उद्यान में आये। वहाँ पहुँच कर वे प्रत्येक बुद्ध राजर्षि त्रस स्थावर जन्तु रहित, बोध देने योग्य स्थान पर बैठे। मन्त्री तथा अन्तःपुर के लोग उनके सामने बैठ गये। दर्पफलिक और भुजफलिक कुमार आकर पिता के पास बैठे। उन्हें प्रतिबोध देने के लिए पूज्य मुनिराज ने पाप- रूपी सर्प का जहर उतारने के लिए जाङ्गली विद्या के समान धर्मदेशना प्रारम्भ की-

"भय से सदा भरे हुए संसार रूपी अपार समुद्र में भ्रमण करते प्राणी को चिरकाल में मनुष्य-भव रूपी द्वीप मिलता है। भव्य जीवों! ऐसा मनुष्य जन्म पाकर तुम सदा सन्मार्ग के मुसाफिर बनो, जिससे दुःख रूपी तीखे काँटे तुम्हारे चरण को कष्ट न पहुँचा सकें। पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु की सात-सात लाख, प्रत्येक और साधारण वनस्पति की दस तथा चौदह लाख द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की दो-दो लाख योनियाँ हैं। इनमें उत्पन्न होने से जीव जब तक मोक्ष का दाता सम्यक्त्व नहीं पाते, तब तक नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं।" इस प्रकार

क्लेशों का नाश करने वाली देशना देकर निष्कपट प्रत्येक बुद्ध भगवान् पृथ्वी पर विहार करने लगे। उस समय बड़ा कुमार दर्पफलिक और छोटा कुमार भुजफलिक- दोनों भाई सिर्फ सम्यक्त्व को ग्रहण करके श्रावक हुए। इसके पश्चात् मन्त्रियों ने अयोध्या नगरी में हमारे काका राजा दृढधर्मा के पास यह खबर भेजी कि हमारे पिता ने चारित्र अङ्गीकर कर लिया है। उन्होंने बड़े कुमार दर्पफलिक को राज्यासन पर बिठलाने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञानुसार सब राजपुरुषों ने यह बात स्वीकार की। केवल एक स्त्री, एक वैद्य और एक भुजफलिक की माता इन तीनों ने हमारे काका की बात न मानी। तीनों ने आपस में सलाह करके, परलोक और अपमान की परवाह न कर मुझे कोई औषधि खिला दी। मैं उससे उसी समय पागल हो गया। अतः कभी वस्त्र उतारकर, कभी पहन कर, कभी धूल से देह को भरकर और कभी हाथ में टुकड़ा लेकर घूमने-फिरने लगा। फिरता-फिरता मैं एक बार इस विन्ध्याचल की गुफाओं में आया। मैं भूख और प्यास से बहुत दुःखी हो गया। पर्वत की नदियों में सल्लकी, हरड़, तमाल और आँवला आदि वृक्षों के कन्द, फल, फूल वगैरह से व्याप्त जल को मैंने तीन बार पीया। उस जल को पीते ही मेरा पागलपन मिट गया। मैं धीरे-धीरे शुद्ध बुद्धि वाला हो गया। इसके बाद स्वस्थ चित्त होकर अत्यन्त क्षुधा की बाधा होने से फूल-फलों की इच्छा करके मैं इधर-उधर फिर रहा था। इतने में मैंने अनेक भील लोगों के बीच में बैठे हुए एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष को देखा। वह पुरुष मुझे इस पल्ली में ले आया। हम दोनों को वाराङ्गनाओं ने स्नान कराया। फिर मैं उसके देवालय में गया और भगवान् जिनेश्वर को प्रणाम किया। भोजनशाला में आकर रुचि के अनुसार भोजन किया, फिर आनन्द से बैठे। उस समय उस पुरुष ने मुझसे कहा-"भद्र! तुम इस निर्जन वन में किस कारण से आये हो? और श्री जिनेन्द्र के वचनों की प्राप्ति तुम्हें कहाँ से हुई? सो बताओ।"

मैं- मैं रत्नपुरी के नरेन्द्र रत्नमुकुट का दर्पफलिक नाम का लड़का हूँ। मेरे पिता प्रत्येकबुद्ध हुए हैं। उन्हीं से मैंने जिनधर्म पाया है। कर्म के वश से फिरता-फिरता इस पल्ली में आया हूँ।

पुरुष- बहुत अच्छा है, तुम सोमवंशीय रत्नमुकुट राजा के पुत्र हो। हम दोनों का एक ही वंश है। अतः तुम मेरे इस राज्य को स्वीकार करो।

इतना कहकर उस पल्लीपति ने अन्य सब पल्लीपतियों के सामने मुझे सिंहासन पर बिठाकर उनसे कहा-"आज से यही तुम्हारा राजा है। अब जो मेरी इच्छा होगी वह करूँगा।" ऐसा कहकर वह पल्लीपति वहाँ से बाहर चला गया। उनके अनेक पल्लीपति सेवक थोड़ी दूर तक उसके पीछे जाकर वापस लौट आये। मैं उनसे थोड़ी दूर तक और आगे गया। जब मैं वहाँ से लौटने लगा तो उसने मुझे यह शिक्षा दी "वत्स! तू जीववध न करना, भलीभाँति प्रजा का पालन करना, प्राण जाने पर भी अकार्य न करना और श्री जिनधर्म में कदापि प्रमाद न करना।" ऐसा कहकर पल्लीपति न जाने कहाँ चला गया? परन्तु मेरे विचार से उसने किसी गुरु के पास दीक्षा ले ली होगी। कुमार! उस दिन से लेकर मैं तथा मेरे राज्य में दूसरा कोई, कुछ भी अन्याय न करते थे। किन्तु कुछ समय से कर्म-योग से मेरा मन मोह से मोहित हो गया। मैं सब शिक्षा-वचन भूल गया। इसलिए सब प्रकार के अन्याय करने लगा। अतः फूटे घड़े में डाले हुए पानी की तरह मेरे हृदय में से जिन-वचन का सब रहस्य जाता रहा और दुर्जन की प्रीति की भाँति सब शिक्षायें गायब हो गईं। इसलिए मैं ने इस पुरुष को आज्ञा दी कि "मैं लोभ से इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ। तू मुझे स्मरण कराने के लिए सदा लोहे के डण्डे से मारा कर" इसी से यह पुरुष मुझे हमेशा डण्डा मारता है।"

यह सब हाल सुनकर कुवलयचन्द्रकुमार बोला-"यह वृत्तान्त सुनकर किसके हृदय में आश्चर्य न होगा। प्रत्येकबुद्ध राजा रत्नमुकुट महान् सत्त्ववान् है, जिनेश्वर प्ररूपित मार्ग का पालन करना बहुत कठिन है तथा मोह रूपी पिशाच को जीतना अत्यन्त दुष्कर है। महाशय! तुम शिक्षा वचनों को भूल जाने से खेद क्यों करते हो। उसका पश्चात्ताप करने वाले तुम्हारे लिए तो वह शिक्षा अब तक जैसी की तैसी ही बनी हुई हैं। इसलिए तुम पाप का त्याग करो, क्योंकि ऐसे कुकृत्यों से क्या अच्छा फल हो सकता है?"

कुमार की यह बात सुनकर पल्लीपति बोला-"तुमने जो कहा, बिलकुल ठीक है, इसमें कोई संदेह नहीं कुमार! विज्ञान, रूप ,कला-कलाप, विनय, चतुरता और दाक्षिण्य आदि गुणों से तुम किसी उच्च कुल में उत्पन्न महासाहसी जान पड़ते हो। परन्तु तुम्हारा कुल कौन सा है? नाम क्या है? यह मैं नहीं जानता। अतः बताओ।"

कुमार- तुम्हारे काका, अयोध्या के राजा दृढधर्मा का कोई पुत्र है या नहीं?

पल्लीपति ने लम्बी साँस लेकर कहा- "एक बार किसी मुसाफिर के मुँह से मैंने सुना था कि राजा दृढधर्मा को राजलक्ष्मी के प्रसाद से पुत्र की प्राप्ति हुई। परन्तु पीछे उसका क्या हुआ सो मुझे मालूम नहीं।"

कुमार- राजलक्ष्मी के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला राजा दृढधर्मा का कुवलयचन्द्र नामक पुत्र मैं ही हूँ।

कुमार की बात सुनकर "अहो! तू ही मेरा भाई कुवलयचन्द्र है? ऐसा कहते-कहते उसकी दोनों आँखों में आँसुओं की बून्दें उत्पन्न हो गईं। फिर उस दर्पफलिक ने कुमार से पूछा-"कुमार! उष्ण ऋतु के बीतने पर मेघ की जल-धाराओं से पृथ्वीतल को भरने वाले, सब जीवों को सुख देने वाले, राजहंसों का प्रवास कराने वाले, वियोगी युवकों के मन रूपी वनभूमि में दावाग्नि के समान, कमलों के समस्त वनों को शान्ति देने वाले तथा जिसमें मत्त मयूर केका-रव कर रहे हैं, कलिकाल के समान साँपों का समुदाय संचार कर रहा है, बुरे राजा की तरह अच्छे मार्ग का नाश हो जाता है, सेवार तथा जटिल जाल वाले मार्ग में लगे हुए करोड़ों काँटों के कारण चलना-फिरना कठिन है, और पानी के पूर के प्रवाह से सैकड़ों गड्ढे पड़ गये हैं, तथा जिस काल में प्रचण्ड पवन से उछाली हुई आकाश को अड़ने वाली तरङ्गों से युक्त नदियों के समूह को पार करना कठिन है, ऐसे समय अपने स्थान को छोड़कर मुसाफिरी के लिए क्यों निकले हो?"

कुमार ने अपना सारा वृत्तान्त सुनाया और अन्त में कहा-"अब मुझे कुवलयमाला को बोध देने के लिए विजयापुरी जाना होगा।" इसके बाद उस पल्ली में कुमार ने तीन दिन आनन्द से बिताकर पल्लीपति से कहा-"आपकी आज्ञा हो तो अब मैं यहाँ से रवाना होऊँ?"

पल्लीपति- यदि तुम्हें अवश्य ही जाना है तो मैं दूसरा काम छोड़कर सब सेना सहित तुम्हारी कुशलता के लिए विजयापुरी तक चलूँ, क्योंकि तुम अकेले हो और रास्ता जानते नहीं हो।

कुमार- बहुतों के साथ तुम्हारा वैर बँधा है, तुम्हारी सेना थोड़ी है, अतः मेरे साथ आपको चलना उचित नहीं है।

पल्लीपति 'अच्छा तुम्हारा कल्याण हो' कहकर दक्षिण की ओर रवाना हुए कुमार के पीछे चला। थोड़ी दूर जाकर फूले हुए वृक्षों के वन में लतामण्डपों में उसे अदृश्य हुआ देख पल्लीपति लौटकर अपनी जगह आ गया।

इसके पश्चात् पल्लीपति मानवीय जनों का मान-सन्मान कर प्रधान मण्डल की आज्ञा ले, राज्य की व्यवस्था कर और दीनों को दान देकर कर दीक्षा लेने को तैयार हुआ। उस विरह रूपी अग्नि से अन्तःपुर की स्त्रियों का शरीर जलने लगा। वे दीन मुँख से उसकी ओर देखने लगीं। वह व्रत लेने के लिए बाहर निकला।

इधर कुवलयचन्द्रकुमार भी अनुक्रम से अनेक पर्वत, नदी और बड़े-बड़े पहाड़ों का उल्लङ्घन करके रास्ते में आये हुए अनेक ग्रामाकर, और नगरों में तरह-तरह के कौतुक देखता-देखता, समुद्र के किनारे पर बसी हुई विजयापुरी में आ पहुँचा। उस नगरी में उच्च जाति की, कुलीन तथा स्नेह वाली और मुग्ध सखियों से सेवित स्त्रियाँ विराजमान थीं। उसके बाहर धरती तक झुके ऊँचे-ऊँचे चमेली के वृक्षों वाले तथा स्नेही और मोही भौंरों से सेवित अनेक आराम (बगीचे) सुशोभित थे। वहाँ कर-पीडन सिर्फ स्त्रियों के स्तनों में था, प्रजा को कर (टैक्स) की किसी प्रकार की पीड़ा न थी। खण्डन भी स्त्रियों के अधरों में था, प्रजा में किसी प्रकार का खण्डन न था, स्नेह (तैल) की हानि सिर्फ दीपकों में होती थी, प्रजा में स्नेह (प्रेम) की हानि नहीं होती थी। उस नगरी में भद्र जाति से स्फुरायमाण ऊँचे हाथी, तथा भद्र जाति से मनोहर (भद्र) मनुष्य निवास करते थे। उस नगरी के निवासी पुरुष दो प्रकार के पराक्रम (गति और पुरुषार्थ) से शोभित थे, दो प्रकार से सुवर्ण (शरीर का रंग और जाति) वाले थे, दो प्रकार से सश्रीक (शोभा वाले तथा लक्ष्मीमान्)थे और दो प्रकार से कला केलिप्रिय (कला और क्रीड़ा जिन्हें प्रिय थी, तथा कलावान् मनुष्य जिन्हें प्यारे) थे। वहाँ के लोगों को न कभी जन्य (युद्ध) का सामना करना पड़ता था न अजन्य (उपद्रव) का। इस कारण वध करने में अथवा मन्दिरों में कोई भी मार्गण (बाण का उपयोग और भिखारी)न

था। कुमार रास्ता चलने के कारण बहुत थक गया था, अतः नगरी की उत्तर दिशा के भाग में विश्राम करने बैठ गया। उसने विचार किया-'गुरु महाराज द्वारा बतायी विजया नगरी में तो मैं आ पहुँचा, परन्तु कुवलयमाला से मुकालात कैसे हो?' ऐसा विचार कर कुमार उसी समय खड़ा हो गया और नगरी की ओर रवाना हुआ। उस नगरी का घेरा ऊँचा सोने का बना हुआ था। उसमें नाना प्रकार के रत्नों के कँगूरे बने हुए थे। उसके दरवाजे मूँगा के बने हुए थे। नगरी में प्रवेश करके थोड़ा आगे बढ़ा कि कुछ पनिहारियों की तरह-तरह की बातें उसे सुनाई दीं।

एक ने कहा- कुवलयमाला कुँवारी ही मर जायगी, उसे कोई नहीं ब्याहेगा।'

दूसरी- ब्रह्मा ने उसके विवाह की रात्रि बनाई ही नहीं, क्योंकि रूप, यौवन, विलास और सौभाग्य के घमण्ड से वह कुलीन रूपवान् और सुन्दर राजकुमारों को भी पसन्द नहीं करती।

पनिहारियों की ऐसी बातें सुनता हुआ कुमार आगे बढ़ा। रास्ते में अनेक देशों से आये हुए व्यापारियों की भाषा सुनता हुआ, दुकानों की पङ्क्ति के पास वणिकों की नाना प्रकार की बातचीत सुनता हुआ, तथा नगरी की स्त्रियों के श्वेत और निर्मल नेत्रों की माला से अर्चित होता हुआ वह अनुक्रम से विजयसेन राजा के राजद्वार के समीप आया। उसका द्वार मोर की पीछी के बने हुए सैकड़ों छत्रों से व्याप्त था और अनेक नौकर-चाकर उसमें निरन्तर आ-जा रहे थे। उसके उच्च प्रकार के घोड़ों ने राजद्वार की भूमि अपने कठोर खुरों से खोद डाली थी। बन्दी जनों का समूह उसके सैकड़ों गुणों की स्तुति कर कर रहा था। इसलिए सब दिशाएँ मुखरित (बोलती हुई) सी मालूम होती थीं। शत्रुओं के समूह को रोकने वाले हाथियों के गण्ड-स्थल (कपोल) से झरते हुए मद जल से उसका आङ्गन लथपथ हो गया था। कुमार ने वहाँ राजपरिवार को हथेली पर मुख-कमल रख कर चिन्तातुर देखा तो किसी राजपुरुष से चिन्ता का कारण पूछा। उस राजपुरुष ने उत्तर दिया-" हे महासत्त्ववान्! यह किसी विपत्ति की चिन्ता नहीं, वरन् राजा की पुत्री कुवलयमाला पुरुषद्वेषिणी हो गई है। उसने गाथा

का एक चरण कागज पर लिखकर राजद्वार में लटकाया है। उस चरण के आधार पर जो पुरुष दूसरे तीन चरण रचकर गाथा पूरी कर देगा, वही उसका पति होगा, दूसरा नहीं। उसने ऐसी प्रतिज्ञा की है। इसलिए सब राजपुरुष उस गाथा हो पूर्ण करने के लिए अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विचार कर रहे हैं।''

कुमार- कोई पुरुष उस गाथा के तीन चरण रचकर उसे पूरा करे, परन्तु राजकुमारी के विचार से वह पूरी हुई है या नहीं, इसके लिए क्या सबूत है?

राजपुरुष- केवल कुवलयमाला ही उस गाथा को पूरी जानती है। उसने उसके बाकी के तीन चरण स्वयं लिखकर, लिफाफे में डाल कर उसके ऊपर राजा की सील-मुहर कराकर कोशागार में उसे रखा है।

कुमार ने सोचा- अहो, ठीक मायादित्य की माया प्रगट हुई है।

इतने में राजद्वार में लोगों के हृदय क्षुब्ध हो उठे, जैसे प्रलय काल उपस्थित हो गया हो। कुमार विचार करने लगा-'बेमौके यह क्या उत्पात मच गया? 'शान्ति करते उलटी बलाय आ लगती है।' यह कहावत सच हो गई।' इस प्रकार विचारता हुआ कुमार ज्यों ही उस गाथा के निरूपण के लिए गया, त्यों ही आलानस्तम्भ को उखाड़कर तथा पैर के मजबूत बन्धन को तोड़कर अत्यन्त मद से मत्त जयकुञ्जर नामक हाथी को अपने सामने आता हुआ देखा। पर्वत की भाँति ऊँचा और हिमालय की तरह सफेद वह हाथी गति के वेग से हवा को मात करता था। उस साक्षात् यमराज के समान क्रोधी हाथी को देखने के लिए राजा कुवलयमाला सहित महल की अगासी पर चढ़ा। राजा ने वहाँ से देखा कि हाथी कुवलयचन्द्रकुमार के पास ही आ पहुँचा हैं। यह देख उसने चिल्लाकर कहा-''भद्र! तू बालक है, जल्दी पीछे हट जा।'' राजा की यह बात सुनकर क्रोध से लाल नेत्र वाला तथा तेज से दीप्त कुमार ने जयकुञ्जर को क्षण भर में वश में कर लिया। वह उसके दोनों दाँतों पर दोनों पैर रखकर उसके कुम्भस्थल पर सवार हो गया। फिर वहीं ठहर कर कुमार ने कुवलयमाला की समस्या वाली गाथा इस प्रकार पूर्ण की-

कोसंबि धम्मनंदण-मूले दिक्खा तवं च काऊण।
कयसंकेया जाया, पंचवि पउमे विमाणम्मि।।

अर्थात्-"कौशाम्बी नगरी में, धर्मनन्दन गुरु के पादमूल में दीक्षा ग्रहण करके तथा तप करके जिन्होंने संकेत किया था ऐसे पाँचों पद्म विमान में उत्पन्न हुए थे।"

यह गाथा सुनकर 'इन्होंने मेरी समस्या पूर्ण की' कह कर कुवलयमाला ने मकरन्द के गन्ध में लुब्ध होकर आये हुए भौंरों के समूह से गुञ्जायमान सफेद फूलों की वरमाला कुमार के लिए भेजी। कुमार ने वह माला अपने गले में धारण की। राजा ने शरीर पर रोमाञ्च का कवच धारण करके कहा-"बेटी कुवलयमाला! तू ने उत्तम वर को पसन्द किया।" समस्या की पूर्ति हो जाने से राजपुरुषों ने जय, जय ही ध्वनि की और कहा "अहो! यह पुरुष कोई दैवी प्रभाव वाला है।"

इसके पश्चात् अनुपम गुणों के समूह को देख कर हर्ष से पूर्ण देवों ने अदृश्य रह कर आकाश से कुमार पर पुष्प-वृष्टि की। संसार में भाग्यशाली पुरुषों की क्या कमी है?

इसके पश्चात् राजा दृढवर्मा द्वारा पहले ही से भेजा हुआ मालवराज का पुत्र महेन्द्रकुमार, जिसे उसने पुत्र मानकर रखा था, एकदम जयकुञ्जर हाथी के पास आकर बोला-"चन्द्रवंश में मोती के समान, कलाओं के कुलधर के समान, दानचतुर, प्रणयी जनों के प्यारे, महाराज दृढवर्मा के पुत्र कुवलयचन्द्रकुमार! तुम्हारी जय हो, जय हो।"

ये शब्द सुनकर कुमार ने महेन्द्रकुमार को पहचान लिया। इसलिए उसे बड़े भाई के समान समझते हुए प्रीति से प्रसन्न मन होकर कुमार ने उसे जयकुञ्जर के कन्धे पर बिठलाकर अपने पिता-माता का कुशल-समाचार पूछा। उसकी कुशल पूछी। उस समय विजयसेन राजा भी कुमार के पास आ गया और बोला-"ओहो, कैसे आश्चर्य की बात है? प्रथम तो कुमार स्वरूपवान् और भाग्यवान् है, दूसरे इसने जयकुञ्जर हाथी को वश में किया, तीसरे आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई, चौथे इसने समस्या की पूर्ति की, पाँचवें मेरी पुत्री इस पर अनुरक्त हुई और छठे ये राजा दृढवर्मा के पुत्र ठहरे। ये सब आश्चर्य चित्त में चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कुवलयमाला को जिसे प्राप्त करना चाहिए था, उसने उसी को प्राप्त किया। पुत्री! मालूम होता है

इस उत्तम पुरुष को प्राप्त करने के लिए ही तू ने अब तक पुरुषों के प्रति द्वेष प्रकट किया था। 'यह पुत्री ब्याही जायगी', यह बात एक जैन ने कही थी, आज वह भी सत्य हुई। वत्स कुवलयचन्द्र! अब यह हाथी महावत को सौंप कर महल में चलो।''

महेन्द्रकुमार को साथ लेकर कुमार महल में गया। वहाँ सिंहासन पर विराजमान महाराज को नमन करके अपने योग्य आसन पर बैठा। कुवलयमाला, कुमार की ओर प्रेम भरी दृष्टि से देखती हुई, पिता की आज्ञा से अन्तःपुर (रनवास) में चली गई।

राजा ने कुमार से पूछा-'वत्स! कार्पटिक का ऐसा भेष बनाकर तुम अकेले दूर देश में किस प्रकार आये?''

कुमार-''यह सब आप जानते हैं। परन्तु कर्म के वश से फिरता-फिरता मैं आज ही इस नगरी में आया हूँ।

राजा - महेन्द्रकुमार! जिसके आने के विषय में तुमने मुझसे पूछा था, वही यह राजा दृढवर्मा के पुत्र हैं न?

महेन्द्र- स्वामिन्! यही हैं।

कुवलयचन्द्र-''तुम्हारा यहाँ कैसे आना हुआ?''

महेन्द्र-''देव! सुनो। जिस समय आप अश्वक्रीड़ा करने में लगे हुए थे और आपके समुद्रकल्लोल नाम के घोड़े ने सब राजपुरुषों के देखते देखते आकाश में उड़कर हरण किया, तो वह क्षण भर में ही अदृश्य हो गया। महाराज सारी सेना के साथ बहुत दूर तक आपके पीछे-पीछे आये। आपका कहीं पता न लगा। एक जगह उनका पवनावर्त घोड़ा गिर पड़ा और मर गया। उस समय महाराज आपके वियोग और पवनावर्त की मृत्यु से अत्यन्त दुःखी हुए और मूर्छित हो कर पृथ्वी पर जा गिरे। केले के पत्तों से हवा करके हम उन्हें होश में लाये। होश में आकर राजा होकर कर्मों का फल जानते हुए भी बालक की तरह विलाप करने लगे कि- 'पराक्रम के आधार भूत सुन्दर अङ्ग वाले, गुणों के समुद्र हे कुमार! तू मुझ अनाथ को छोड़कर किस कर्म के उदय से अकेला चला गया?' इस प्रकार तरह-तरह से विलाप करते महाराज को

मन्त्री समझाने लगे-"देव! पहले सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों को ज्वलनप्रभ नामक नागराज ने क्रुद्ध होकर अपनी फैलती हुई विषरूपी अग्नि की ज्वाला से क्षण भर में जलाकर भस्म कर डाला था तो भी सागर राजा ने मन में शोक को स्थान नहीं दिया था। नाथ! इस कुमार को तो कोई देव हरण करके ले गया है, अतः थोड़े दिनों में अवश्य ही उसकी खबर मिलेगी। देव! अधीरता को छोड़कर आप धीर पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन कीजिए।" इस प्रकार मन्त्रियों ने उन्हें समझाया तो वहाँ से लौट कर अपने महल में गये। कुमार! जिस दिन से तुम्हारा प्रवास हुआ, उसी दिन से तुम्हारे ही साथ सब के सुख का भी प्रवास हो गया है। तुम्हारे वियोग से अत्यन्त दुःखिता तुम्हारी माता ने निरन्तर आँसू बहाकर पृथ्वी को कीचड़-मय बना डाला है। देव! मानो तुम्हारे वियोग की अग्नि की ज्वाला से डर गये हों, इस प्रकार तुम्हारे अनुजीवियों के प्राण भी पलायन करने की इच्छा करते हैं। देव! तुम्हारे साथ रहने से किसी ने भी किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं किया। किन्तु आज तुम्हारे वियोग से सब मनुष्यों की शोभा कृतघ्नी और अज्ञानी पुरुषों के पास चली गई है। तुम्हारे वियोग से रनवास की स्त्रियाँ तथा नगरी के समस्त प्रजा-जन दुःखी हो रहे हैं। इसमें तो कहना ही क्या, लेकिन नन्हें-नन्हें बालक भी स्तनपान से विरक्त हो गये हैं। जो बालक तुम्हारे बिना पल भर न रह सकते थे, उन्होंने और तुम्हारे वियोग से दुःखी मैना और तोता आदि पक्षियों ने भी भोजन छोड़ दिया है तो दूसरों की बात ही क्या है? तुम्हारे वियोग ने नगर-निवासियों को सजीव होते हुए भी निर्जीव और चेतन होने पर भी मुर्दा बना दिया है। देव! ऐसी कोई जगह नहीं बची, जहाँ तुम्हारी खोज न कर ली हो, परन्तु दुर्भाग्य से कहीं से जरा भी पता नहीं चला। भयङ्कर ग्रीष्म ऋतु के नियोग से तालाब जैसे जल क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे वियोग से राजा भी कान्ति से क्षीण हो गये हैं। कुमार! इस प्रकार कुछ समय बीतने पर प्रतीहारी ने महाराज से निवेदन किया-"देव! एक तोता आपका दर्शन करना चाहता है।"

राजा-"क्या तोता भी कुमार के विषय में जानता है?" ऐसा कह कर राजा ने तोते को अन्दर आने की आज्ञा दी। तोता ने प्रतीहारी के साथ राजा के चरणों के समीप आकर निवेदन दिया-

तोता- "देव! सुनिये, कुवलयचन्द्रकुमार सकुशल हैं।"

राजा ने पुत्र की नांई गोदी में बैठाकर उससे कहा-"कुमार तुल्य वत्स! तू ने कुमार को कहाँ देखा है? उसे देखे कितना समय हो चुका है?"

यह प्रश्न सुन संदेश लाने वाले दूत की भाँति तोते ने स्पष्ट अक्षरों में अश्वहरण से लेकर कुवलयमाला से सुशोभित विजयापुरी की ओर रवाना होने तक का आपका सब वृत्तान्त राजा से निवेदन किया। राजा यह वृत्तान्त सुनकर विकस्वर रोमाञ्च रूपी कवच से व्याप्त हो गये और अपने को प्रफुल्लित स्नेह-सागर के मध्य में निमग्न मानने लगे। वे बोले-"आज राजकीर द्वारा बताये हुए पुत्र के कुशल वृत्तान्त से मुझे जितना आनन्द हुआ है, उतना कभी हाथियों, माण्डलिक राजाओं और घोड़ों से नहीं हुआ।" फिर उन्होंने आम आदि स्वादिष्ट फलों से शुक का सत्कार किया। जब शुक वहाँ से अपने निवास-स्थान को चल दिया तो महाराज ने मुझसे कहा-"महेन्द्र! मैं विजयपुरी जाना चाहता हूँ।" मैंने निवेदन किया-"देव! वहाँ जाने की मुझे आज्ञा दीजिये, क्योंकि मार्ग विषम है, अतः आपका जाना उचित नहीं है।" यह सुनकर दूसरे राजपुत्रों के साथ तुम्हारी प्रवृत्ति के लिए मुझे यहाँ भेजा। मुझे यहाँ आये एक मास ग्रीष्म ऋतु का और तीन मास वर्षा ऋतु के बीत गये हैं। एक बार प्रभु के समान इन महाराजा (विजयसेन) को नमस्कार करके मैंने निवेदन किया-"देव! राजा दृढवर्म के पुत्र कुवलयचन्द्र आपके पास आये हैं या नहीं?" महाराज ने उत्तर दिया-" इसकी मुझे जरा भी खबर नहीं है। परन्तु महेन्द्र! तू यहीं रहेगा तो कुछ दिनों में कुवलयचन्द्र से यही भेंट हो जायगी।"

इस प्रकार महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके मैं त्रिक में, चतुष्क में, देवालयों में, प्याउओं में, अन्नक्षेत्रों में, उद्यानों में और विहारों में आपकी खोज करता हुआ यहीं रहा। आज मेरी दाहिनी आँख और दाहिना हाथ फड़का। आपके दर्शन भी हो गये।" इस प्रकार सब वृत्तान्त सुनकर राजा विजयसेन ने कहा-" कुवलयचन्द्र कुमार यहाँ आये यह बहुत अच्छा हुआ। कुमार! आपके कारण हम धन्य पुरुषों में भी धन्य हुए। अब आपके लिए जो डेरा चुना गया है, वहाँ जाओ। मैं ज्योतिषी को बुलाकर कुवलयमाला के पाणिग्रहण का मुहूर्त ठीक करके आपको कहलाता हूँ।" इतना कहकर राजा खड़ा हो गया। कुमार महेन्द्र को साथ लेकर अपने डेरे पर चला गया।

दोनों कुमार आनन्द से स्नान-भोजन करके आनन्द से बैठे। इतने में राजा की भेजी हुई प्रतीहारी आकर बोली-"कुमार! महाराज ने आपको कहलाया है कि कुवलयमाला के पाणिग्रहण के लिए ज्योतिषी ने मुहूर्त देखा परन्तु अभी सब ग्रहों के बलवाला मुहूर्त आता नहीं है। अतः आप अत्यन्त उत्सुक न होवें। अभी अपना घर समझकर यहीं रहिये और क्रीड़ा सुख का अनुभव कीजिये।" प्रतीहारी इस प्रकार कहकर चली गई। महेन्द्र ने कुमार से कहा "अभी विवाह में बहुत विलम्ब विदित होता है, इसलिए महाराज श्री दृढवर्म को आपके आने का समाचार पत्र द्वारा ज्ञात करा देता हूँ।" इतना कह कर महेन्द्र वहाँ से उठ खड़ा हुआ। कुमार ने अकेले में विचार किया-'मैं महाविषम मार्ग को लाँघ कर यहाँ आया, मुनिराज के उपदेश के अनुसार गाथा की पूर्ति भी की, फिर भी कुवलयमाला का समागम भाग्य के अधीन जान पड़ता है। मेरा भाग्य ऐसा नहीं मालूम होता कि उसे ब्याह सकूँ। परन्तु किस उपाय से मैं उसे दूसरी बार देख सकता हूँ। यदि स्त्री का भेष बनाकर किसी दासी के साथ उसके अन्तःपुर में जाऊँ तो वह सत्पुरुष के आचार योग्य नहीं और यह राजविरुद्ध भी है। जिसके भुज-दण्ड में असाधारण शक्ति की व्यक्ति है, वह लोक निन्दनीय स्त्री के वेष को कैसे धारण करेगा? यदि उसकी सखियों से इशारा करके उसका हरण कर ले जाऊँ तो वह भी कुलीन पुरुष के योग्य नहीं हैं।' कुमार इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि इतने में महेन्द्रकुमार वहाँ आया और उससे बोला-"तुम्हारे यहाँ आने तक का सारा हाल मैंने पिता जी (दृढवर्मा) को लिख दिया है, परन्तु इस समय तुम्हारा मन उदास क्यों है?"

कुवलयचन्द्रकुमार- पिताजी को समाचार भेज दिये यह आपने बहुत अच्छा किया है। यह विचार आने से मेरे मन में खेद हुआ कि इतने दूर देश आने पर भी राजा विजयसेन अपनी पुत्री मुझे ब्याहेंगे या नहीं?

महेन्द्र- तुमने जो विचार किया है। बिल्कुल मिथ्या है, क्योंकि तुम कुल, शौर्य, लावण्य, अनुपम रूप, यौवन, विज्ञान और कला के भण्डार हो। तुम्हारे जैसा कोई दूसरा वर ही नहीं मिल सकता, जिसे वे अपनी लड़की ब्याहें। अतः इसका विवाह तुम्हारे ही साथ होगा।

समान बड़ी होकर अब युवावस्था में आई है। उसके पिता ने उसके लिए, रूप, लावण्य और गुणों से युक्त अनेक राजकुमार ढूँढे परन्तु पुरुषों पर द्वेष रखने वाली कुवलयमाला ने किसी को भी पसन्द न किया। मैंने भी उसे अनेक प्रकार से समझाया परन्तु उसे किसी भी पुरुष से जरा भी अनुराग न हुआ। इससे उसके माता-पिता के मन में बहुत खेद हुआ। सब मन्त्री और राजपुरुष भी इसी प्रकार दुःखी हुए। एक बार एक प्रतीहार ने आकर राजा से कहा-"देव! बाहर के उद्यान में कोई दिव्यज्ञानी विद्याधर मुनि पधारे हैं।" महाराज कुवलयमाला को साथ लेकर सपरिवार वहाँ गये और मुनि को वन्दना की। मुनि ने धर्मलाभ रूप आशीर्वाद देकर संसार का अनित्य आदि समस्त स्वरूप उपदेश देकर बतलाया। राजा ने फिर वन्दना करके उनसे पूछा कि मेरी यह पुत्री पुरुषों से द्वेष रखती है, तब किसके साथ कब और किस प्रकार ब्याही जायेगी?" मुनि ने अपने ज्ञान के अतिशय से समस्त वृत्तान्त जानकर उसके पूर्व भव में कौशाम्बी नगरी में मायादित्य द्वारा की हुई माया, वहाँ से स्वर्ग में उत्पन्न होकर प्रतिबोध करने के लिए किया हुआ संकेत, कुवलयमाला का जन्म, राजद्वार में अवलम्बित की हुई गाथा की पूर्ति की निशानी, जयकुञ्जर का वश में करना और कुवलयचन्द्र के साथ पाणिग्रहण आदि वह समस्त वृत्तान्त राजा से कहा। इसके पश्चात् मुनि आकाश मार्ग से विहार कर गये। उनके अनन्तर जयकुञ्जर को वश में करके और गाथा की पूर्ति करके तुम प्रगट हुए। अब तुम जब से आये हो, उसी दिन से कुवलयमाला तुम्हारे दुःसह विरह रूपी अग्नि से जल रही है, कामदेव के बाण से उसका शरीर जर्जरित हो गया है और जो वचन से कही नहीं जा सकती ऐसी काम की नवमी अवस्था (प्राणसंदेह) का अनुभव कर रही है। इसलिए उसने मुझे महारानी के साथ तुम्हारे पास भेजा है।"

कुमार ने कहा- बतलाइये मुझे क्या करना होगा?

दासी- कुमार! यदि मुझसे पूछते हो तो मैं कहती हूँ कि यह सब बताने का अवसर वीत गया है, तो भी यदि तुम राज-भवन के उद्यान में आओ, तो किसी तरह तुम्हारे दर्शन रूपी जल से बाला कुवलयमाला के विरह-ताप की क्षणिक शान्ति हो सकती है।

महेन्द्र- ठीक है, इसमें क्या हानि है?

भोगवती महेन्द्र का कथन सुनकर 'बहुत अच्छा' कहकर भानुमती के साथ वहाँ से चली आई।

समान बड़ी होकर अब युवावस्था में आई है। उसके पिता ने उसके लिए, रूप, लावण्य और गुणों से युक्त अनेक राजकुमार ढूँढे परन्तु पुरुषों पर द्वेष रखने वाली कुवलयमाला ने किसी को भी पसन्द न किया। मैंने भी उसे अनेक प्रकार से समझाया परन्तु उसे किसी भी पुरुष से जरा भी अनुराग न हुआ। इससे उसके माता-पिता के मन में बहुत खेद हुआ। सब मन्त्री और राजपुरुष भी इसी प्रकार दुःखी हुए। एक बार एक प्रतीहार ने आकर राजा से कहा-"देव! बाहर के उद्यान में कोई दिव्यज्ञानी विद्याधर मुनि पधारे हैं।" महाराज कुवलयमाला को साथ लेकर सपरिवार वहाँ गये और मुनि को वन्दना की। मुनि ने धर्मलाभ रूप आशीर्वाद देकर संसार का अनित्य आदि समस्त स्वरूप उपदेश देकर बतलाया। राजा ने फिर वन्दना करके उनसे पूछा कि मेरी यह पुत्री पुरुषों से द्वेष रखती है, तब किसके साथ कब और किस प्रकार ब्याही जायेगी?" मुनि ने अपने ज्ञान के अतिशय से समस्त वृत्तान्त जानकर उसके पूर्व भव में कौशाम्बी नगरी में मायादित्य द्वारा की हुई माया, वहाँ से स्वर्ग में उत्पन्न होकर प्रतिबोध करने के लिए किया हुआ संकेत, कुवलयमाला का जन्म, राजद्वार में अवलम्बित की हुई गाथा की पूर्ति की निशानी, जयकुञ्जर का वश में करना और कुवलयचन्द्र के साथ पाणिग्रहण आदि वह समस्त वृत्तान्त राजा से कहा। इसके पश्चात् मुनि आकाश मार्ग से विहार कर गये। उनके अनन्तर जयकुञ्जर को वश में करके और गाथा की पूर्ति करके तुम प्रगट हुए। अब तुम जब से आये हो, उसी दिन से कुवलयमाला तुम्हारे दुःसह विरह रूपी अग्नि से जल रही है, कामदेव के बाण से उसका शरीर जर्जरित हो गया है और जो वचन से कही नहीं जा सकती ऐसी काम की नवमी अवस्था (प्राणसंदेह) का अनुभव कर रही है। इसलिए उसने मुझे महारानी के साथ तुम्हारे पास भेजा है।"

कुमार ने कहा- बतलाइये मुझे क्या करना होगा?

दासी- कुमार! यदि मुझसे पूछते हो तो मैं कहती हूँ कि यह सब बताने का अवसर वीत गया है, तो भी यदि तुम राज-भवन के उद्यान में आओ, तो किसी तरह तुम्हारे दर्शन रूपी जल से बाला कुवलयमाला के विरह-ताप की क्षणिक शान्ति हो सकती है।

महेन्द्र- ठीक है, इसमें क्या हानि है?

भोगवती महेन्द्र का कथन सुनकर 'बहुत अच्छा' कहकर भानुमती के साथ वहाँ से चली आई।

इसके अनन्तर कुवलयचन्द्र कुमार महेन्द्र के साथ राजा के उद्यान में जाकर इधर-उधर घूमने लगा। इतने में महेन्द्र ने कहा "कुमार! नूपुर का मनोहर शब्द सुनायी दे रहा है। मेरे खयाल से तुम्हारे नवीन कामदेवरूपी महा ज्वर का विनाश करने के लिए औषध के समान कुवलयमाला आ रही है।"

कुमार- मेरा ऐसा भाग्य नहीं जान पड़ता।

महेन्द्र- कुमार! धीरज रक्खो?

इतने में घनी लताओं में खड़े हुए कुमार ने हंसियों में राजहंसी के समान, ताराओं में चन्द्रमा की रेखा के समान और अप्सराओं के बीच रम्भा की तरह, सखियों के बीच में आती हुई कुवलयमाला को देखा। उसे देखकर कुमार ने मन ही मन कहा-'ब्रह्मा को अनेकानेक प्रकार धन्य है, जिसने तीन लोक को आश्चर्य करने वाली इस स्त्री को बनाया है।' उसी समय कुवलयमाला ने चलते-चलते कहा- 'विधाता! यदि मुझ पर प्रसन्न हो तो ऐसा करो कि मैं अपने नवीन प्रीतम को आज ही देख पाऊँ और वे मुझे देख लें।' यह सुनकर कुमार ने महेन्द्र से कहा-" महेन्द्र! आगे बढ़कर मैं उसकी चेष्टा देखता हूँ।" यह कहकर कुमार लताकुञ्ज में घुस गया और महेन्द्र क्रीड़ा से इधर उधर घूमने लगा। इधर भोगवती ने कहा-" वत्से! अपना मन खेद के अधीन न करो। मालूम होता है युवक (कुमार) यहाँ आया हुआ है क्योंकि शङ्ख चक्र के पद चिह्न दिखाई दे रहे हैं। इसके अनन्तर भोगवती की आज्ञा से सब दासियाँ कुमार की खोज में चारों ओर निकलीं, परन्तु कुमार कहीं दिखाई न दिया। तब भोगवती ने कहा "पुत्री! मैं स्वयं जाकर अभी खोज लाती हूँ। तू यहीं रहना।" यह कहकर भोगवती कुमार को ढूँढ़ने चली। कुवलयमाला ने सोचा-'मुझे तो यह सब कपट जान पड़ता है। उस युवक ने आज यहाँ आने का संकेत ही नहीं किया होगा। ये पैरों के चिह्न किसी दूसरे के होंगे। वह तो देवों को भी दुर्लभ है तो मुझे कैसे प्राप्त हो सकता है? वह मुझे कभी ब्याहेगा, पर उसके साथ किये जाने वाले विवाह का जो दिन निश्चित किया गया होगा, तब तक प्राण कैसे बने रहेंगे? मुझे कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि यह दुःख अब बहुत देर न भुगतना पड़े।' ऐसा विचार कर कुवलयमाला पाश बनाने के लिए लोंग के लता-मण्डप की ओर चली। उसी मण्डप में कुमार छिपा था। उसे आती देखकर क्षणभर कुमार की ऐसी अपूर्व अनिर्वचनीय

अवस्था हुई जैसे लज्जित हुआ हो, भयभीत हुआ हो, विलक्ष हो गया हो, या अभी अभी जीवित हुआ हो। कुवलयमाला भी कुमार को देखकर 'मैं अकेली हूँ।' इस विचार से भयभीत हुई, 'यह वही (प्रीतम) हैं' इस विचार से आनन्दित हुई 'मैं स्वयं आई' ऐसे विचार से लज्जित हुई और मैं पहले इन्हें वरण करती हूँ' इस विचार से विश्वस्त हुई। आँखों की चञ्चल पुतलियों को चारों ओर फिराती हुई वह बाला भयभीत, स्तम्भित, विस्मित, स्वेदित और रोमाञ्चित हो गई। परस्पर देखने से दोनों को जो आनन्द हुआ, वह आनन्द कवियों की वाणी के अगोचर और दिव्यज्ञानियों के लिए भी अज्ञेय था। पश्चात् पहले पहल कुमार ने साहस करके धीरता धारण करके, लज्जा तथा भय का त्याग करके 'सुन्दरी! आइये! पधारिये' कहकर फैलाई हुई दोनों भुजाओं से कुवलयमाला के दोनों कन्धे पकड़ लिए।

कुवलयमाला ने कहा-''कुमार! मुझे छोड़ दो, भला मुझसे आपको क्या मतलब है?''

कुमार- सुन्दराङ्गी! प्रसन्न होओ, कोप न करो, तुम्हारे लिए ही मैं इतनी दूर तक आया हूँ, यह क्या तुम्हें मालूम नहीं है?

कुवलयमाला-मुझे मालूम ही है कि तुम्हें पृथ्वी मण्डल देखने में कौतुक होता है।

कुमार- ऐसा न कहो, सुन्दरशरीरे! क्या तुम्हें स्मरण नहीं आता कि तुमने पहले मायादित्य के भव में मुझसे से कहा था कि मुझे बोधि-रत्न देना? मुनि के द्वारा तुम्हारे इस वाक्य को स्मरण करके मैं लोभदेव का जीव तुम्हें बोध देने के लिए आया हूँ। मुग्धे! इसलिए तुम बोधि प्राप्त करो और मेरे कहने से माया का त्याग करो।

इस प्रकार कुमार कह ही रहा था कि भोगवती आकर बोली-''पुत्री! राजकन्याओं के अन्तःपुर का रक्षक वञ्जुल यहाँ आकर कह रहा है कि आज कुवलयमाला का शरीर अत्यन्त अस्वस्थ है, अतः वह उद्यान में गई है, तुम उसे जल्दी ले आओ।

यह सुनकर कुवलयमाला समस्त दिशाओं के मण्डल में चञ्चल दृष्टि डालती हुई, बड़े कष्ट से वहाँ से चलने लगी। उस समय कुमार ने कहा- '' बहुत कहने या सौगन्ध खाने के क्या है? परन्तु मैं सत्य ही कहता हूँ कि

'तुम ही मेरा जीवन हो।' कुवलयमाला 'आपकी महती कृपा' कहती हुई लोंग के लतागृह से बाहर निकली। उसे देखकर कञ्चुकी ने कहा-"पुत्री! तू इतनी देर तक यहाँ क्यों ठहरी? तुझे यहाँ किसने बुलाया था? ऐसे एकान्त उद्यान में तेरा बहुत देर रहना उचित नहीं है। अतः अब जल्दी मेरे आगे हो" कञ्चुकी का यह कठोर वचन सुनकर कुवलयमाला उसके साथ चली। रास्ते में वह विचारने लगी- 'अहो! अङ्गीकृत के ऊपर कुमार का कैसा स्नेह है? उनकी प्रतिज्ञा कैसी सत्य है? वे कैसे उपकारी हैं! शिरीष के फूल जैसे कोमल अङ्गवाले होने पर भी पैदल चलकर, मार्ग में भूख-प्यास की पीड़ा की परवाह न कर, प्रेम ही के कारण मुझ दूर देश में रहने वाली को देखने तथा बोध देने यहाँ तक आये हैं। अब प्रिय का पुनः संगम कब होगा?' इत्यादि विचार करती-करती कुवलयमाला राजकन्याओं के अन्तःपुर में आ पहुँची।

इधर कुमार कुवलयमाला के प्रेम और कोप की बातों का स्मरण करता हुआ, एक वृक्ष के नीचे फूल बीनते देख महेन्द्र से बोला- "मित्र! चलो अपने डेरे पर चलें। जो देखना था देख चुके।" फिर दोनों कुमार अपने स्थान पर आये। राजा द्वारा भेजी हुई वार-स्त्रियों ने उन्हें स्नान कराया। फिर दोनों ने भोजन किया और आसन पर बैठे। इतने में एक स्त्री ने आकर कुमार को पान का बीड़ा दिया। कुमार ने उससे पूछा- " यह पान का बीड़ा किसने भेजा है?" उसने उत्तर दिया- " किसी आदमी ने भेजा है। कुवलयमाला कभी भोज्य, कभी ताम्बूल, कभी फूल माला, कभी पत्र, कभी स्नेह रस को पुष्ट करने वाली कोई दूसरी वस्तु सदा कुमार के लिए भेजती रहती थी। इस प्रकार दोनों कुमारों के अपने राज्य की तरह विजयापुरी में रहते-रहते पुण्य से सुन्दर कुछ दिन व्यतीत हुए।

तदनन्तर हेमन्त ऋतु आने पर ज्योतिषी को बुलाकर राजा के पाणिग्रहण का मुहूर्त पूछा। ज्योतिषी ने समस्त ज्योतिष शास्त्र देख कर कहा "महाराज! फागुण सुदी पञ्चमी के दिन बुधवार को स्वाति नक्षत्र में रात्रि का पहला पहर व्यतीत होने पर निर्दोष और प्रधान मुहूर्त आता है। सो आपको विदित हो"। राजा ने यह मुहूर्त स्वीकार करके कुमार से कहा "वत्स कुमार! हमने तुम्हारे विज्ञान, सत्त्व, साहस, तथा पूर्वभव के स्नेह से वशीभूत हुई कुवलयमाला का वियोग बहुत दिनों तक रखाया है। अब तुम आगामी पञ्चमी के दिन वेदी में बैठी हुई कुवलयमाला का पाणिग्रहण करना।" कुमार ने कहा-"आपकी जैसी

आज्ञा हो वह मुझे स्वीकार है।" पाणिग्रहण का संवाद सुन कुवलयमाला का मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित हो गया। वह हर्ष के कारण और भी कान्ति वाली हो गई। उसके सब शरीर में रोमाञ्च हो आया। उसका चिरकाल का चिन्तित मनोरथ सफल हो गया। वह अत्यन्त हर्षित होने के कारण शरीर में, घर में और तीन लोक में नहीं समाती थी।

विवाह दिन निकट आ गया। राजा के आदमी भोजन सामग्री के लिए धान्य लाने लगे। भाँति-भाँति के पक्वान्न तैयार होने लगे। जगह-जगह मण्डप और मड़वा और विवाह वेदी तैयार होने लगी। राजा ने दूतों के हाथ सर्व स्वजन तथा अन्यान्य राजाओं को कुङ्कुम-पत्रिकाएँ भेजीं। भाई बन्दों को निमन्त्रित किया, महलों को सजवाया। इतने में विवाह का दिन आ गया, आभूषण बनवाये तथा नगरी को चारों ओर से खूब सजाया। इस प्रकार सभी लोग विवाह की धूम-धाम में लग गये। इतने विवाह का दिन मानो निधि प्राप्त करने का दिन आया। उस दिन वृद्ध स्त्रियों ने बिना बींधे हुए आया मोतियों का सुन्दर स्वस्तिक बना कर, उसके ऊपर बाजौठ बिछाकर कुमार को पूर्व की ओर मुँह करके बिठलाया और मङ्गल स्नान कराया। फिर कुमार ने शरीर पर विलेपन करके कोरे स्वच्छ सदृश (दोनों छोर वाले) वस्त्र पहने, मस्तक में सिद्धार्थ गोरोचन का तिलक लगाया, सुगन्धी फूलों की माला गले में पहनी और दाहिने हाथ से माङ्गलिक मौर बाँधा। कुमार इस प्रकार तैयार होकर प्रौढ़ जनों के साथ जयकुञ्जर हाथी पर आरूढ हुआ। उसके पीछे महेन्द्रकुमार तथा अन्य राजपुरुष चले। आगे बढ़ने पर बन्दी जनों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले कुमार के गुण समूह से तथा मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, वेणु और वीणा के प्रचुर शब्दों से दिशा-मण्डल गूँज उठा। उस समय कुमार के मस्तक पर सफेद छत्र शोभायमान था और वेश्याओं का नृत्य हो रहा था। इस प्रकार कुमार ने शीघ्र ही आकर विवाह मण्डप को अलंकृत किया। जब लग्न का मुहूर्त आया तो सफेद वस्त्र और माङ्गलिक आभूषणों से भूषिता कुवलयमाला का हाथ ब्राह्मणों ने कुमार के हाथ में दिया। कुमार ने उसे ग्रहण किया। उस समय सौभाग्यवती स्त्रियाँ गीत गाने लगीं, बाजे बजने लगे, उनके शब्द दिशाओं में फैल गये। शङ्खों की ध्वनि हुई, झालर बजने लगे, ब्राह्मण वेद-पाठ बोलने लगे। फिर चार मङ्गलों की प्रवृत्ति हुई। इस भाँति पाणिग्रहण महोत्सव समाप्त हुआ तो दम्पती ने गुरु-जनों को नमस्कार किया और दूसरी सब रीतियाँ पूर्ण कीं। इसके अनन्तर गङ्गा किनारे के रेतीले प्रदेश में राजहंस के जोड़े के समान, यह दम्पती विविध

प्रकार के रत्न और विद्रुम मणियों से बनी हुई शय्या पर माङ्गलिक क्रियाएँ करके बैठा। यह देखकर आस-पास के लोग तथा सखी-जन वहाँ से धीरे-धीरे खिसक गये। शयन पर रहे हुए कुमार को वह रात्रि एक क्षण के समान बीत गई। प्रभात हुआ तो बाजों के शब्द से कुमार जाग उठा और उसने देवाधिदेव को नमस्कार करके नित्यकर्म किया। इस प्रकार दिन बिताते हुए कुमार ने एक दिन अपने हिमालय जैसे महल पर चढ़कर नगरी से दक्षिण की ओर के प्रकार के पास का समुद्र देखा। क्षणभर देखकर उसने उसका वर्णन किया और मात्राच्युत, अक्षरच्युत बिन्दुच्युत प्रश्नोत्तर और गुप्तक्रिया-पदवाले काव्यों से तथा कथा सम्बन्धी विनोद से कुवलयमाला के साथ आनन्द करने लगा। एक बार कुवलयमाला ने कहा-"देव! तुमने मेरा हाल कैसे जाना?" कुमार ने अयोध्यानगरी से अश्व-हरण से लेकर, मुनि द्वारा बतलाया हुआ चण्डसोम मानभट, मायादित्य लोभदेव और मोहदत्त का पूर्व भव , तथा अन्त में गाथा की पूर्ति से विवाह होगा, यह सब वृत्तान्त कह सुनाया। कुमार ने फिर कहा-" प्रिये! इस लोक सम्बन्धी सुख रूपी वृक्ष के लिए मूल के समान विवाह कर्म तो हो चुका पर अब परलोक में सुख देने वाले सम्यक्त्व को अङ्गीकार करो क्योंकि मनुष्यों ने जिसका आश्रय ले रक्खा है वह चिन्तामणि रत्न चिन्तित पदार्थ को ही देता है परन्तु सम्यक्त्व रत्न अचिन्तित पदार्थ को भी देता है। जब तक हृदय रूपी आकाश में सम्यक्त्व रूपी सूर्य का उदय नहीं होता, तभी तक तमस्तोम (अन्धकार-अज्ञान) फैला रहता है। जिसके सम्यक्त्व रूपी लोचन हैं, वह कदाचित् दृष्टिरहित हो तो भी दृष्टि वाला ही है और जिसके लोचन कानों तक लम्बे हों पर सम्यक्त्व न हो तो वह अन्धा ही है। प्रिये! यदि तुम्हारे चित्त में पूर्व-भव का स्मरण होता हो तो मोक्ष-सुख का दाता जिनेश्वर भगवान् का वचन अवश्य अङ्गीकार करो।"

कुमार के यह वचन सुनकर कुवलयमाला बोली-"नाथ! तुमने मेरे पूर्व जन्म का सारा वृत्तान्त सुनाकर मुझे सम्यक्त्व का भाजन बनाया है, अतः तुम्हीं मेरे लिए शरण हो और तुम्हीं मेरे गुरु हो।"

।। इति तृतीयः प्रस्तावः।।

चतुर्थ प्रस्ताव

इसके पश्चात् द्वारपाल के द्वारा निवेदित किए हुए श्री दृढवर्मा नृपति के लेख वाहक ने प्रवेश करके कुमार को प्रणाम करके और लेख को अर्पित करके कहा-"देव! श्री पितृचरण आपको बुला रहे हैं।" तब कुमार ने प्रथम लेख को प्रणाम कर और खोलकर वाचन किया-'स्वस्ति, अयोध्यापुरी से महाराजाधिराज श्री दृढवर्मा देव विजयपुरी में महेन्द्र सहित दीर्घायु पुत्र कुवलय कुमार को सप्रेम प्रगाढ आलिङ्गित करके आदेश देते हैं कि यहाँ तुम्हारे दु:सह विरह से जैसे मुझे जल से बाहर फेंके हुए मत्स्य के समान क्षणमात्र भी सुख का अवकाश नहीं है, वैसे तुम्हारी माता और पुरीजन को। अत: तुमको सत्वर आकर अपने दर्शन-जल से जल-सेचन से पादप के तुल्य वियोग से प्रतप्त मुझ को सींचना चाहिए।' कुमार ने कहा-"प्रिये! हमको यह पिताजी का आदेश है, तो क्या करना चाहिये?" उसने कहा-"जो आपको रुचिकर हो वह करना ही चाहिये।" तब कुमार ने उठकर महेन्द्र के साथ श्री-विजयसेन को इस प्रकार विज्ञापित किया-"हे देव! मुझे आये हुए बहुत दिन हो गये और माता-पिता उत्कण्ठित हैं, अत: कृपा करके मुझ को भेज दीजिये।" तदनन्तर नृपति के द्वारा विसृष्ट ज्योतिषी के कथित मुहूर्त्त में माङ्गल्य विधान किये हुए नासिका से नि:सृत स्वर के आधार पर आगे पैर रक्खे हुए जिन को नमस्कार किये हुए जयकुञ्जर गज पर आरूढ होकर अनेक सेवक लोगों से घिरे हुए महेन्द्र के साथ प्रमुदितमना कुमार ने पुरी से निकलकर बाहरी भूमि पर प्रस्थानोचित मङ्गल विधि सम्पन्न की।

इसके पश्चात् तत्त्वालोकन में धी को बद्ध की हुई हर्ष और विषाद से पूर्ण लोचनों वाली उस नृपति-पुत्री ने माता को नमस्कार करके कहा कि "हे माता

जी! देह के साथ देह की छाया के तुल्य मैं भी पति के साथ जाऊँगी। आपके चरणों की सेवा का वियोग तो सुदुःसह है।। 1।। हे माताजी! मेरे द्वारा लगायी हुई लतायें जल सेचन के बिना उसी प्रकार पीली पड़ जाएंगी जिस प्रकार परदेश में गये हुए पतियों के वियोग में उनकी पत्नियाँ।। 2।। हे माताजी! मेरे वियोग में शिखायुक्त यह शिखा मयूर ताल के साथ किसके द्वारा नचाया जाएगा?।। 4।।" तब जननी के कहा-"हे पुत्री! अपने चित्त में क्यों खेद धारण करती है? तू तो नरेश्वर की सुता है, दृढवर्म की प्रिय सुता है।। 5।। तो पुत्री! खेद मत कर। हर्ष के स्थान पर इसके लिये कौन सा क्षण है? गङ्गाजी में स्नान का अवसर मिलने पर कौन कीचड़ में डुबकी लगाता है?।। 6।।" इस प्रकार कह कर तनया को अपनी गोद में लेकर अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली जननी ने मस्तक चूम कर इस प्रकार शिक्षा दी।। 7।। "हे पुत्री! यदि तू अपनी गुणश्रेणि चाहती है तो पति के घर पहुँची हुई सदा बिना संशय के प्रिय ही बोलना।। 8।। सास आदि पूजनीय जनों के प्रति गौरव भाव बनाये रखना, सपत्नी जनों में भी उनके सदा अनुकूल बने रहना।। 9।। उनकी सन्तानों को अपनी सन्तानों के सदृश देखना, आश्रितों पर कृपा करना और गर्व मत करना।। 10।। पति के भोजन करने पर भोजन और शयन करने पर शयन करना। नेत्र नीचे करके रखना और साड़ी से मुख को ढकी हुई रहना।। 11।। पति के दुःखी होने पर दुःखी और सुखी होने पर सुखी होना। कोपवती भी तू कभी कोप मत करना।। 12।। कभी भी तू पति के चरण कमलों के दर्शन करना मत छोड़ना। यह सभी सतियों के लिए अद्भुत मार्ग है।। 13।।" यह शिक्षा मस्तक पर धारण कर, माता-पिता को प्रणाम कर परिजनों से पूछकर कुवलयमाला वहाँ से कुमार के पास आ गई। तदनन्तर दूसरे दिन कुवलयमाला के साथ प्रस्थान किये हुए अनुकूल पवन वाले वामभाग में खर का स्वर हुए सव्यभाग में एक वर्ण वाले शुनक को उत्तीर्ण किये हुए और सर्वत्र चारुवचन का उच्चारण किये हुए कुमार ने चिन्तन किया-'हे भगवती प्रवचन देवता! यदि मैं पिताजी को नीरोग देख लूँ, राज्य को प्राप्त कर लूँ और सम्यक्त्व परिवृद्ध हो जाय तो कुवलयमाला के साथ प्रवज्या ग्रहण कर लूँगा, तो दिव्यज्ञान से जान कर वैसा उत्तम शकुन दे जिससे मुझे शान्ति हो।' ज्यों ही उसने चिन्तन किया त्योंही उसके सामने मणि और सुवर्ण से निर्मित और लटकते हुए मोतियों वाला एक छत्र किसी

ने लाकर निवेदन किया-"हे देव! इन भूपति के जयन्ती- पुरी के पति जयन्तनामक ज्येष्ठ भ्राता हैं। उन्होंने आपके लिये देवता से अधिष्ठित यह छत्ररत्न प्रेषित किया है।" कुमार ने विचार किया-'अहो! प्रवचनदेवी का प्रभाव, जिससे प्रथम ही यह प्रधान शकुन हुआ है।' यह ध्यान कर और उसे स्वीकार कर राजा और पुरीजनों से अनुगत हुआ और एक बड़ी सेना से घिरा हुआ कुछ भूमि पर आगे गया कुमार बोला-"महाराज! आप लौटकर धवलगृह को अलंकृत कीजिये। हे पौरजनों! आप भी लौट जाओ, कारण कि विजयापुरी दूर हो रही है।" तब उन सभी के लौट जाने पर परिवार सहित जाता हुआ कुमार कुछ ही प्रयाणकों से सह्य शैल के पास पहुँच गया। इस बीच में यहाँ आकर किसी ने निवेदन किया-"हे नाथ! यहाँ सरोवर के तीर पर स्थित देवालय में एक महामुनि हैं।" यह सुनकर कुवलयमाला के साथ वहाँ जाकर और मुनि को नमन कर कुमार ने सविनय कहा-"हे भगवन्! आप नव व्रत को स्वीकार किये हुए से हो यह मैं समझता हूँ, इसमें क्या कारण है?" तब मुनिश्रेष्ठ ने बताना आरम्भ किया-"लाटदेश में पारापुरी में प्राज्यतपस्थामा सिंह नामक एक नरेश्वर हैं। उनका पुत्र भानु नामक है। चित्रकर्म का प्रेमी वह क्रीड़न कौतुकी मैं एक दिन उस पुरी से बाहर उद्यान भूमि में आया और वहाँ विचरण करते हुए मैंने एक कलाचार्य को देखा। उन्होंने कहा-"कुमार! मेरे लिखे हुए इस चित्रपट को देखकर बताओ कि यह रमणीय है या नहीं?" तब उसके अवलोकन से मैंने चिन्तन किया 'पृथ्वी पर वह कुछ भी नहीं है जो इसमें नहीं लिखा हुआ है, इस प्रकार विस्मितमना मुझको देखकर उन्होंने कहा- "इसमें मैंने सम्पूर्ण संसार के विस्मृत स्वरूप को चित्रित किया है, मनुष्यजन्म में, तिर्यग् जन्म, में नरक, में स्वर्ग में जिस-जिस विविध दुःख-सुख का अनुभव किया- वह सब इसमें है, इसमें मोक्ष भी है जिसमें न जरा होती है, न मृत्यु होती है, न व्याधि होती है और न आधि।" इस प्रकार हे कुमार! उनके द्वारा बताये जाने पर और उस प्रकार के संसार-चक्र के चित्रपट के प्रत्यक्ष कर लेने पर मैंने चिन्तन किया-' अहो! संसार में निवास कष्टकारक है। मोक्षमार्ग दुर्गम है। प्राणी अत्यन्त दुःखी हैं। कर्मगति विषम है। मूढ व्यक्ति स्नेह की शृङ्खला से जोर से जकड़ा हुआ है। काया अपवित्रतामय है। विषयों का सुख विष है। साक्षात् ही यह जीव महासागर में निमग्न है।' ऐसा चिन्तन

करते हुए मैंने कहा-"अहो! आपने यदि यह चित्रपट लिखा है तो आप मनुष्य नहीं हो। इस दिव्यचित्रपट के मिस से कोई दूसरा ही कारण सोचने वाले आप देवलोक से आये हुए देव हैं।" यह कहते हुए मैंने उनके पास दूसरा चित्रपट देखकर कहा-"अहो उपाध्याय जी! यह चित्रपट तो उस संसारचक्र से भिन्न है, तो इसका भी मुझे प्रत्यक्षीकरण कराओ।" यह सुनकर कलाचार्यजी ने कहा-"कुमार! मेरे ही द्वारा लिखे गये इन दोनों वणिजों के भिन्न स्वरूपवाले चरित को आप देखो। यह चम्पापुरी लिखी गयी है। यहाँ ये महाराज चित्ररथ हैं और यह धनमित्र नामक वणिक् है। उनकी भार्या देवी है। उनके दो पुत्र हैं धनमित्र और कुलमित्र। इनके जन्म के पश्चात् तभी पिता मृत्यु को प्राप्त हो गये। सारा ही धन समाप्त हो गया। तब माता के द्वारा कष्ट से बड़े किये गये ये दोनों यौवन को प्राप्त हुए। माता ने कहा-"तुम दोनों व्यवसाय करो।" तत्पश्चात् उन्होंने वाणिज्य, कृषि, दूसरों के घर पर कर्मचारी का कार्य, प्रत्येक घर पर प्रार्थना (भिक्षा), सागर पार करना, पर्वत पर आरोहण, निरन्तर खान खोदना, धातुवाद, द्यूतक्रीडा, स्वामिसेवाप्रवर्त्तन, विवरयक्षिणी- साधना, गुरु से बतायी गयी मन्त्रसाधना-इत्यादि प्रकार से धनोपार्जन के लिए कष्ट सहे, किन्तु एक कौड़ी की भी उत्पत्ति नहीं हुई।

तब अत्यन्त दुःखी हुए उन्होंने सङ्कल्प किया, 'धिक्कार है, धिक्कार है हमारे जीवन को। जो कोई भी उपाय प्रारम्भ किया जाता है, वह सारा ही पूर्वकृत दुष्कृत्यों के वश बालुका से पिण्ड बनाने के समान, खलप्रीति के तुल्य, अञ्जलि में गृहीत जल की तरह, वायु से प्रेरित मेघमाला के सदृश विलीन हो जाता है। तो सर्वथा दुःखसमूह के मन्दिर इस जीवन को धारण करना व्यर्थ है, तो किसी ऊँचे पर्वत के शिखर पर चढ़कर अपने आपको गिरा देते हैं, यह विचार कर वे दोनों उस शिखर पर चढ़कर इस प्रकार बोले-'हे पर्वत! तुम्हारे शिखर से पतन के साहस से हम दोनों अग्रिम जन्म में दरिद्रता के दुःख के भाजन न बनें यह कह कर वे दोनों ज्यों ही अपने आपको छोड़ने लगे त्यों ही उन दोनों को 'साहस मत करो, साहस मत करो यह ध्वनि कानों में पड़ी। उसे सुनकर सभी दिशाओं में देखते हुए वे दोनों एक साधु को कायोत्सर्ग के लिये स्थित देखकर भक्ति से प्रणाम करके बोले-"हे परमेश्वर! मुनीश्वर! आपने हम दोनों को मरने से कैसे मना कर दिया?" तब मुनि ने भी कहा - "तुमको

वैराग्य होने का क्या कारण है?" वे दोनों बोले-"भगवन्! हम दोनों के वैराग्य का कारण दरिद्रता ही है, अन्य नहीं है।" साधु ने भी कहा-"अरे वणिजों! आप दोनों निर्वेद कर के प्राण त्याग मत करो। वे बोले-"हे यतीश्वर! बताओ, दूसरे जन्म में भी हमको दरिद्रता कैसे नहीं होगी?" भगवान् ने कहा-"यदि आप दोनों दीक्षा अङ्गीकार करके तपस्या करो तो फिर इस प्रकार दुःख के भाजन नहीं बनोगे।" वे बोले- "ऐसी कृपा की जाय।" तब उस मुनि ने जैन विधि से हे कुमार! उनको प्रवज्या दे दी। प्रव्रजित बने हुए इन दोनों को ही मैंने चित्रपट में लिखा है। तब वे दोनों दुष्कर तपस्या करके समाधि से मरकर देवलोक को प्राप्त हुए। उन दोनों में फिर एक आयु के क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से च्युत होकर पारापुरी सिंह भूपति का पुत्र भानु नामक हुआ और वह इस उद्यान में तुम हो, फिर जो दूसरा वणिक् है वह मैं हूँ। यह चित्रपट लिखकर आप दोनों को बोध कराने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। तो हे भानुकुमार! जागो, मोह मत करो, यह भवसागर भीषण है, लक्ष्मी चञ्चल है, विपत्तियाँ हाथ में पड़ी हैं, दरिद्रता दुःसह है।" यह सुनकर ऊहापोह करता हुआ भानुकुमार सहसा ही मूर्च्छित हो गया। उसको जातिस्मृति हो आयी। परिजनों ने और साथियों ने शीतल जल, कदलीदल की हवा आदि से उसको समाश्वासित किया। तब स्वस्थचित्त वाले भानु ने अनुभूत किये गये पूर्ववृत्त को देख कर कहा- "हे नाथ! आप सर्वदा मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे शरण हैं- जिन्होंने मुझे अभी जैनमार्ग में प्रेम से प्रवृत्त कर दिया है।"

इस प्रकार कहता हुआ ज्यों ही मैं उनके चरणों की शुश्रूषा में एक क्षण तत्पर हुआ त्यों ही उपाध्याय ने पताकामाला से सुशोभित विविध मित्रों द्वारा रत्नों से निर्मित विमान में मणियों से जटित कुण्डलों की और गले में लटके हार एवम् उत्तम देह की दीप्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, सुन्दर मुकुट से विराजमान और विमान में बैठे हुए अपने आपको प्रकट करके कहा- "भानुकुमार! देख लिया तुमने इस संसार महीचक्र के विस्तार को।" तब उसको देखने से पैदा हुए वैराग्य वाला और पूर्वजन्म का स्मरण किया हुआ तत्क्षण ही मैं आभरणों का त्याग कर स्वयं ही मस्तक पर पञ्चमुष्टि परिमित केशलुञ्चन किया हुआ उन देव से दिये गये रजोहरण, पिच्छी और मुखवस्त्रिकाप्रतिग्रहादि वस्तुओं को ग्रहण किया हुआ उद्यान से निकल गया।

तदनन्तर हाहाकार करता हुआ वयस्कवर्ग और परिजनवर्ग सिंहनरेश के समीप आया। उन देव ने उस प्रदेश से लाकर मुझे इस निर्जनवन में छोड़ दिया है। अब फिर किसी आचार्य को ढूँढ रहा हूँ जिसके पास रहकर तपस्या करूँ।'' यह सुन कर कुमार ने कहा- ''अहो, यह वृत्तान्त तो महान् विस्मयकारी है।'' तब महेन्द्र ने सम्यक्त्व ग्रहण किया। कुमार भी महेन्द्र और कुवलयमाला के साथ आवासस्थल पर आकर कृतकृत्य बना हुआ रात्रि में सो गया। वहाँ से फिर निर्मल गगनाङ्गन में तारागण के तिरोहित हो जाने पर सूर्योदय हो जाने पर प्रस्थान किये हुए कुमार ने विन्ध्याचल के निकट आकर वास किया। वहाँ वह कुमार दिन और रात्रि का कृत्य सम्पन्न किया हुआ होकर कुवलयमाला के साथ पलङ्ग पर सो गया।

तब अर्धरात्रि में ज्यों ही जगा त्यों ही विन्ध्याचल की गुफा के भीतर जलती हुई अग्नि को देख कर नाना शङ्काओं से व्याकुल होगया-'अरे, यह क्या, क्या यह दवाग्नि है अथवा अन्य कुछ। यहाँ पास में घूमते हुए कुछ पुरुष दिखायी देते हैं क्या ये राक्षस हैं या पिशाच?' तो आगे होकर देखता हूँ कि यह क्या जलता है और ये पुरुष कौन हैं?' देर तक यह विचार कर चुपचाप पैर रखता हुआ कुमार उठ खड़ा हुआ और पलंग पर सोयी हुई कुवलयमाला को छोड़ कर खड्ग लिया हुआ और कटि पर तलवार बाँधा हुआ पहरेदारों को वञ्चित करके जाने को प्रवृत्त हुआ। फिर उसने अग्नि के निकट धातुवाद की बात करते हुए पुरुषों को देखकर सोचा कि ये पुरुष तो धातुवादी हैं, इनके सामने मैं अपने आपको प्रकट करूँ या नहीं? सम्भवतः कातर हृदय वाले ये बेचारे मुझे दिव्य समझकर भयभीत बने हुए नष्ट हो जायेंगे या विपत्ति में पड़ जायेंगे, तो मैं यहाँ ही स्थित हुआ इनकी बातें सुनूँगा।' तब उधर वहाँ उन्होंने भी कहा-'आज समस्त कल्क विघटित हो गया है, तो अब क्या करना चाहिये? अब अन्य क्या करना है' ऐसा कहते हुए चल दिये। कुमार ने सम्बोधन किया ''हे हे नरेन्द्रों! क्यों जा रहे हो? उन्होंने कहा ''आपके भय से।'' कुमार ने कहा- ''आपको भय कैसे? मैं भी आपके मध्य नरेन्द्र हूँ, तो सारी बात बताओ।'' तब उन्होंने कहा-'दिन-रात हमने सुवर्ण की भ्रान्ति में आध्मान किया, पर सारा ही भस्म हो गया।' तब साहस का सहारा लेकर देवगुरु के चरणों का अन्तः करण से स्मरण किए हुए कुमार ने उनके सामने उसी औषध

के योग से सुवर्ण निर्मित कर दिया। प्रमुदित हुए उन सभी ने निवेदन किया- "देव! आज से आप ही हमारे गुरु हैं। हम तो आपके शिष्य ही हैं, अतः विद्यादान की कृपा कीजिये।" उनकी की गयी भक्ति से सन्तुष्ट चित्त वाले कुमार ने उनको योनिप्राभृतग्रन्थ के कई प्रयोग बताये। कुमार ने कहा "मैं जाता हूँ, आपका मङ्गल हो। जब कभी तुम अयोध्या में कुवलयचन्द्र भूपति को सुनो, तब सत्वर ही चले आना।' इस प्रकार कहता हुआ कुमार कटक-सन्निवेश में जगी हुई कुमार के दर्शन नहीं होने से महान् दुःख को धारण करती कुवलयमाला के सामने पहुँच ही गया। तब प्रमुदित हुई उसने कहा-"हे देव! आप कहाँ गये थे?" तब कुमार ने उसे धातु-वादियों का सारा वृत्तान्त कह दिया। तब निःश्वास के शब्द से पटु पटह की ध्वनि मङ्गलपाठकों द्वारा पठित स्तोत्र आदि को विगत होने वाली रात्रि की सूचक मानकर कुमार ने कहा- "हे प्रिये! रात्रि प्रभातप्राय है। निशापति चन्द्रमा भी क्षीण किरण वाला हो गया है और कुक्कुट मण्डली भी मन्द मन्द रव कर रही है। इस समय देव-गुरु-बान्धव निमित्त कार्य किये जाते हैं?" यह कहता हुआ निर्मल जल से धोये हुए मुख कमल वाले कुमार ने श्रीयुत गृहचैत्य में प्रवेश करके देवाधिदेव की इस प्रकार स्तुति प्रारम्भ की-

धर्म बोध कराने वाले जिनेन्द्रों का सुप्रभात हो और कर्म समूह रूपी मेघों का घात करने वाले सिद्धों का सुप्रभात हो।। १७।। धर्म की व्याख्या करने वाले गुरुओं का सुप्रभात और फिर जिन के प्रति स्तुति प्रदर्शित करने वालों का सुप्रभात हो।। १८।। सभी साधुओं का साधु-सम्मत सुप्रभात हो और पुनः उनका सुप्रभात हो जिनके हृदय में जिनोत्तम विराजते हैं।। १९।।

इस प्रकार की स्तुति करके सुखासन पर आरूढ हुई कुवलयमाला के साथ उत्तर गज पर आरूढ हुए कुमार ने विविध अश्वों के खुरों से विदीर्ण की गयी मही से उड़ती हुई बहुत सारी धूलि के कणों से सकल दिग्मण्डलों के मुखों के रुक जाने से सूर्य के प्रकाशित न होने पर दुर्दिन हो जाने की शङ्का से सहर्ष मयूरों के नृत्यों से सुशोभित वनान्तर में संचलन किया। निरन्तर प्रयाण करते हुए कुमार ने अयोध्यापुरी के परिसर को अलङ्कृत किया। उसको आया हुआ सुनकर तात्कालिक अधिक प्रमोद के वश उत्पन्न रोमाञ्चों से कवचित हुआ

नरपति परिजनों और अन्तःपुर के सहित कुमार के सम्मुख आया। तब स्वदर्शन मात्र से ही उस कुमार को दृढवर्म महीपति ने कमलाकर को कमलबन्धु सूर्य के सदृश, कैरवसमूह को कैरवबन्धु चन्द्रमा के समान, घनसुहृद् वृन्द को घनाघन के तुल्य और कोकिलसमूह को वसन्त के सदृश अत्यन्त प्रमुदित मन वाला बना दिया। तब दोनों ही स्नेह के वशीभूत हुए मानस वाले और अश्रुपूर्ण लोचनों वाले हो गये। तब अत्यन्त विनयशाली कुमार ने माता-पिता के दोनों चरणों को अद्वन्द्व भक्ति से प्रणाम किया। उन्होंने कहा-"वत्स! तुम बहुत ही कठोर हृदय वाले बन गये। हम दोनों फिर तुम्हारे स्नेहाधिक्य से प्रसृत दुःसह विरहाग्नि से प्रतप्त दुःखी बने हुए सजीव भी अपने आपको मृततुल्य ही मानते हुए रहे। तो वत्स, तुम हमारे जीवन से चिरञ्जीव रहो। तब तुम अश्व से अपहृत किये गये कहाँ चले गये और कहाँ रहे? यह सब भी स्वरूप बताओ।" यह सुनकर कुमार ने जहाँ-जहाँ भ्रमण किया, जो-जो देखा और अनुभूत किया वह सभी बता दिया। इधर मध्याह्न के अवसर पर मागध द्वारा निवेदन किये जाने पर वहीं स्नान और भोजन किये हुए दृढवर्म और कुवलयचन्द्र सुख से क्षण भर बैठे रहे। तब-

दृढवर्मपुत्र कुमार ज्योतिषी द्वारा बताये गये शुभ मुहूर्त में अग्रगामी हाथी की पीठ पर बैठे हुए भूमिपति के पीछे पीछे चलता हुआ दुर्वार गज और अश्वों से वैरियों का वारण करने वाले मनोरम रथसमूहों और योद्धाओं के साथ बजाए जाते हुए वाद्यवृन्दों की ध्वनि से गगन को गुञ्जायमान करता हुआ, आगे किये जाते हुए मङ्गलाचार को ग्रहण करता हुआ, दोनों ओर से बन्दीजनों की मण्डली द्वारा की जाती हुई स्तुति को सुनता हुआ, पद-पर दीन याचकों को दान करता हुआ, जयकुञ्जर पर आरूढ हुआ, बनाये हुए मोतियों की शोभा से प्रकाशित हुए मञ्चों को देखता हुआ, वृद्धाङ्गनाओं से आशिषों और अक्षत अक्षतों को ग्रहण करता हुआ सातभूमि वाले विशाल महल में पहुँचा।। २०-२५।।

उसी मुहूर्त में श्रीदृढ़वर्म ने सुवर्ण के आसन पर बैठा कर जय जय शब्द से व्योममण्डल को गुञ्जायमान के समय उत्तम तीर्थों से लाये गये जल से भरे हुए सुवर्ण निर्मित कलशों से सब के सामने कुमार का युवराज के पद पर अभिषेक कर दिया। तब कुमार को राजलोक ने नमस्कार किया। राजा ने कहा "वत्स

कुमार! मैं पुण्यवान् हूँ जिसका तुम्हारे जैसा पुत्र है। आज ही चिरसञ्चित मनोरथरूपी रथ प्रमाणकोटि पर आरूढ हुआ है। आज से तुम ही राज्यभार के वाहक हो।''

तब अत्यन्त प्रीति के साथ रोमाञ्चित राजा ने राज्यप्रधान के सम्मुख पुत्र को शिक्षा दी।। २६।। अपने गुणों से राज्यभार के श्रेष्ठ वाहक तुम्हारे होने पर भी हे वत्स! आज भी मैं परलोक नहीं साध रहा हूँ उससे मुझे लज्जा है। यौवन प्राप्त तुम्हारे द्वारा पृथ्वी की रक्षा किये जाने पर हे वत्स! आज क्षीण यौवन वाले मेरे द्वारा वन में जाना उचित है।। २८।। परन्तु अभी कर्मफल का योग जब तक मेरे लिये अवशिष्ट है तब तक तुम मेरे राज्य कार्य में सहकारी बनना।। २९।।

कुमार ने भी चरणों में प्रणाम कर कहा-''जो कुछ पूज्य पिताजी स्वयं आदेश देते हैं, उसे मुझे अवश्य करना है।'' तब कुवलयमाला के साथ उसको अभिनन्दित किया। तदनन्तर युवराजपद का पालन करता हुआ कुमार गुणों से सभी का सम्मान्य होगया। और भी-

उसके सस्मित निरीक्षणों आचरणों और भाषणों से समस्त ही राजलोक सदा आनन्द की भूमि हो गया।। ३०।। जिस प्रकार जलधर अपनी अखण्ड जलधाराओं से धरा को तृप्त कर देता है, उसी प्रकार इस कुमार ने भी अर्थराशि से प्रार्थिवृन्द को अत्यन्त सार्थक कर दिया।। ३१।।

तत्पश्चात् सानन्द कुछ समय बीतने पर राजा ने कहा-''हे वत्स कुवलयचन्द्र! यह मेरा समय धर्मसाधना करने का है, तो मैं इसे करता हूँ।' कुमार बोला-''महाराज! आपने ठीक कहा, पर एक पुनः निवेदन करता हूँ कि धर्म कुलोचित ही करना।'' राजा ने कहा-''धर्मोपाय तो बहुत हैं। यह कुलोचित क्या है?'' कुमार बोला-'' जिसको पूर्वज इक्ष्वाकुवंशजों ने किया वही उचित है।' यह सुनकर धर्म की परीक्षा के लिये देवतागृह में कुलदेवता श्री की आराधना की। तब उस राजा के कुसुमासन पर बैठे हुए के छः प्रहर बीत गये। इसके अनन्तर गगनतल में वाणी हुई 'हे नरेश! यदि आपको धर्मसार से कार्य है तो इक्ष्वाकुवंशियों के कुलधर्म को ग्रहण कर लो।' इस प्रकार कहती हुई कुलदेवता श्री प्रत्यक्ष होकर ब्राह्मीलिपि से युक्त एक सुवर्णपट्टिका सौंप कर

अन्तर्धान हो गयी। यह देख कर प्रमुदित नरेश ने प्रातःकाल कुमार को बुलाकर सारा ही रात्रि का वृत्तान्त बता दिया। तब पिता की आज्ञा से कुमार वहाँ लिपि को बाँचने में प्रवृत्त हुआ-

ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीन मोक्षमार्ग के उत्तम साधन और कल्याण के मार्ग हैं।। ३२।। जिसमें हिंसा, असत्य, स्तेय नहीं होता है, ब्रह्म का पालन होता है, शरीरधारणोचित परिग्रह किया जाता है, रात्रिभोजन का त्याग होता है।। ३३।। जहाँ समस्त दोषों से विनिर्मुक्त महाव्रतधारी जिनेश्वर देव धर्मोपदेशक गुरु होते हैं।। ३४।। और पूर्वापर से अविरुद्ध श्री शिवसङ्गम कराने वाला आगम होता है वही मुक्ति प्रदाता धर्म है- इससे विपरीत तो संसार में भ्रमण कारक है।। ३५।।

इस प्रकार धर्म के स्वरूप के बाँचे जाने पर राजा ने कहा-"अहो! भगवती कुलदेवता ने हमें अनुगृहीत किया है। यह फिर ज्ञात नहीं होता है कि वे धर्म पुरुष कौन हैं जिनका यह धर्म है।" कुमार बोला-"दर्शनों को बुलाकर धर्म की पूछ की जाती है, जिस किसी का धर्म इस लिपि से मेल खाता है वही साध लिया जाय।" तब राजा ने दर्शन प्रधान पुरुषों को आहूत करके और यथास्थान विराजमान करके उनसे धर्म पूछा। सभी ने अपने आगमों के अनुसार धर्म का स्वरूप बता दिया, परन्तु उसके चित्त में वह नहीं बैठा। तब राजा ने जैन-मुनियों से पूछा-"आप अपना धर्म निवेदित कीजिये।' तब गुरुजी ने "जिस धर्म को कुलदेवता ने बताया है वही धर्म धर्मसार है" ऐसा निरूपित किया। तब राजा ने कुमार को देख कर कहा-"यह ठीक ही है मोक्ष के मार्ग को बताने में समर्थ। सभी धर्मों में यही मुख्य है। इसी को कुलदेवता ने दिया है। इक्ष्वाकुओं का यही कुलधर्म है।" कुमार ने निवेदन किया-"जब मैं अश्व पर आरूढ हुआ तब इसी धर्म के बोध के लिये देव द्वारा मैं अपहृत किया गया था। मैंने अरण्य में पूर्वजन्म में मिले देवों का दर्शन किया- वे पूर्वजन्म में भी इसी धर्म की आराधना करके स्वर्ग में गये। उन्होंने भी यह धर्म बता कर कुवलयमाला को बोध कराने हेतु मुझे भेजा है और जिस शुक ने उस देश में गये हुए हमारी प्रवृत्ति को आपके सम्मुख निवेदित किया उसने भी इसी सार्वज्ञ धर्म को देखा है।

रजोहरण जिसका करकमल बन गया- ऐसे उस विगतादर नरेश्वर की पुरन्दर महेन्द्र भी सादर स्तुति करता है।। ३६।। स्वयं स्वामी जगन्नाथ कृपालु पाथोनाथ जिनेश्वर ने सभा में इसी धर्म का आदेश दिया था।। ३७।। इस धर्म में स्थित साधुओं को भी मैंने देखा है जो केवल-ज्ञान उत्पन्न करके महोदय पद को प्राप्त हुए।। ३८।। इस कारण हे पिताजी! आपको निवेदन किया जाता है कि जैनधर्म सुशर्म-दायक है और सभी धर्मों में यही मनोरम है।। ३८।। दुर्वारवारणों से आकीर्ण और उन्नत तुरङ्गमों से युक्त राज्य भी बहुत हो किन्तु वह जिन कथित धर्म तो नहीं है।। ४०।।

तो हे देव! आपने यह भवतापहर्त्ता दुर्लभ जिनधर्म प्राप्त किया है, अतः आप निपुणता से इसका पालन करें।" राजा ने 'तथास्तु' यह स्वीकार कर कहा-"अहो, सचमुच ही यह धर्ममार्ग दुलर्भ है, हम पके केशों वाले हो गये, परन्तु धर्मों का भेद हमने नहीं जाना। हे तपोधनों! हम आदरणीय आपका स्थान नहीं जानते।" गुरुजी बोले-"राजन्! कुसुमगृह चैत्य में है।" राजा ने कहा-"आप अपने स्थान पर पधारिये और कर्म कीजिये, मैं प्रातः आऊँगा।" इस प्रकार कहता हुआ कुमार और महेन्द्र के साथ राजा उठ खड़ा हुआ और साधुओं ने भी अपने स्थान को अलङ्कृत कर दिया। तब दृढवर्मा ने अवशिष्ट भाव स्वरूप को माया गोलक की भाँति, इन्द्रजाल के समान, दर्पण के प्रतिबिम्ब के तुल्य नेत्र रोगी द्वारा रात्रि में वरजोड़ी को देखने के सदृश मरुमरीचिका के समान की तरह, गन्धर्वपुर अवलोकन के तुल्य अविचारित सौन्दर्य के सदृश अकिञ्चित्कर और अनुपयोगी विचार कर उत्पन्न वैराग्यवाला होकर कुवलयचन्द्र को सप्ताङ्ग राज्य दे दिया और उसको शिक्षा दी-'वत्स कुवलयचन्द्र! युक्त और अयुक्त को जाने हुए सर्वशास्त्र- समूह को पढ़े हुए तुमको शिक्षा देना श्वेत को श्वेत करने, पिसे हुए को पीसने और अलङ्कृत को अलङ्कृत करने के जैसा ही है परन्तु पुत्रप्रीति मुझे मुखरित कर रही है"-

स्त्रियाँ और श्री दुरन्त, दुरितोपाय और चपल एवम् अचपल होती है अतः तुम कहीं इनके वशंवद मत हो जाना।। ४१।। उन्नत पद प्राप्त कर सदा कार्यवेत्ता तुमको गुरुजनों को कभी लघु नहीं देखना चाहिये।। ४२।। क्योंकि प्रजारूपी लतायें नीतिरूपी जल से सींची हुई फलदायक होती हैं।। ४३।। अन्तरङ्ग छः

शत्रुओं को जीतने के लिये शास्त्र में और बहिरङ्ग शत्रुओं को शान्त करने के लिये शस्त्र में तुमको आदर करना चाहिए।। ४४।। विद्या से पवित्र वृद्ध-जनों की सदा तुमको आराधना करनी चाहिए, व्यसनरूपी समुद्र में डूबने वालों को तारने वाली वृद्धसेवा ही होती है।। ४५।। न्याय और गोभक्तों से पुष्ट की गयी कामधेनु राज्यश्री राजाओं के लिये कामरूपी दुग्ध का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन करती है।। ४६।।''

यह शिक्षा देकर दीनजनों को दान दिया, स्वजनों से सम्मानित हुआ और चैत्याष्टाहिका मह किये हुए राजा ने पुत्र द्वारा बनवायी हुई शिविका में आरूढ होकर कुसुमगृह चैत्य जाकर उन्हीं गुरुजी के निकट प्रव्रज्या ग्रहण करली। उसके आगे करुणावान् गुरु ने मनुष्यजन्म पर युग-समिला और परमाणु के दृष्टान्त निरूपित किये-

समस्त द्वीप वारिधियों के परे गोलाकार में बना हुआ स्वयंभूरमण नामक एक महोदधि है।। ४७।। किसी देव ने प्राची दिशा में युग और प्रतीची दिशा में समिला की स्थापना की। वह समिला वहाँ अतल स्पर्शी जल में गिर गयी।। ४८।। उस अपार और अनिवार जल में चारों ओर चल और अचल बनी हुई वह समिला चलाचल योग से किसी भी प्रकार योग नहीं प्राप्त करती।। ४९।। प्रचण्ड वात से बनी तरङ्गों से प्रेरित वह किसी भी प्रकार युग से योग जैसे नहीं प्राप्त करती वैसे ही जन्तु भी नरजन्म नहीं प्राप्त किया करता है।। ५०।।

(यह युगकपिला का दृष्टान्त है)

किसी देव ने एक महान् स्तम्भ को चूर्णित करके दृष्टि निक्षेप के समान बैठने के लिए उससे शिलासन बनाया।। ५१।। उस चूर्ण को लेकर शीघ्र सुराचल पर जाकर और चूलिका पद स्थापित करके एक नलिका अपने हाथ में ली।। ५२।। उससे जोर से फूँक करके उन सभी अणुओं को चारों दिशाओं में गिरा दिया।। ५३।। कल्पान्तकाल में उत्पन्न वायु से आहत हुए वे सभी अणु तत्क्षण उसके देखते-देखते अदृश्य हो गये।। ५४।। सुराचल से भ्रष्ट हुए उन परमाणुओं से वह देव भी पूर्ववत् उन्हें नहीं कर सकता।। ५५।। उसी प्रकार दुष्कर्मवशात् मनुष्य जन्म में भ्रष्ट हुआ जन्तु पुनः निष्तुष मनुष्यजन्म नहीं प्राप्त करता है।। ५६।।

तदनन्तर दो प्रकार की शिक्षा से विद्वान् बने हुए उस राजर्षि ने चारुचारित्र का आचरण करते हुए गुरु के साथ विहार किया। समस्त राजाओं के मुकुटों से घिसे गये चरणारविन्दों वाले कुवलयचन्द्र के भी समुद्रपर्यन्त विपुल पृथ्वी का पालन करते हुए बहुत सारे वर्ष बीत गये।

इस बीच में पद्मकेसर सुर ने अपने च्यवन के चिह्नों को जानकर दुर्मना होकर चिन्तन किया। हे जीव! तू खेद मत कर, हृदय में दीनता भी धारण मत कर। जब तक आयु उपार्जित की है तभी तक उपभोग किया जाता है।। ५७।।

'तब इस समय कालोचित किया जाय' यह सोचकर अयोध्या में आकर सुर ने कुवलयचन्द्र और कुवलयमाला के सम्मुख कहा- "जब तक अमुकमास और अमुक दिन में आप दोनों के पुत्र होऊँगा तब तक पद्मकेसरनाम से अङ्कित इन कटक, कुण्डल, हार, अर्द्धहार आदि आभूषणों को स्वीकार करो। फिर बुद्धि का विस्तार हुए मेरे शरीर पर इनको धारण कर देना जिससे चिरपरिचित इसको देखकर मुझको जाति स्मृति उत्पन्न हो जाय।" यह कहकर और सौंपकर सुर अपने स्थान पर आ गया। तब कुछ दिनों में सुर च्युत होकर कुवलयमाला के गर्भ में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। तब उसने भी समय पर पवित्र पुत्र को प्रसूत किया। पिता ने पुर के मध्य वर्धापन महोत्सव रचे जाने पर बारहवें दिन मुनि द्वारा पूर्व में कहा हुआ 'पृथ्वीसार' यह नाम कर दिया। उस कुमार ने कलाकलाप और यौवन स्वीकार किया। उसके माता-पिता ने उसे वे आभूषण सौंप दिये। उनको देखते ही पहले भी कहीं देखे गये थे इस प्रकार का ऊहापोह करते हुए उसको मूर्च्छा हो गयी और जाति स्मृति हो आयी। तब शीतल जल से और वायु से आश्वसित हुए चेतना-प्राप्त किये हुए उसने ध्यान किया- 'अहो! वहाँ उन सुखों का अनुभव कर पुनः इस प्रकार के तुच्छ मनुष्य जन्म में हुओं को जीव चाहता है, इस मोह को धिक्कार है और धिक्कार है संसार में निवास करने को जहाँ व्यक्ति निरन्तर आधि-व्याधियों से व्यथित रहता है तो मैं सांसारिक दुःख परम्परा को पराभूत करने वाली प्रवज्या ग्रहण करके अपने आपको साधूँगा।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसको वयस्यों ने कहा- "स्वस्थ शरीर वाले तुमको यह क्या हो गया?" वह बोला "मुझे अजीर्ण विकार से यह भूमि उत्पन्न हो गयी थी।" उसने पुनः आत्मस्वभाव नहीं बताया।

इस प्रकार बहुत दिन बीत जाने पर कुवलयचन्द्र ने कहा ''कुमार! राज्यग्रहण करो, मैं प्रवज्या ग्रहण करूँगा।'' कुमार बोला-''महाराज! आप राज्य का पालन कीजिये, मैं पुनः दीक्षा स्वीकार करूँगा।'' राजा ने आदेश दिया-'आज भी तुम बच्चे हो, राज्यसुख का अनुभव करो, भोगों को भोगे हुए हम दीक्षा ग्रहण करेंगे।'' इस प्रकार कुमार को समझाकर काम- भोगों से निर्विण्ण हुआ, प्रवज्याग्रहण का मन किया हुआ राजा किसी गुरु के आगमन की अभिलाषा करता रहा। दूसरे दिन महादान किये हुए, अशेष परिजनों से सम्मानित हुए अथवा अशेष परिजनों को सम्मानित किये हुए भूपति ने कुवलयमाला के साथ धार्मिक बातें करते हुए रात्रि के पिछले प्रहर में प्रथम ही जगे हुए ने चिन्तन किया-

दुर्लभ मनुष्यजन्म प्राप्त कर विचार-चतुरों को दक्षिणावर्त्त शङ्ख के समान हेय और उपादेयों के हेतु का चिन्तन करना चाहिए।। ५८।। मनुष्य होना अतिश्रेष्ठ है विशेष करके उत्तम कुल में जन्म लेना और पुनः कृपामय जैन धर्म- तीनों दुर्लभ हैं।। ५९।। वे पुण्यशाली हैं जिन्होंने भवसागर को उत्तीर्ण कर लिया और संगम परित्याग से निगममार्ग के गामी बन गये।। ६०।। वे ही कृती और भुवनश्री को विशिष्ट बढ़ाने वाले हुए जिन्होंने जिनेन्द्रमुनि कथित सर्वविरति को अलङ्कृत कर दिया।। ६१।। वे क्षेत्र धन्य हैं जहाँ विभ्रमत्यागी मुक्ताहार और शुभाशय जैन मुनीश्वर भ्रमण किया करते हैं।। ६२।। मुझे प्रमुदित करने वाली वह पुण्यतिथि कौन होगी और वह पुण्यवार भी कौन होगा एवं वह मुहूर्त क्या होगा।। ६३।। जिसमें पवित्र चारित्र रूपी सूर्य की प्रभा के उदय से मेरा मनरूपी कमल विकास को प्राप्त होगा।। ६४।। दीक्षा शिक्षा रूपी शिला पर जिस प्रधान धान्य से मैं कुवास मलिन अपने मनरूपी वास (वस्त्र)को कब क्षालित करूँगा।। ६५।। इस प्रकार चिन्तन करते हुए राजा के निमित्त प्रभातकालीन मङ्गल का पाठ करने वाले ने पढा-

-''अन्धकाररूपी सेना को मारे हुए, नक्षत्र रूपी योद्धाओं के समूह को गिराये हुए प्रतापी शूर वीर पृथ्वीपति उदित हो रहे हैं।। ६६।।

यह सुनकर राजा ने विचार किया-'अहो, पुत्र के राज्य के लिए यह सुन्दर उपश्रुति है।

हे लोकनिर्मुक्त आपको नमन है। हे द्वेषवर्जित आपको नमन है। हे जितमोहेन्द्र आपको नमन है। हे ज्ञानभास्कर आपको नमन है।। ६७।। ऐसा कहता हुआ भूपति शयनीय पलङ्ग से उठ खड़ा हुआ। तब जिनेन्द्रों को नमन हो इस तरह बोलती हुई बडबडाहट के साथ गङ्गा तट के तुल्य शैय्या से उठकर कुवलयमाला ने पति से कहा-"इतनी देर तक भूपतिजी ने क्या चिन्तन किया?" राजा बोला-"पृथ्वीसार कुमार को राज्य पर निविष्ट करके प्रवज्या ग्रहण से अपने आपको साधूँगा।" उसने कहा- "जब विजयपुरी में हम दोनों निकले थे तब प्रिय आपने प्रवचन देवता को निवेदन किया था कि "हे भगवती! यदि मैं जीते हुए पिताजी को देख लूँ और राज्याभिषेक को प्राप्त कर लूँ तो बाद में पुत्र को राज्य पर निविष्ट करके व्रत ग्रहण कर लूँगा तो देवि! आप उत्तम शकुन करो" ऐसा कहने पर आपको किसी व्यक्ति ने छत्र भेंट किया था। तब आपने कहा था-"हे प्रिये! यह शकुन उत्तम है। सारी सम्पत्ति और सन्तति हमको होने वाली है। यह बात सत्य हुई, अब प्रवज्या-पालन का ध्यान करना उचित ही है, धर्म की गति त्वरित होती है। अत: हे देव! विलम्ब कैसे? शीघ्र ही आत्महित सम्पादित किया जाय।"

जिससे जो चिन्तन किया गया है उसे कार्यरूप में परिणत किया जाय, राजा बोला -"हे देवि! यदि ऐसा है तो कहीं गुरुओं का विलोकन किया जाय।"

तब प्रात:कालीन कृत्य करके भूनायक ने उसी दिन पृथ्वीसार कुमार को राज्य पर अभिषिक्त करके दूसरे दिन गगनमणि सूर्य के गगन के मध्य आरूढ हो जाने पर दो साधुओं को भिक्षा के लिये भ्रमण करते हुए को गली में देखकर महल से उतर कर सुखासन पर अधिरूढ हुए और कुछ व्यक्तियों से आवृत हुए जाकर प्रणाम करके कहा "आप दोनों की काया निरामय है?" साधु बोले- "गुरुजी के चरणों के स्मरण से पवित्र अन्त:करण वाले हम दोनों का कुशल है।" राजा बोला-"गुरुजी का क्या नाम है?" उन दोनों ने कहा-"इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न, गुरुजी से विनयपूर्वक समस्त शास्त्रार्थ प्राप्त और कामदेवरूपी सर्प के लिए गरुड़ बने हुए दर्पफलिक नामक हमारे गुरु हैं।" राजा बोला- "क्या वे हमारे सम्बन्धी रत्नमुकुट राजर्षि के पुत्र दर्पफलिक हैं अथवा अन्य कोई?

साधुओं ने कहा- "वे ही है" राजा बोला- "किस स्थान में ठहरे हैं?" उन दोनों ने कहा-"राजन्! संसाररूपी मरुस्थल के तरु वे गुरुजी प्रधान मनोरम उद्यान में स्थित हैं" यह कह कर वे दोनों मुनि विचरण करके अपने स्थान पर आए। राजा ने महल में जाकर कुवलयमाला और महेन्द्र के सम्मुख यह समग्र वृत्तान्त बता दिया, आज वही हमारा भाई दर्पफलिक आचार्यपद को प्राप्त किया हुआ हो गया है।' तब कुवलयचन्द्र ने कुवलयमाला और महेन्द्र के साथ मनोरम उद्यान में जाकर भगवान् दर्पफलिक को प्रणाम करके पूछा-"हे भगवन्! तब आप चिन्तामणि पल्ली से निकलकर किन गुरुजी के पास प्रव्रजित हुए थे?" तब भगवान् ने कहा- "महाराज! तब वहाँ से निकलकर श्रीभृगुकच्छ में गये हुए मैंने एक मुनि को देखा। उस मुनि ने कहा-"हे दर्पफलिक राजपुत्र! मुझे पहिचानते हो?" मैंने कहा-"आपको मैं सम्यक् नहीं पहिचानता।" उन्होंने कहा-"तुमको वह चिन्तामणि पल्ली राज्य किसने दिया था?" मैंने कहा-"क्या आप वे हैं?" उन्होंने कहा-"ऐसा ही" मैंने कहा-"जैसे तब आपने राज्य दिया था वैसे अब संयमराज्य देने की कृपा कीजिए।" उन्होंने कहा-"यदि ऐसा है तो विलम्ब कैसे?" तब उन मुनि ने व्रत दे दिया। उनके साथ विहार करता हुआ मैं अयोध्या में आ गया और वहाँ तुम्हारे पिता दृढवर्मा उनके पास निकल गये। वे मेरे गुरु और तुम्हारे पिता उत्पन्न केवलज्ञान वाले सम्मेत शैल पर दोनों ही सिद्धिपद को प्राप्त हो गए। मैं तुमको प्रतिबोध कराने के लिए आ गया।" तब इस प्रकार पिशुनसंगति के तुल्य, लीलावती के लोचन प्रान्त के सदृश, महावात से आन्दोलित कदली दल के समान, शरत्कालीन मेघ समूह के तुल्य, इन्द्रधनुष् के सदृश चञ्चलस्वभाववान् पदार्थसमूह को जानकर उनके चरणों के निकट कुवलयचन्द्र ने कुवलयमाला और महेन्द्र के साथ व्रतग्रहण कर लिया। कुवलयमाला भी आगमानुसार तप करके सौधर्म स्वर्ग में दो सागरों की उपमा की स्थिति से देवायुः हो गयी। कुवलयचन्द्र भी समाधि से विपन्न होकर वहीं विमान में उसके प्रमाण की आयुवाला हो गया। सिंह भी अनशन कर्म द्वारा वहीं देव बन गया है और भगवान् अवधिज्ञानी सागरदत्त मुनि मरकर उसी स्थान पर देव हो गये हैं।

तदनन्तर कुछ काल तक राज्यसुख का अनुभव कर मनोरथादित्य नामक पुत्र का राज्याभिषेक कर संसाररूपी महाराक्षस के भय से भ्रमित चित्रवाला

होकर भोगों को सर्प के फण के तुल्य जान कर गुरुजी के चरणों में प्रवज्या लेकर श्रमण धर्म को अपनाकर और मिथ्या दुष्कृत्यों को त्यागा हुआ होकर पृथ्वीसार वहीं विमान में अमृत-भोजी देव बन गया। इस प्रकार के पाँचों ही वहीं उत्तम विमान में सुकृत किये हुए उत्पन्न हुए। पूर्व में किये हुए संकेतों को जाने हुए वे परस्पर कहने लगे-'संसारसागर को दुस्तर जान कर जैसे पूर्व में आचरण किया गया वैसे अब समस्त सुर असुर और नरों को सिद्धि का सुख देने वाले भगवान् से प्रणीत सम्यक्त्व में प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ से भी च्युत हुए हमको पूर्ववत् ज्ञान में संलग्न परस्पर ही होना चाहिये।' 'वैसा ही हो' इस प्रकार उनके द्वारा स्वीकार करने पर उनका कुछ काल व्यतीत हुआ।

इसके पश्चात् जम्बूद्वीप में दक्षिण भारत में इसी अवसर्पिणी में युगादि जिनादि तीर्थनाथों के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर अन्तिम जिन श्री महावीर के उत्पन्न होने पर पूर्व कुवलयचन्द्रदेव अपनी आयु परिपालित कर स्वर्गत होकर और वहाँ से च्युत होकर काकन्दीपुरी में प्रणतजनरूपी कुमुदों के लिए अमन्दानन्ददाता चन्द्रमा शत्रुजन रूपी गजों के लिए सिंह बने हुए सत्पथमार्गी काञ्चनरथ पृथ्वीपति का इन्दीवरलोचना नामक प्रणयिनी के कुक्षि से जन्मा मणिरथकुमार पुत्र हुआ और क्रम से यौवन को प्राप्त किया हुआ वह गुरुजनों से निषिद्ध किया गया भी साथियों से रोका गया भी, सज्जनों से निन्दित किया जाता हुआ भी, कर्मोदय से रात दिन पापसमृद्धि करता हुआ विरत नहीं हुआ। बाद में उसके अरण्य में प्रविष्ट हुए केवलज्ञानशाली जगत्त्रयपति त्रिभुवनतल को पवित्र किये काकन्दी में समवसृत हुए। तब चतुर्विध देवनिकायों ने भी समवसरण किया और वहाँ श्री महावीर ने स्वयं गौतमादि गणधरों के, सौधर्माधिपति के, सुरासुर-वृन्द के और सपरिजन काञ्चनरथ के सम्मुख सम्यक्त्वमूल दो प्रकार का धर्म बताने लगे-

शङ्कादि दोषों से रहित स्थैर्यादि गुणों से विभूषित पञ्चलक्षणों से लक्षित सम्यक्त्व शिवशर्म (सुख) के लिए होता है।। ६८।। आर्जव, मार्दव, शान्ति, सत्य, शौच, तप, यम, ब्रह्मकिञ्चनता और मुक्ति यतिधर्म कहा गया है।। ६९।। अहिंसादि पञ्च अणुव्रत, गुणत्रय और चार शिक्षापद कुकर्महारी गृहिधर्म हैं।। ७०।।

इधर अवसर मान कर तत्त्वानुगामी प्रचुर प्राणियों के वध से पाप की आशङ्का करने वाले काञ्चनरथ राजा ने पूछा-"मणिरथ कुमार भव्य(होनहार) है या अभव्य (अहोनहार)?" भगवान् ने कहा-"यह भव्य है और अन्तिम शरीर वाला है।" राजा ने निवेदन किया "कब फिर उस को जिनधर्म में ज्ञान होगा?" तीर्थकृत् ने कहा-"भद्र! तुम्हारा पुत्र प्रबुद्ध है और संवेगरङ्ग प्राप्त किया हुआ यहीं प्रस्थित हो गया है।" राजा बोला-"नाथ! किस वृत्तान्त से उसको वैराग्य हुआ?" जगन्नाथ ने कहा-"यहाँ एक योजन दूर भूभाग में कौशम्ब नामक वन है। वहाँ बहुत सारे हरिण, शूकर, शशकों के झुण्ड रहते हैं यह मान कर कुमार पापसमृद्धि के निमित्त आया। वहाँ भ्रमण करते हुए एक प्रदेश में हरिणों का दल देखकर धनुष् पर रख कर ज्योंही बाण चलाने को तैयार किया, त्योंही सारा ही हरिण-समुदाय काक नाश के समान नष्ट हो गया अर्थात् पलायित हो गया। परन्तु तब एकाकी एक हरिणी कुमार को बहुत समय तक देख कर दीर्घ निःश्वास लेकर निश्चल नेत्रों वाली बनी हुई हृदय में विश्वास प्राप्त की हुई निःशङ्क खड़ी रही। उसको उस अवस्था में स्थित देख कर कुमार से विचार किया-'अहो! महान् आश्चर्य है, इस हरिण समूह के पलायन कर जाने पर भी हरिणी मेरे मुख की ओर देखती हुई वैसी ही खड़ी है' इस प्रकार विचार करते हुए उसके पास वह हरिणी आ गयी। तब वह अनेक जीवों के अन्तकर अर्धचन्द्र को देख कर भी स्नेह से पूर्ण हृदयवाली सी स्थित रही। फिर कुमार ने धनुष् और बाण को तोड़ फैंका। 'जो निरपराध जन्तुओं को मारता है वह महापापी होता है' इस प्रकार विचार करते हुए प्राणिवर्ग के प्रति उत्पन्न करुणा और मैत्री के चित्त वाले उसने उस हरिणी को सहर्ष करतल से छू लिया।

जैसे-जैसे उसने उसके चित्राङ्ग को स्पष्ट रूप से छूआ वैसे वैसे वह हरिणी अश्रुपूर्ण लोचनों वाली हो गयी।। ७१।।

तब उसके देखने से कुमार के नेत्रों से विकसित उसका सर्वाङ्ग रोमाञ्चित हो गया। मन में महान् प्रमोद हुआ। ज्ञात हुआ जैसे कोई यह मेरी पूर्व में सम्बन्धिनी रही हो।

मैं ज्ञान को नेत्रों का ही मानता हूँ, अन्य किसी का नहीं। प्रिय को देखने पर नेत्र प्रमुदित होते हैं और अप्रिय को देखने पर संकुचित हो जाते हैं।। ७२।।

जन्मान्तर में यह मेरी क्या थी? यह ध्यान करते हुए उसके मन में रहा। आज ही पिताजी चम्पापुरी से काकन्दी आये हैं। यहाँ भवसागर श्री महावीर समवसृत हुए हैं। उनको वन्दन करने के लिए मैं भी जाऊँगा' उनसे इस वृत्तान्त- को पूछूँगा कि यह हरिणी कौन है?, जन्मान्तर में यह हमारे किस सम्बन्ध में थी? इस प्रकार ध्यान करता हुआ चल दिया। वह और हरिणी दोनों इस समय समवसरण के बाह्य प्राकार के गोपुर के भीतर हैं, ऐसा कहते हुए तीर्थङ्कर के सम्मुख मणिरथकुमार आया और तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान् को नमन करके प्रश्न किया "भगवन्! बताइये मुझ पर परम प्रेम धारण करने वाली यह हरिणी कौन है?" तब कुल को जाने हुए भगवान् ने समस्त प्राणियों के समूह को ज्ञान कराने के लिए उसको उन दोनों के पूर्वजन्म का आख्यान बताना प्रारम्भ किया।

यहीं भरतवर्ष में साकेतपुर है। वहाँ नाम से कान्ति से मदन नृप है। उसका पुत्र अनङ्गकुमार है। वहाँ वैश्रमण की भाँति वैश्रमण सेठ है। उसका प्रियङ्कर नामक पुत्र है और वह सौम्य, सुजन, कुशल, त्यागी, दयालु, श्रद्धालु है। वैश्रमण ने प्रातिवेश्मिक प्रियमित्र की पुत्री सुन्दरी के साथ पुत्र का पाणिग्रहण करा दिया। दोनों में बड़ी प्रीति हुई। परस्पर थोड़ा सा भी विरह हो जाने पर उन दोनों की जोड़ी उत्सुकचित्त वाली हो जाती है। एक बार भवितव्यतावश प्रियङ्कर के पटुतर शरीर के हो जाने पर वह सुन्दरी बहुत अधिक शोक के शङ्कु से व्यथित हुई न खाती है न नहाती है न बोलती है और न घर का काम करती है, केवल- पति की संभावित मृत्यु से अधिक आभ्यन्तर सन्ताप से लोचनों में व्याप्त अश्रु- जल वाली दुःखी होती हुई रहती है। तब उस प्रकार के कर्म संयोग से प्राणों के क्षीण हो जाने पर प्रियङ्कर परलोक को चला गया। तब उसको मृत देखकर परिजन अत्यन्त ही विषण्णमन वाले हो गये। पिता ने प्रलाप करना प्रारम्भ किया-

"हा वत्स, हा गुणावास, हा सौभाग्यनिधि, प्रियङ्कर! तू कहाँ चला गया? मुझे उत्तर दे"।। ७३।।

स्वजनों ने उसके शव को संस्कार के लिए घर से निकालना आरम्भ किया, परन्तु स्नेह से मोहित मन वाली वह सुन्दरी उसका संस्कार नहीं करने देती है। वह पिता, माता, स्वजन और वयस्याओं के द्वारा विविध शिक्षाओं से

शिक्षा दी हुई भी उस कुणप को नहीं छोड़ती है, केवल विलाप करती हुई यह अराजक है यह कहती हुई सुन्दरी उस मृत शरीर को आलिङ्गित करके स्थित रहती है।

वह उस निर्जीव को भी सजीव ही देखती है क्योंकि स्नेह में मोह के कारण अन्धी दृष्टि वालों को विचार नहीं होता है।। ७४।।

तब विषण्ण मनसा स्वजनों ने मान्त्रिक और तान्त्रिकों को बुलाया। उनसे भी कोई विशेष नहीं हुआ। स्वजनों द्वारा 'यह अयोग्य है', ऐसा विचार कर छोड़ी हुई वह उस दिन वैसे ही रही। दूसरे दिन वह शरीर शोथ से व्याप्त हो गया और उससे दुर्गन्ध फैल गयी। तो भी प्रेमपरवश हुई मृतक को आलिङ्गित करती हुई परिजनों से निन्दित की जाती हुई भी सखियों से रोकी जाती हुई भी उसने इस प्रकार विचार किया-' यह स्वजन ऐसा कहता है कि यह मृत है और यह आग्रही है, तो वहाँ जाना चाहिये जहाँ कोई भी स्वजन नहीं हो' यह ध्यान कर उस शव को शिर पर रखकर मन्दिर से निकलकर विस्मय, करुणा, बीभत्स और हास्य रस के वशीभूत लोगों से देखी जाती हुई वह श्मशान में आ गयी। वहाँ जीर्णशीर्ण वस्त्र से आवृत, धूल से सने शरीर वाली, खड़े केशों वाली, महाभैरवी व्रत को जैसे करती हुई भिक्षा लाकर जो उसमें सुन्दर होता उसे उसके आगे रखकर कहती थी-"हे प्रियतम! इसमें जो अधिक रमणीय हो उसे आप ग्रहण करलो पीछे का बचा हुआ जो विरूप हो उसे मुझे दे दो' यह कह कर खा लेती थी। इस प्रकार दिन-दिन आहार करती हुई कापालिक की बालिका की भाँति, राक्षसी के सदृश, पिशाची की तरह रही। तब उसके पिता प्रियमित्र ने पुरस्वामी से निवेदन किया- "हे देव! मेरी पुत्री ग्रह से गृहीत सी है। तो उसको कोई ठीक कर देता है तो उसके द्वारा वाञ्छित मैं उसे दे दूँगा।" यह पुर के मध्य नगाड़ा करवा दीजिये। विज्ञापन किये जा रहे इसको सुन कर कुमार ने सुना और विचार किया- 'अरे! बेचारी प्रेमपिशाच से ग्रस्त हुई है और अन्य से नहीं तो मैं इसको बुद्धि से प्रतिबुद्ध कर देता हूँ।' यह विचारते हुए उसने राजा को विज्ञापित किया "पिताजी! यदि आप आदेश दे देते हैं तो इस वणिक् पुत्री को सम्बोधित कर दूँ' ऐसा विज्ञापित करने पर राजा ने कहा-"वत्स! यदि स्वस्थ कर सकते हो तो ठीक

है, इस वणिक् का उपकार किया जाए।" तब राजपुत्र ने किसी नारी का शव मँगवा कर उसके पास छोड़ दिया। वह उससे नहीं बोला और न वह उससे बोली। जो कुछ वह शव का करती है उसे यह भी करता है। दूसरी बार उसने कहा-"यह क्या वृत्तान्त है?" उसने कहा- "यह मेरी सुरूपा सुभगा प्रियतमा कुछ अस्वस्थ शरीर वाली हो गयी।" तब लोग कहते हैं-" यह मर गयी है और संस्कार करने योग्य है।" मैंने चिन्तन किया- 'ये लोग असत्यभाषी हैं, तब मैंने वहाँ से इस श्मशान में लाकर इसे छोड़ दिया।' उसने कहा "सुन्दर किया, समान स्वभाव वाली हम दोनों में मैत्री हो गयी, क्योंकि समान शील और व्यसनों वाले में ही मित्रता होती है।" उसने कहा-"तू मेरी बहिन है, यह मेरा भावुक है। इसका नाम क्या है?" उसने कहा-"मेरे पति प्रियङ्कर नामक हैं।" उसने कहा-"तुम्हारी प्रिया का क्या नाम है?" उसने निवेदन किया-"मेरी प्रिया मायादेवी नाम की है।" इस प्रकार परस्पर उत्पन्न सम्बन्ध वाले वे दोनों हैं। जब वह आवश्यक कृत्य के लिए जाती है तब उसके सम्मुख कहती है "इन मेरे दयित को देखना।"

जब वह कहीं भी जाती है तब उसके उस शव को सौंपकर जाती है। दूसरी बार उसने कहा-"बहिन! तुम्हारे पति ने मेरी प्रिया को कुछ कहा था, वह मुझे ठीक समझ में नहीं आया।" उसने कहा "हे जीवेश! तुम्हारे लिये मैंने कुल, घर, पिता, माता इत्यादि को तृणवत् त्याग दिया और फिर तुम फिर ऐसे हो कि अन्य अङ्गना को चाहते हो! यह कह कर कुछ कुपित हो गयी। फिर अन्य दिवस में वह शव को उसे सौंप कर नित्यकर्म के लिए चली गयी। तो फिर उसने दोनों ही शवों को कूवे में फेंक दिया। फिर उसके गमन मार्ग का अनुगमन करते हुए उसको वह बोली-"तुमने उन दोनों मनुष्यों को किसे सौंप दिया?" उसने भी कहा-"मायादेवी को रक्षा के निमित्त प्रियङ्कर को और प्रियङ्कर को माया देवी को। तो हम दोनों भी वहीं चलते हैं", यह कहकर वे दोनों आये परन्तु उन दोनों ने प्रियङ्कर और मायादेवी को नहीं देखा। तब वह दुःख को प्राप्त हो गयी, वह भी छद्म से मूर्च्छित हो गया। फिर चेतना को प्राप्त हुए उसने कहा- "बहिन! क्या किया जाय? तेरा प्रिय मेरी महिला को लेकर कहीं चला गया, तो उसने उसका सुन्दर नहीं किया, यह मेरा किया।" तब मुग्ध स्वभाव वाली सुन्दरी ने विचार किया "उस मेरे स्वामी

ने इसकी प्रिया का हरण किया और उसे अन्यत्र ले गया। तो वह ऐसा अनर्थ, निष्कृप, निर्घृण और कृतघ्न है जिसने ऐसा आचरण किया। तब उसने कहा- ''ऐसा होने पर क्या किया जाना चाहिए?'' उसने कहा-''मैं नहीं जानती, आप ही जानते हैं। इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिए।'' उसने कहा-''भद्रे! सत्य है, तो सुन -'सदा एक ही जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है, प्रिय कौन है और प्रिया कौन है? सारा ही संसार स्वरूप बिजली के तुल्य क्षण में देखे और नष्ट हो जाने वाला है। सर्वथा अनित्यादि की भावना को अपना लो। संयोग वियोगान्त होते हैं। उत्थान पतनान्त होते हैं। भोग महारोगवत् हैं। यह जीव संसार में चोरासी लाख संख्यावाली योनियों में नटवत् विविध रूपों वाला हो जाता है यह जान कर सम्यक्त्व को स्वीकार करलो और हे मणिरथकुमार! जिस सुन्दरी को प्रबोधित किया था, उसके साथ घर चली गयी। उसके पिता ने महोत्सव रखा। सर्वत्र नगर मध्य साधुवाद फैल गया कि इस सुन्दरी को कुमार ने प्रबोधित किया है। तो हे मणिरथकुमार! जो सुन्दरी जीव है, वह तुम हो, तब सम्यक्त्व के लिए यत्न किये हुए पञ्चत्व प्राप्त कर मानभट हो गये। उससे पद्मसार नामक हुआ। उससे कुवलयचन्द्र हुआ उससे वैडूर्य नामक देव हुआ। उससे तुम मणिरथकुमार हुए। जो फिर वणिक् पुत्र है, वह संसार में परिभ्रमण करके इस वन में हरिणी हुई है। तुमको देख ऊहापोह करती हुई इसको पूर्वजन्म की स्मृति से तुम में स्नेह उत्पन्न हो गया। इस प्रकार भगवान् के द्वारा बताए जाने पर मणिरथकुमार ने कहा 'इस प्रकार मुझे यह दुःखावास संसारवास अलं है, भगवन्! कृपा करके मुझे प्रवज्यारत्न दे दीजिये'' ऐसा कहते हुए कुमार को श्री भगवान् ने दीक्षित कर दिया।

इसी बीच में गणभृत् गौतम ने निवेदन किया ''भगवन्! इस संसार में कौन सजीव दुःखी है? भगवान् ने कहा-''सम्यग्दृष्टि वाले जीव अविरत दुःखी ही हैं। गौतम ने कहा-''किस कारण से?'' भगवान् ने कहा ''जो सम्यग्दृष्टि वाला होता है वह नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यों की वेदना को जानता है अतः वह दुःखियों में भी दुःखी है।'' फिर गौतम ने पूछा- ''स्वामिन्! सुखी कौन है?'' भगवान् ने कहा-''सम्यग्दृष्टि से विरत हुआ जीव सुखी है, क्योंकि-

देवलोक के समान सुख और नरक के सदृश दुःख होता है। रत और अरतों के लिए महानरक के तुल्य है।। ७५।।

इस प्रकार अनेक रीति से विविध जनों से पूछे गये संदेह समूह को भङ्ग करके भगवान् उठ खड़े हुए। तब देववृन्द भी अपने अपने स्थान चले गये। भगवान् भी श्रावस्ती पुरी को ओर चले गये। देवों द्वारा समवसरण किये जाने पर त्रैलोक्याधिपति ने अपने आसन को अलङ्कृत किया। गौतमादि गणधर यथास्थान बैठ गये। वहाँ का राजा रत्नाङ्गद भगवान् को प्रणाम कर बैठ गया। भगवान् ने संसार के कष्ट का निवारण करने वाली देशना निर्मित की। इस बीच में गौतमस्वामी ने सब कुछ जानते हुए भी न जानने वालों के ज्ञान के लिए तीर्थनाथ से पूछा-"नाथ! जीव का स्वरूप बताइये।" तब भगवन् ने सारा ही यथार्थ जीव का स्वरूप बता दिया। तदनन्तर वह बालमृणाल के समान कोमल भुजा वाला, भुजाओं के बीच दीप्तिमान् हारों वाला कपोल पर शोभित कुण्डलों वाला कोई नर देवकुमार के तुल्य प्रवेश करके जय जय ऐसा कहता हुआ त्रैलोक्य से अभिवन्दनीय की अभिवन्दना करके बोला-"नाथ! जो आज मैंने रात्रि के मध्य देखा, सुना और अनुभूत किया उसे बताइये, वह क्या इन्द्रजाल है, क्या स्वप्न है या सत्य है?" भगवान् ने कहा- "देवानुप्रिय! जो तुमने देखा वह सत्य ही है", यह सुनकर उसी क्षण तेजकदमों से समवसरण से निकल गया। तब गौतम ने पूछा-"स्वामिन्! यह क्या? हमको भी बहुत कौतुक है।" तब तीर्थंकर ने कहा-"यहाँ से ज्यादा दूर नहीं अरुणाभ नाम का नगर है। वहाँ रत्नगजेन्द्र नामक नरपति है। उसका पुत्र कामगजेन्द्र। वह एक बार प्रियङ्गुमती प्रिया के साथ मत्तवारण में प्रविष्ट हुआ। तब नगर में विद्यमान वैभव विलासों को देखने में प्रवृत्त हुआ। तब किसी वणिक् के मन्दिर पर उसने कुट्टिमतल में कन्दुक क्रीडा करती हुई एक कन्या को देखा। उसका उस पर महान् अनुराग उत्पन्न हो गया।

सुरूप और कुरूप में भी कहीं प्रेम होता है। रूप स्नेह का हेतु नहीं होता, तो फिर अङ्गियों में रूप वृथा है।। ७६।।

उसने पास में स्थित कान्ता के भय से अपने आकार का संवरण ही कर लिया। उसने तो वह सब देख लिया था। उस राजपुत्र का उसी का ध्यान करते हुए को उद्वेग हो जाने पर उसने विचार किया- 'इनके उद्वेग का कारण क्या है? अथवा ज्ञात हुआ कि वही वणिक्पुत्री मेरे पति के चित्त में स्थित हो गयी।'

तब उसने उसकी याचना करके उस से पति का परिणय करा दिया। तब सन्तुष्ट हुए उसने कहा-"प्रिये! ठीक हुआ तुमने उस समय मेरे मनोभाव को देख लिया। तो कान्ते! कहो तुमको क्या वर दूँ?" उसने कहा-

"जो कुछ आप देखते हो सुनते हो या अनुभूत करते हो हे प्रिय! वह सब मुझे भी बताना यही मुझे आप वर दीजिये ।।७७।। उसने कहा 'एवमस्तु!' तब एक बार चित्रकार ने उस कुमार को एक चित्रपट समर्पित किया। उसमें चित्ताह्लादिका चित्रित एक कन्या को देख कर विस्मय से प्रसन्न मन वाले कुमार ने पूछा-'हे चित्रकार! तुमने वह कुमारी का रूप किसी प्रतिकृति का लिखा है अथवा अपनी बुद्धि से?' उसने निवेदन किया-"देव! उज्जयिनी महापुरी में "अवन्ती-नृपति की पुत्री का यह चित्र है।" तब कुमार सादर उसको नयनमनोहारिणी निद्रा के समान, हृदय को विदीर्ण करने में निपुण शक्ति के तुल्य, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के सदृश अति निर्मल, सुविभक्त वर्णों से शोभित महाराज के राज्य की स्थिति के सदृश, सुप्रतिष्ठित अङ्गोपाङ्ग से युक्त जिनश्रुति के तुल्य देख कर क्षणभर स्तम्भित बना हुआ, ध्यान में संलग्न सा, शिला से निर्मित सा, लेप्यमय सा स्थित रहा। तदनन्तर कृतकृत्य से कुमार ने उस चित्रपट की देवी को प्रदर्शित करके कहा -"देवि! सुन्दर हो, यदि यह कन्या उपलब्ध हो जाए।" उसने कहा-"देवि! अपना रूप चित्रपट में लिखवाकर इसी को लौटाकर भेज देना, जिससे अवन्तीपति उसे देख कर स्वयं ही दुहिता को दे दें।" कुमार ने कहा-"यह प्रमाण है।" तब उस चित्रकार ने कामगजेन्द्ररूप से समन्वित चित्रपट को अवन्तीपति के सामने दिखाया, उसने भी पुत्री को दिखाया। उसको देखकर उत्पन्न अनुराग वाली उसे जान कर राजा बोला-"यह उचित हुआ कि इस पुरुषद्वेषिणी ने उससे अन्य कुमार को नहीं चाहा। अब तो विविध प्रज्ञा के प्रकर्ष के पट्ट इस कुमार के रूप पर अति अनुरक्त हो गयी। अतः इसके लिए यही वर उपयुक्त है" ऐसा सोच कर राजा ने उस कुमार को कन्या दे दी।

तब पिता की आज्ञा से कुमार वल्लभा के साथ स्कन्धवार से चल दिया। तदनन्तर सूर्यास्त हो जाने पर रात्रि के प्रथमार्ध में प्रिया के साथ कुमार ने शयन किया। इस प्रकार द्वितीय प्रहर में किसी की कोमल हथेली के स्पर्श से जगे

हुए कुमार ने विचार किया - 'ऐसा स्पर्श तो पहले अनुभूत नहीं किया था, यह तो मनुष्य का स्पर्श सर्वथा नहीं है।' इस प्रकार सोचते हुए कुमार ने सम्मुख त्रिभुवन में आश्चर्यकारी रूप हारी दो कन्याओं को देख कर कहा -''आप दोनों मानुषी हो अथवा देवी? मुझे इसमें अति कौतुक है।'' उन दोनों में कहा - ''हम दोनों विद्याधरियाँ आपके पास किसी हेतु से आयी हैं, पर परोपकारी आप हमारी प्रार्थना को व्यर्थ मत कर देना।'' कुमार बोला-''बताओ, मैं दु:साध्य भी आपका कार्य सिद्ध करूँगा।'' उन दोनों ने कहा -''देव! सुनिये। कुबेर की दिशा में वैताढ्य पर्वत है। वहाँ उत्तर और दक्षिण दो श्रेणि हैं। उत्तर श्रेणि में एक सुन्दर आनन्दमन्दिर नाम का नगर है। जो कैसा है? वह बहुसुवर्णयुक्त, बहुपुरुष सेवित, बहुजलाशय- परिगत और बहुकुमुदोपवन से सम्पन्न है। वहाँ पृथ्वी-सुन्दर पृथ्वीनेता है। उसकी मेखला नामक देवी है। उसकी कुक्षि से उत्पन्न बिन्दुमती कन्या है और वह सुन्दर अवयवों में अखण्ड सौभाग्यवती चारु चातुर्य की पिटारी पुरुषों से द्वेष रखने वाली है। वह वय, वैभव और कलाओं से सुशोभित भी विद्याधर कुमारों को नहीं चाहती है। तब युवावस्था को प्राप्त उसको गुरुजनों ने कहा-''वत्से स्वयंवृत वर को ग्रहण कर ले।'' यह सुनकर उसने हमको कहा-''सखियों! यदि तुम कहती हो तो दक्षिणश्रेणी में मैं तुम दोनों के साथ परिभ्रमण करूँ।'' हम दोनों ने भी कहा-''एवमस्तु'' यह कहकर गगन में उड़कर पर्वतीयकानन में हम उतरे। वहाँ क्रीड़ा करती हुई हमने एक किन्नर युगल को कामगजेन्द्र कुमार के गुणवृन्द का गान करते हुए सुना। प्रिय सखी ने कहा- ''अरी सुख पवनवेगे! आगे होकर यह पूछो कि-'यह कामगजेन्द्रकुमार कौन है और कहाँ का है? जिसका अभी गुणगान किया गया है। तब उस किन्नरी ने निवेदन किया-'हे विद्याधरबाले! वह कामगजेन्द्र कभी न देखा गया है और न सुना गया है। तो यदि उससे कार्य है तो उस किन्नर से पूछो।'' उसने आपका सारा वृत्तान्त कहा है। तो यह सुनकर उसने बिन्दुमती के सम्मुख कह दिया। उसको सुनने से उस दिन से लेकर बिन्दुमती बर्फ से क्लिष्ट कमलिनी के समान, प्रिय से वियुक्त राजहंसी के सदृश, मन्त्र से आहत सर्पिणी की भाँति ग्रहग्रस्त सी निर्वचन और निश्चल बनी हुई आलेख्य लिखती रहती है, न गीत सुनती है, न वीणा बजाती है, केवल ग्रहगृहीत सी मृता के जैसी हो गयी है। सखियों से कही हुई भी वह कुछ भी उत्तर नहीं देती है।

मैंने जाना कि कामगजेन्द्र ही इसकी व्याधि का मूल कारण है। इसलिये उनसे संगम होना ही महा औषध है क्योंकि अग्नि से जले हुओं की अग्नि ही औषध होती है, विष से दुःखियों की विष ही ओषधि है, यह सोचती हुई मैंने मानवेगा से कहा-"हे वयस्ये! इसका चिकित्सक तो मानवेग ही है।" तब दोनों ने कहा-"प्रियसखी! अश्वस्त होओ, हम दोनों वैसा ही करेंगी जिससे उस कुमार को लाकर तेरी व्याधि को दूर कर देंगी।" उसने कहा- "उसको लाने के लिये तुम दोनों जाओ।" 'वैसा ही करेंगी' यह कह कर उस पर्वत की गुफा की शिलातल पर कमल के कोमल पत्तों से बनायी गयी चटाई पर उस विषाद करती हुई बिन्दुमती को बैठा कर हम दोनों चल दीं, पर नहीं जानती हैं कि वह पुरी कहाँ है जहाँ तुम हो, कहाँ प्राप्य हो। यह जानने के लिए भगवती प्रज्ञप्ति की समाराधना की। तब उसने बताया कि 'यह कुमार उज्जयिनी में जाता हुआ वन में शिविर बनाकर ठहरा हुआ है।' यह मानकर हम दोनों आपके पास आयी हैं। इससे आगे हे देव! अब प्रिय सखी का जीवन आपके अधीन है, अतः विलम्ब मत कीजिये, शीघ्र उठिये यदि जीती हुई बिन्दुमती किसी प्रकार दीख जाए।" कुमार ने कहा-"यद्यपि अवश्य जाना चाहिये, तथापि देवी के सम्मुख निवेदन करूँगा।" उन दोनों ने कहा-"आप सर्वनीतिपरायण ऐसे स्वामी हो, स्त्रियों का रहस्य कैसे कहोगे? क्या लोगों से कहा गया यह श्लोक नहीं सुना कि-

'गरुड़ द्वारा ले जाए जाते हुए नाग ने यह कहा था कि जो स्त्रियों को गोपनीय बात कहता है उसके जीवन का अन्त है।। ७८।। अतः नारियों को रहस्य नहीं कहना चाहिए।" कुमार ने कहा- "इसमें कुछ कारण है, एक बार मैंने उसको वर दिया था कि-'जो कुछ सुना हुआ, देखा हुआ और अनुभूत किया हुआ होगा उसे मैं बता दूँगा।' तब कुमार ने कहा-"प्रिये! इस समय मैं जाता हूँ।" उसने कहा "जो देव को रुचे वह करो" तब देवी ने अञ्जलिपुट की हुई विद्याधरियों को देवी ने कहा -"इन मेरी पति को मैंने आप दोनों के न्यास किया है, इसलिए शीघ्र इनको यहाँ लाकर छोड़ देना।" तब वे दोनों कुमार को विमान में चढ़ाकर आकाश में उड़ गयीं। तदनन्तर उसकी प्रिया "इसमें कोई माया है या स्वप्न है, इन दोनों के द्वारा ले जाये गये मेरे पति आयेंगे या नहीं?" ऐसा ध्यान करती हुई रही त्यों ही थोड़ी बची हुई रात्रि में विमान आ पहुँचा। तब उसे देखकर उसकी भार्या नलिनी वन के दर्शन

से मरालिका की तरह अभिनव जलद के दर्शन से मयूरी के तुल्य प्रमुदित हो गयी। तब उसने दोनों विद्याधरियों और कामगजेन्द्र को भी देखा।

तदनन्तर विमान से उतर कर वीर्यशाली कामगजेन्द्र शयनीय पर बैठ गया। वे दोनों विद्याधरियाँ बोलीं -"हे कल्याणी! जिन अपने पति को आपने हमको न्यास बना कर सौंपा था उनको अब लाकर आपके समर्पित कर दिया है" यह कह कर वे उड़कर चली गयीं। तब उसने चरणों में प्रणाम करके पूछा- "हे देव! आप कहाँ गये थे? और कहाँ से आये हो? आपने क्या देखा? क्या अनुभूत किया? किस अवस्था वाली वह विद्याधरी प्राप्त हुई? यह कृपा कर तत्काल कहिये।" कुमार कहने में प्रवृत्त हुआ- "यहाँ से विमान में आरूढ हुए मैंने आकाश में वैताढ्य पर्वत की गुफा के भीतर मणियों के प्रदीपों के प्रज्वलन से प्रकाशित दिशाओं वाला एक नूतन भुवन को और वहाँ नलिनी के पत्तों की चटाई पर विद्याधरकुमारी को देखा। तब उन दोनों विद्याधरियों ने मृणाल को कोमल वलयों वाली, चन्दन और कपूर की रेणु के समान धवल मृगनयनी इस कुमारी को जीती हुई देख कर प्रमुदित हुई कहा - 'हे प्रियसखी! प्रमुदित ये तुम्हारे मन से अभीष्ट दयित आ पहुँचे हैं, जो करना हो, वह कर लो' यह कहती हुई उन दोनों सखियों ने उसके अङ्गों से नलिनी के पत्ते हटा दिये। इस प्रकार ज्यों ही उन्होंने अच्छी तरह देखा त्यों ही उसके अङ्ग उपाङ्ग शिथिल होगये। पश्चात् हे दयिते! उन दोनों ने यह देख कर कहा कि 'यह हम दोनों की स्वामिनी मरेगी तब मैं भी।' 'यह क्या?' ऐसा विचार करता हुआ मैं ज्यों ही देखने में प्रवृत्त हुआ तो आँखें बन्द की हुई निश्चल अङ्गोपाङ्गों वाली वह पञ्चत्व को प्राप्त हो गयी। मैंने कहा-'हे देव! आपको यह करना उचित नहीं कि मेरे विरह के दुःसह अग्नि से सन्तप्त हुई आकाशगामी की पुत्री को मृत्यु को प्राप्त कर दिया।। ७९।।'

यह कहता हुआ मैं मोह को प्राप्त हो गया और क्षणभर में चेतना को प्राप्त हुए मैंने उन दोनों का विलाप सुना-

'हे प्रिय सखी! क्या तू कुपित हो गयी जो प्रतिवचन नहीं देती है, क्या कारण है? यह अप्रिय क्या कर डाला कि इन दयित को बुलवाया।। ८०।।'

मैंने कहा -"इसके लिये जो समयोचित हो वह करना चाहिये।" तब उन्होंने सूर्य के उदयाचलस्थ होने पर चन्दन का काठ लाकर बनायी हुई चिता

पर उसका अङ्ग स्थापित कर दिया। उनके द्वारा दी गयी अग्नि प्रज्वलित हो गयी। 'इसके बिना हम दोनों को जीवित रहने से क्या?' यह कहकर और देर तक विलाप करके वे दोनों भी वहीं चिता में प्रविष्ट हो गयीं। इस प्रकार तीनों के ही अस्थिशेष हो जाने पर एक क्षण मैंने भी मुद्गर से चोटिल, महाशोक कुन्तक से विदीर्ण की भाँति चिन्तन किया -' देखा विधाता की करतूत कि यह बिन्दुमती मेरे अनुराग से मर गयी, उसके दुःख से दोनों भी। तो स्त्रीवध के कलङ्क से कलुषित हुए मेरे जीवित रहने से भी क्या? तो उसी चिताग्नि में प्रविष्ट होकर अपने कलङ्क को उतार देता हूँ' इस प्रकार मैं ज्यों ही चिन्तन कर रहा था विद्याधर मिथुन के मध्य विद्याधरी ने कहा -''देखो, यह कैसा निर्दय कुमार है, यह बेचारी मर गयी, यह आज भी जी रहा है'' विद्याधर बोला ''ऐसा मत कहो, क्योंकि स्त्रियाँ पति के मर जाने पर चिता में प्रविष्ट हो जाती हैं, फिर सत्पुरुष को महिला के विनष्ट हो जाने पर आत्महत्या नहीं करनी चाहिए।'' यह सुन कर मैंने सोचा- 'इसने ठीक कहा है। इसके बाद इस बिन्दुमती की अनुकृति करने वाली जल के सौन्दर्य से पूर्ण विकसित नील कमल जैसे लोचनों वाली, चलते हुए धवल मृणाल वस्त्रों से युक्त, विकसित शतपत्र के तुल्य वक्र, चञ्चल जल की तरङ्गों से कटाक्ष की छटा देने वाली, विकट, कनक तटनितम्ब फलक वाली बावड़ी में उतर कर इन तीनों को जलाञ्जलि दे देता हूँ,' यह सोचकर उस बावड़ी में उतरकर और मज्जन उन्मज्जन करके 'हे दयिते!' ज्यों ही मैं निकला त्योंही मैंने सब अपूर्व देखा। वहाँ आकाश को छूने वाले वृक्ष, महाप्रमाण ओषधियाँ, उन्नत अङ्ग वाले अश्व, पञ्चचाप परिमित मनुष्य, विपुलकाय पक्षी थे। मैंने विचार किया यह स्थान हमारा बिलकुल नहीं है, जहाँ पुरुष सात हाथ शरीर के हैं , यह द्वीप सर्वथा अन्य है' यह मैंने सोचा ही था कि हे दयिते! वह वापी विमान बन गयी। तो मैं किसी पुरुष से पूछता हूँ कि यह द्वीप कौन सा है? यह विचारते हुए मैंने एक दारक युगल को देखकर पूछा 'यह द्वीप कौन सा है?' मुझे कृमि के समान, कुन्थु के सदृश, पिपीलिका के बच्चे के तुल्य देखकर विस्मित मनों वाले उन्होंने कहा -''वयस्य! यह अपूर्व विदेह महाक्षेत्र है।'' मैंने सोचा- 'अहो, अति उत्तम हुआ, यह भी दर्शनीय हुआ।' यह मैं सोच रहा था कि उन्होंने मुझे कृमि की तरह कौतुक से हाथ में उठा लिया। फिर श्रीसीमन्धर स्वामी के समवसरण

के अन्दर छोड़ दिया। तब मैंने सिंहासनासीन भगवान् को प्रणाम किया। फिर वहाँ किसी नृपति ने प्रस्ताव पाकर पूछा- 'यह कौन है?' तब भगवान् ने बताना आरम्भ किया- "जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र में मध्यम खण्ड में अरुणाभ नाम का एक नगर है। वहाँ रत्नगजेन्द्र नामक राजा है। उनका यह कुमार कामगजेन्द्र पुत्र है। ये दोनों देव इसको स्त्रीलम्पट मानकर और स्त्री का वेश बनाकर अपहृत करके वैताढ्य पर्वत की कन्दरा में ले आये। वहाँ अलीक भवन में विद्याधर बालिका तुम्हारे वियोग से मर गयी, यह कहकर उसको चिता में रखकर उस स्त्री के पीछे विलाप करती हुई स्वयं भी प्रविष्ट हो गयी और जल गयी। वह भी माया है विद्याधरमिथुनता। प्रबुद्ध हुआ वापी पर आया। वहाँ वापी के बहाने से जलकान्तयान से यहाँ इन दोनों ने लाकर इसको मेरे पास सम्यक्त्व लाभ के लिये छोड़ दिया है।" राजा ने पूछा -"भगवन्! इन दोनों का इसको लाने में क्या कारण है?" भगवान् ने कहा-" पञ्चजनों ने पूर्वजन्म में सङ्केत किया था कि एक को परस्पर सम्यक्त्व देना चाहिये, प्रथम मोहदत्त उससे स्वर्गी उससे पृथ्वीसार उससे स्वर्गी फिर उससे चरम शरीरधारी कामगजेन्द्र उत्पन्न हुआ। तो तुम जागो मोहित मत होओ, यथाशक्ति विरति को ग्रहण करो" यह स्वामी ने कहा। तत्पश्चात् हे प्रिये! राजा ने पुनः पूछा- "स्वामिन्! यह लघु कैसे है? और हम इससे उच्च कैसे हैं?" भगवान् बोले- "यह अपूर्व महाविदेह क्षेत्र है, यहाँ परम शोभन काल है और यह शाश्वत है, यहाँ देहधारी महादेही होते हैं। वहाँ फिर भरतक्षेत्र है, काल शोभन नहीं होता, वह अशाश्वत होता है। अतः लघु जन होते हैं।" फिर राजा ने पूछा -"ये दोनों देव कौन हैं?" जिन ने कहा-"जिन पाँचों ने संकेत किया था उनमें ये दो देव हैं।"

ऐसा भगवान् के कहने पर ज्योंही मैंने मस्तक ऊँचा किया त्योंही मैं यहाँ ही कटक में अपने आपको देख रहा हूँ, यही शयन है, यह आप देवी हो।" उसने कहा-"आप देव जो बता रहे हैं यह सच ही है, पर मैं कुछ निवेदन करती हूँ यह वृत्त आपने कहा, यहाँ अरुणोदय भी हो गया, आपने बड़ा वृत्त बताया, परन्तु यह काल तो अल्प है।" कुमार ने कहा- "क्योंकि मन से देवों का, वाणी से पार्थिवों का जो मैंने भगवान् श्री सीमन्धर स्वामी को देखा, वे तो आज भी मेरे हृदय के आगे ही विद्यमान हैं। अथवा इसमें विचार करने से क्या? भगवान् श्री महावीर स्वामी इस प्रदेश में समवसरण किये हुए सुनायी

पड़ते हैं तो उन्हीं को जाकर पूछता हूँ कि यह वृत्त सत्य है अथवा असत्य? यदि भगवान आदेश दे देंगे तो सत्य है, अन्यथा माया है", यह कहता हुआ कामगजेन्द्र रवाना हुआ। प्रिया ने पूछा- "यह सत्य हुआ तो क्या कर्त्तव्य है?" उसने कहा- "सत्य होने पर व्रत ग्रहण करना है।" उसने कहा-"यदि आप देवव्रत ग्रहण करेंगे तो मैं भी ग्रहण करूँगी" "ऐसा हो" यह कहता हुआ कुमार यह मेरे समवसरण में पहुँचा है। इसने प्रणाम करके मुझसे पूछा -" क्या यह इन्द्रजाल है अथवा सत्य है?" मैंने कहा- "यह सत्य है।" यह सुनकर उत्पन्न वैराग्य वाला सैन्य-शिविर में गया। गौतम स्वामी ने पूछा- "भगवन्! यहाँ से गये हुए उसने क्या किया? अभी क्या कर रहा है और कहाँ है।" भगवान् बोले- "यहाँ से जाकर देवी के सम्मुख 'यह सत्य है' ऐसा निवेदन करके माता-पिता को और अपने पुत्र दिग्गजेन्द्र को पूछकर बन्धुजनों से सम्मानित हुआ यह इस समय समवसरण के बाहरी प्राकार के गोपुर के आगे आ गया है, यह भगवान् के कहते ही सत्वर आ गया। तब भगवान् ने बालुकाभक्षण के समान स्वादहीन, क्षुद्रबीजकोश के भक्षण के सदृश अतृप्ति के जनक, खारे पानी को पीने के समान प्यास बढ़ाने वाले, मिथ्यात्व की भाँति भववर्धक उपहसनीय, विद्वज्जनों से निन्दनीय विषयसुख-सेवन को मानता हुआ कामगजेन्द्रकुमार उस वल्लभा और परिजन के साथ प्रव्रजित कर दिया गया। उसने अन्य दिवस भगवान् को पूछा -"वे पञ्चजन कहाँ हैं?" भगवान् ने कहा- "दोनों देव हैं, वे भी अल्पायु हैं, बाकी के मनुष्यलोक में। तब भगवन् ने मणिरथ कुमार महर्षि को दर्शा दिया। यह मानभट जीव है। वहाँ भव में आप मोहदत्त थे, उनका जीव भगवान् कामगजेन्द्र। यह लोभदेवजीव है, वह भी मर्त्यलोक में अवतीर्ण है, उसका वैरिगुप्त यह नाम है। सभी को इस भव में सिद्धि हो गयी" यह कहते हुए भगवान् श्री महावीर उठ खड़े हुए। दूसरे दिन भव्य कुमुद के लिये मृगाङ्क चन्द्रमा बने हुए त्रिभुवनरूपी भवन के दीपक श्री वर्धमान काकन्दीपुरी में बाह्योद्यान में समवसृत हुए। सभा में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव- निर्जरा और बन्ध-मोक्ष का स्वरूप का आख्यान किया। तब गौतम ने पूछा- "भगवन्! कैसे जीव कर्म को बाँध लेते हैं ?" भगवान् बोले -"लेश्याभेद से जीव शुभ-अशुभ कर्मों को अर्जित करते हैं। इसमें जम्बूफल के भक्षण का दृष्टान्त है-

एक बार किसी ग्राम से छः पुरुष हाथ में परशु लिए हुए समुन्नत तरु का छेदन करने के लिये वन के भीतर प्रविष्ट हुए। उन्होंने एक वृक्ष पर भात रख दिया। उस भातवाले वृक्ष पर चढ़कर कुवानरों ने वह सारा ही भात खा लिया, खाकर उसके बर्तन को भी तोड़कर ये चले गये। उन वनछेदनकर्त्ताओं ने भी मध्याह्न में भूख से कृश कुक्षिवालों ने और तृषा से तरल चित्त वालों ने वहाँ उस भात को नहीं देखा और पात्र को भी टूटा हुआ देखा। तब उन्होंने यह समझा कि 'वानरदल ने सारे ही भात का आस्वादन किया है तो हम भूखों की क्या गति होगी?' यह विचार कर उठकर फल खोजने के लिये प्रवृत्त हुए, उन्होंने एक जामून के पेड़ को फलित देख कर परस्पर मन्त्रणा की- 'कहो, कैसे जामून के फलों को भक्षण करें?' तब जामून के फलों को देखकर उनके बीच में से एक ने कहा-"सभी की पञ्चशाखाएँ परशु आयुध से व्यग्र हैं, अतः मूल में से इसे छेदकर फलभक्षण कर लें।" यह सुनकर दूसरा बोला- "इस पेड़ में मूल से भी छेदने में आप को कौन सा गणलाभ होगा, केवल इसकी शाखायें ही काट ली जाती हैं।" तीसरे ने कहा- "शाखायें फली नहीं हैं अतः प्रतिशाखा ही ले ली जाती हैं।" चौथा बोला-प्रति शाखाओं को नहीं, केवल गुच्छे की गिरा लिये जाते हैं। "पाँचवें ने कहा मेरी ही बुद्धि को इसमें किया जाय, लाठी से पके जामून के फलों को आहत करके मार दो।" तब कुछ हँस कर छठा बोला-"अरे लोगों! तुमको बड़ा अज्ञान है, महान् पाप का आरम्भ है, लाभ थोड़ा है, यह यहाँ क्या प्रारब्ध है? यदि तुमको जामून के फलों को खाने से कार्य है तो इन पके हुए तोता-मैना आदि से गिराये हुए, स्वभाव से गिरे हुए जामून के फलों को स्वतन्त्रता से खा लो, अन्यत्र मत जाओ।" इस प्रकार वे सभी उन जमीन पर गिरे हुए फलों से सौहित्य सुखी हो गये। सभी का फलों का उपभोग करना सदृश ही है, किन्तु जिसने उसमें बहुत प्रकार का पाप बताया कि यह वृक्ष मूल से भी छेदा जाता है- मर कर कृष्ण लेश्या से अवश्य नरक का अतिथि ही है। दूसरे ने कहा कि शाखायें ही काटी जायें वह नील लेश्या से विपन्न होकर नरक या तिर्यक्त्व को प्राप्त होता है। तीसरे ने कहा कि प्रतिशाखाओं को ही लिया जाए, वह कापोतलेश्या से तिर्यक् योनि में उत्पन्न होता है। चौथे ने कहा कि केवल गुच्छों को ही ले लिया जाय वह तेजोलेश्या से नर हो जाता है। पाँचवे ने कहा कि पके-पके फल गिरा लिये

जाते हैं- वह पद्मलेश्या से देवत्व को प्राप्त करता है। छठे ने कहा कि जमीन पर गिरे हुए ही आस्वादित कर लिये जाते हैं- वह शुक्ल लेश्या से सिद्धि के सुख का भागी बनता है। तब हे गौतम! देख तू कि एक भक्षण कार्य में छः ओं का लेश्याभेद पृथक् और भिन्न कर्मबन्ध है। जो काटो पीटो तोड़ो इत्यादि कर्कश वचन बोलता है जिसके न दया होती है न सत्य होता है वह कृष्णलेश्य होता है। जो पञ्च अनार्य कार्य करता है, छठा फिर धर्मार्थ कार्य करता है वह नीललेश्य है। जो चार पापमय कार्य करता है और दो जो धर्मनिमित्त कार्य करता है वह कापोतलेश्य है। जो दो कार्य पाप के लिए और चार कार्य धर्म के लिए करता है वह पद्मलेश्य है। जो एक कार्य पाप के लिए और पाँच कार्य धर्म के लिये करता है वह शुक्ललेश्य है। उससे जीवत्व को प्राप्त कर लेता है।'' भगवान् से कहे हुए उसको सभी सुर-असुर और नरेश्वरों ने वैसा स्वीकार कर लिया।

इस बीच में लम्बी भुजाओं वाले सुन्दर वेश वाले और वक्षःस्थल पर शोभित वनमाला वाले एक राजपुत्र ने समवसरण में भगवान् को प्रणाम करके कहा- ''भगवन्! क्या वह सत्य है जो दिव्य वन्दी ने वहाँ मुझे निवेदित किया था। वह मङ्गल है अथवा अमङ्गल है?'' भगवान् के कहा - ''भद्र! वह सब ही सत्य है।'' यह सुनकर 'भगवान् का आदेश प्रमाण' यह कह कर समवसरण से उसके चले जाने पर गौतम बोले-''हे नाथ! यह पुरुष कौन था? इसने क्या पूछा था?'' तब भगवान् ने अनेक लोगों के प्रतिबोध के लिए कहा -''जम्बूद्वीप में भरतखण्ड में मध्यमखण्ड में ऋषभपुर नाम का एक नगर है। वहाँ चन्द्रमण्डल की किरणराशि के समान निर्मलकीर्ति और स्फूर्ति वाला चन्द्रगुप्त पृथ्वीपति है। उसका अन्य पराक्रमी वैरिगुप्त पुत्र है। उसको अन्य दिन सभा में बैठे हुए उस पृथ्वीस्वामी को आकर और प्रणाम करके प्रतिहारी ने निवेदन किया - ''हे देव! नगर के प्रधान जन आपके चरणों का दर्शन चाहते हैं।'' यह सुनकर राजा ने कहा -''शीघ्र ही भेज दो।'' तब उसके साथ उन जनों ने प्रवेश करके और कोई अपूर्व वस्तु समर्पित करके राजा को प्रणाम करके निवेदन किया- 'राजा तो दुर्बलों को बल देता है' यह आप देव समझिये। सारे ही नगर को किसी ने चोर लिया है, जो कुछ अच्छा है वह सारा रात में चुरा लिया जाता है।'' राजा ने कहा -''तुम जाओ उस चोर को ही देखा जाता है।'' तब राजा

ने पुररक्षक को बुला कर आदेश दिया- "अरे! नगर के मध्य चोर का महान् उपद्रव है।" उसने भी कहा - "चुराये जाते हुए पदार्थ नहीं देखे जाते हैं और चोर भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। केवल यही प्रातःकाल सर्वत्र सुना जाता है कि पुर चुरा लिया गया। मैं आपके आदेश से पुर की रक्षा करता हूँ, पर किसी भी प्रकार चोर की प्राप्ति नहीं हुई तो स्वामी किसी अन्य का आदेश दीजिये" उसके ऐसा कहने पर नरेश्वर ने समस्त आस्थानमण्डल को देखा।

तब हाथ जोड़े हुए वैरिगुप्त ने निवेदन किया-"देव! यदि मैं सात रात्रि में उस चोर को आपके पास नहीं लाऊँ तो अग्नि में प्रवेश कर लूँगा।" तत्पश्चात् राजा का आदेश प्राप्त कर सुगुप्त विधि से प्रकोष्ठ में खेटक स्थापित किये हुए हाथ में तलवार लिये हुए चतुष्पथ, गली, गोपुर, उद्यान, सरोवर, बावड़ी, देवकुल, पानीयशाला और मठों में विचरण करते हुए वैरिगुप्त के छः दिन व्यतीत हो गये और फिर उसको वह चोर उपलब्ध नहीं हुआ। तब सातवें दिन वैरिगुप्त ने चिन्तन किया-'मैंने सर्वत्र पुर को ढूँढ लिया, पर चोर नहीं मिला, तो यहाँ कौन सा उपाय करना चाहिए? और मुझ को प्रातः प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होने से मृत्यु आ जाएगी, तो आज रात्रि में श्मशान में महामांस बेच कर किसी वेताल को साध कर चोर का वृत्तान्त पूछता हूँ,' यह सोचकर वैरिगुप्त श्मशान भूमि पर पहुँचा और वहाँ महासाहसी उसने छुरी से दोनों जाँघों से माँस काटकर हाथ में रखकर तीन बार कहा - "अरे रे राक्षसों पिशाचों! सुनिये यदि आपको महामाँस से कार्य है तो यह ग्रहण कर मुझको चोर का वृत्तान्त बताओ।" वेताल ने कहा -" महामाँस मैं लूँगा।" कुमार ने कहा-"यह प्रस्तुत है परन्तु चोर का पता बताओ।" कुमार द्वारा महामाँस अर्पित कर देने पर उसने कहा - "भद्र! यह माँस थोड़ा है और अपक्व है। यदि अग्नि से पकाया हुआ आप देते हैं तो ले लूँ।" कुमार ने कहा-"चिता के पास आओ जिससे स्वेच्छा से अग्नि में पका हुआ अपना माँस आपको दे दूँ।" वेताल बोला -"ऐसा है।" तब वे दोनों चिता के समीप आये। कुमार ने दूसरा अपना महामांस पका हुआ उसको दिया और उसने स्वेच्छा से उसे खा लिया। इस बीच में गौतम ने पूछा -"भगवन्! क्या पिशाच और राक्षस कावलिक आहार करते हैं या नहीं?" भगवान् ने कहा-"गौतम! नहीं करते।" गौतम ने कहा- "यदि वे नहीं खाते हैं तो कैसे इसने महा-मांस खा लिया?" भगवान् ने कहा -" प्रकृति से ये

व्यन्तर बच्चों की तरह क्रीड़ा करते हैं। महामांस खा लिया इस लोक की माया को दर्शाते हैं।'' वेताल बोला-''यह महामांस तो बिना हड्डी का मुझे रुचिकर नहीं है। यदि हड्डीवाला कटकटा शब्द करने वाला दूसरा माँस देत हो तो दो।'' यह सुनकर कुमार ने दाहिनी जाँघ काटकर चिताग्नि में पकाकर वैताल को अर्पित कर दी। फिर उसने कहा -''हे भद्र! इससे अब मैं पूर्ण हुआ, मैं बहुत ही प्यासा हूँ, तो तुम्हारा रक्त पीना चाहता हूँ।'' ''पी लो'' यह कहते हुए कुमार ने ज्यों ही नस चीरी त्यों ही आकाश में हाहाकार का अट्टहास फैल जाने पर-

''इस तुम्हारे अनन्यसदृश साहस से मैं सन्तुष्ट हूँ। वीर! जो कुछ माँगते हो वही मैं तुम्हें वितीर्ण करता हूँ।। ८१।।'' तब कुमार ने कहा कि ''यदि तुम सन्तुष्ट हो तो जिसने मेरे पुर को चुराया है उसी को मुझे कहो।। ८२।।'' वेताल ने भी कहा कि - ''हे देव! उस चोर का कोई भी प्रतिद्वन्द्वी मल्ल नहीं है, वह देखा हुआ भी पकड़ा नहीं जाता।। ८३।।'' यह सुन कर क्षत को अक्षत दृष्टि से देखकर कहा कि ''हे वेताल! तो चोर का स्थान ही बता दो।। ८४।।'' उस वेताल ने कहा ''यदि ऐसा है तो तत्त्वतः सुन लो, श्मशान के भीतर स्थित वट वृक्ष में उसका आवास है।। ८५।। उस वट में छिद्र ही द्वार है।'' यह सुनकर जल्दी से विकट प्रेत वनवट पर चढ़ कर शाखाओं-प्रतिशाखाओं में, मूल में और पत्र समूह में हाथ में कृपाण लिया हुआ कुमार देखने में प्रवृत्त हुआ। तत्पश्चात् कोटर के छिद्र के समीप राजकुमार ज्यों ही नीचे मुख करता है, त्यों ही उसमें से कश्मीर जघनसार मृगमद परिमल युक्त धूप की गन्ध निकलती है। कामिनीजन से उत्पन्न गीत से युक्त वेणुवीणा का राग सुनकर राजपुत्र ने विचार किया - 'उस चोर का मन्दिर देख लिया है। अब जो बलवान् होगा उसी का राज्य है' यह विचार कर उसी विवर में कुछ भूभाग जाकर सुन्दर सुवर्ण तोरण वाले सुन्दर युवतियों के संचार से युक्त मणिमय भवन को देखकर सोचा - 'वह दुष्टाचार वाला चोर कहाँ होगा?' यह चिन्तन करते हुए उसने किसी चञ्चल लोचनों वाली और पूर्णचन्द्रमुखी को देखा और पूछा - ''यह किसका आवास है? तुम कौन हो?' वह परास्कन्दी चोर कहाँ है? स्त्रियाँ क्या गाती हैं?'' उसने कहा-''भद्र! कैसे इतनी भूमि में आ गये? तुम अत्यन्त साहसी हो। किस स्थान से आये हो?'' उसने कहा - ''ऋषभपुर से।'' उसने कहा -''यदि तुम ऋषभपुर-निवासी हो तो क्या चन्द्रगुप्त नरेश्वर और उसके

पुत्र वैरिगुप्त को जानते हो?" उसने कहा -"भद्रे! तुम उन दोनों के नाम कैसे जानती हो?" उसने कहा - "वे दिन चले गए।" उसने कहा -"स्पष्ट कहो कि तुम उनकी क्या होती हो? उन दोनों को कैसे जानती हो? किस मार्ग से यहाँ प्राप्त हुई हो?" उसने कहा-"श्रावस्तीपुरी में सुरेन्द्र भूपति की पुत्री बाल्यकाल से ही उसके पिता के द्वारा वैरिगुप्त से विवाह करने को दी गयी हूँ मैं। इस बीच में उस विद्याधर से अपहृत करके यहाँ पाताल में डाल दी गयी हूँ। जानती हूँ उससे उस नाम वाली। केवल मैं ही अपहृत नहीं की गयी यहाँ और भी बहुतसारी महिलाएँ भी।" उसने विचार किया - 'अहो, मुझको ही यह चम्पकमाला दी गयी थी, तदनन्तर उस विद्याधर के द्वारा लायी गयी।' उसने कहा- "भद्रे! बताओ वह अधम विद्याधर कहाँ है? वह मेरे द्वारा कैसे मारा जाय? मैं वही वैरिगुप्त हूँ यदि मुझ पर महान् स्नेह है।" उसने कहा - "यदि आप वैरिगुप्त हो तो बहुत अच्छा हुआ।" उसने निवेदन किया -"कुमार! रहस्य सुनो जिससे पापी मारा जाय। इस देवायतन में इसका खेटक और सिद्धकृपाण रत्न है, उन्हें ले लो।" राजपुत्र ने कहा- "तो भद्रे! कहो कैसे वह विद्यासिद्ध है?" उसने कहा -"यह दिनपति सूर्य के अस्त हो जाने पर बहुत अन्धेरी रात में स्वेच्छा से परिभ्रमण करता है, महिला आदि जिस-जिस सार वस्तु को प्राप्त करता है, वह सब ले आता है। दिन में तो महिलावृन्द से घिरा हुआ यहीं रहता है तथा इसके इस कृपाण से और इस खेटक से समस्त कार्य सिद्धि है।" कुमार ने कहा -"अभी वह निर्दय चक्रवर्ती कहाँ है?" उसने कहा- "सदा ही सब स्त्रीजनों के बीच रहता है, अभी यदि वह है तो न मैं हूँ और न तुम।" उसने कहा -"यदि वह नहीं है तो वे कैसे गाती हैं?" तब उसने कहा - "भद्र! ये उसके बिना प्रमुदित हुई पढती हैं और गाती हैं और फिर अन्य रोती हैं।"

कुमार ने कहा -"भद्रे! मेरे और उसके दोनों के बीच इनका हृदयङ्गम कौन भावी है?" मुस्कुराकर उसने कहा- "क्योंकि ये महिलाएं प्रेमी और शूर को भी त्याग देती हैं, कोई तो कातर और निःस्नेह को भी ग्रहण कर लेती हैं।। ८६।। वायु से उड़ायी हुई ध्वनि की तरह और बिजली की तरह अस्थिर मनस्विनी महिलाओं के मन को कौन जान सकता है?।। ८७।। तो भी मैं इतना जानती हूँ कि यदि ये आपको देख लेंगी तो अवश्य ही इनका तुम में अनुराग

हो जायेगा। ये सभी आपके पुर से सम्बन्ध रखने वाली ही हैं। आपको देखकर पहिचान जायेंगी। तो इनको दर्शन देना ही चाहिए।'' कुमार ने कहा -''तो इस विद्यासिद्ध का सिद्धकृपाण और खेटक ले आओ, पश्चात् दर्शन दूँगा।'' उसने कहा -''कुमार! यहीं ठहरे रहना जब तक मैं सिद्धखेटक और सिद्धखड्ग लाऊँ'' यह कह कर ''चली गयी। तब कुमार ने विचार किया- 'शायद यह मेरी मौत के लिए कोई अन्य उपाय सोचती है, तो यहीं ठहरना उचित नहीं है', ऐसा कुमार विचार कर खेटक लिया हुआ और खड्गरत्न स्वीकार किया हुआ पीछे लौट कर ठहर गया। तब खड्ग और खेटक लेकर आयी हुई उस स्थान पर कुमार को न देखती हुई विषण्ण मन वाली को कुमार ने कहा- ''भद्रे! जल्दी से आ जाओ मैं यहाँ ठहरा हूँ।'' यह सुनकर उसने कहा ''इस स्थान से आप कैसे अन्यत्र चले गये?'' उसने कहा- ''क्योंकि बुद्धिमानों को स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह शास्त्रीय वचन है। इस लिए पीछे लौटकर स्थिर हो गया।'' ''कुमार! आप राज्यपदवी के योग्य हो जो महिलाओं का विश्वास नहीं करते'' यह कह कर उसने उसके सामने जमीन पर कौक्षेयक = कृपाण और खेटक रख दिया। राजकुमार ने अपना खड्ग और खेटक उसके हाथ में दे दिया। राजकुमार ने प्रदक्षिणा करके अद्वितीय रूपवान् उन दोनों को स्वीकार कर लिया। उसने कहा- ''यह खड्गरत्न कुमार की विजय के लिये हो।'' कुमार ने कहा -'भद्रे! वह दुष्ट विद्यासिद्ध अभी कहाँ है?'' उसने कहा -''कुमार! किस निगम (रास्ते) से यहाँ आप प्रविष्ट हुए थे?'' उसने कहा- ''बड़ के पेड़ के कोटर के छेद से।'' उसने कहा -''मैं द्वार नहीं जानती, यह फिर जानती हूँ जिस द्वार से तुम आये हो वह भी उसी से आयेगा, तो तुम तैयार होकर इस दिव्यखड्ग से उसका शिर काट देना, अन्यथा वह तुम्हारे लिए दु:साध्य हो जायेगा'' कुमार हाथ में कृपाण लिया हुआ छिद्र के द्वार पर स्थित हो गया।

इस बीच में वह दुष्ट विद्याधर प्रभात का समय समझ कर धवलगृह के ऊपर शय्या पर सोयी हुई अकेली उसी राजकुमार की पत्नी को अपहृत करके ले आया। उसी बिल में प्रवेश करते हुए उसको देख कर राजपुत्री ने पुकारा -''हे वैरिगुप्त! तुम्हारी प्रिया चम्पावती इस नाम से कही जाने वाली मैं इससे अपहृत कर ली गयी हूँ इससे मुझे यहाँ बचाओ।। ८८।।'' इस प्रकार उसके

विलाप को सुन कर विद्यासिद्ध ने कहा -"उससे तुझे क्या कार्य है? यदि उस दायित को प्राप्त कर लूँ तो उसे ही खा जाऊँ" यह सुनकर कुमार ने सोचा -'अहो! दुराचारी आ ही गया है पर मेरी प्राणप्रिया को लेकर, तो यह सुन्दर हुआ कि यह वही लोप करने वाला चोर है' यह विचारते हुए कुमार ने बिल के द्वार में विद्यासिद्ध के शिर को प्रविष्ट होता हुआ देखा। तब कुमार ने विचार किया -'इसका शिर काट दूँ, अथवा नहीं, क्या सत्पुरुष छिद्रान्वेषी होते हैं, यह सर्वथा उचित नहीं है, तो इसकी शक्ति देखता हूँ', यह सोचते हुए कुमार के सामने विद्यासिद्ध छिद्र से प्रविष्ट हो गया। तब कुमार ने कहा -"अरे! यदि आप विद्यासिद्ध हो तो नीति मार्ग पर चलो, जो अन्याय करते हो वह उचित नहीं है। यदि सचमुच चोर हो तो पकड़ने योग्य हो, तुम युद्ध करने को सज्जित हो जाओ।" उस राजपुत्र को देखकर 'अरे यह वैरिगुप्त कैसे आ पहुँचा? तो काम बिगड़ गया, तो इस बालक से क्या?' यह सोचते हुए विद्यासिद्ध ने कहा "यमराज के मुख के सामने इस बिल में किसके द्वारा फेंक दिये हो? रूप सौभाग्यशाली तुम क्यों मृत्यु चाहते हो? तब 'कृपाण कृपाण' यह कहते हुए देवायतन में राजपुत्र से।। ८९।। सम्बन्धित खड्ग और खेटक को लेकर विचार किया कि 'अहो! यह मेरा न खड्गरत्न है और न खेटक भी', ऐसा सोचता हुआ कुमार के पास आकर बोला - "मेरे अन्तःपुर में मातृ शासित किससे प्रेषित किया गया है? ज्ञात हुआ कि नहीं तुम्हारे ऊपर प्रेतपति कुपित है।। ९०।। अब तुम्हारा इस बिल से निर्गम नहीं होगा। सूपकारों को अधीन हुए तुम खरगोश के समान नष्ट हो जाओगे।। ९१।। "कुमार ने कहा -"अरे क्यों रे स्वैरचारी! तू मेरी प्रिया का हरण करके उन्मत्त हो रहा है? तू यम के निकट पहुँच ही गया है"।। ९२।। यह कहते हुए कुमार के उसकी ओर खड्ग का प्रहार दिया।। ९३।। कलाकौशलशाली उसने भी उस प्रहार का वञ्चित कर कुमार ने प्रति प्रहार मुक्त किया। कुमार ने भी उसको वञ्चित कर दिया। तब उनमें जंगली भैंसों की भाँति महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, पर इसमें किसी को भी जय नहीं हुई, तथापि 'यह विद्यासिद्ध कैतवी है' ऐसा सोचकर चम्पक माला ने कहा - "कुमार! इस खड्गरत्न को याद करो।" 'इसने सुन्दर कहा' यह विचार का कुमार ने कहा - अरे यदि तू सिद्धों में सिद्ध है और चक्रियों का

रत्न है तो मेरे हाथ में स्थित हुआ तो इसके शिर को अभी काट दे''।। ९३।। और विद्यासिद्ध ने सोचा- 'अरे, इसी स्त्री ने यह खड्गरत्न इसको अर्पित किया है' ''अरी पापिन! कहाँ जाती है?'' ऐसा कहता हुआ उसी दिशा में विद्यासिद्ध दौड़ा। जब तक इस वनिता तक नराधम नहीं पहुँचा तब तक राजपुत्र ने जल्दी से इसका शिर काट दिया।। ९४।। चम्पकमाला ने कहा-

''हे कुमार महाशय! इसके मुख के भीतर एक गुटिका है, इसके मुख को चीर कर तुम उसको ले लो।। ९५।।''

उसने यह सुन कर उसके चीरे हुए मुख से लेकर और धोकर अपने मुख में तत्क्षण डाल ली।। ९६।।

तब उस कुमार का उसी ललित विलासिनी जन के साथ विषय सुख का अनुभव करते हुए का समस्त गुरु वचन को विस्मृत किये हुए का, अपनी शक्ति से जीते हुए सिद्ध से प्राप्त अनेक प्राणयिजनों से युक्त पातालभुवन वाले वहीं रहते हुए का एक दिन की तरह बारह वर्ष बीत गये। बारह वर्ष के निकट सोये हुए उसके रात्रि के पश्चिम याम में न दीख पड़ते हुए मङ्गलपाठक ने पढ़ा-

''हे नरेश्वर! प्रभातसमय निद्रामोह को छोड़ दीजिये। कर्म निर्मूलन में समर्थ सद्धर्म का अवलम्बन लीजिये।। ९८।।''

दुस्तर घोर संसारसागर को जान कर, स्त्रीसङ्ग त्याग कर इस धर्मपोत को अलङ्कृत कीजिये।। ९९।।''

यह सुनकर राजपुत्र ने चिन्तन किया -'अरे, यह कहाँ वन्दि-ध्वनि है?'

उन्होंने कहा - ''देव! नहीं जानतीं, वह दिखायी नहीं देता, केवल शब्द ही सुना जाता है।'' इस प्रकार सात दिन तक 'जय-जय' इस शब्द के सहित संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाले वचनों का उच्चारण करते हुए बन्दी ने उसके चित्त को आश्चर्य चकित कर दिया। तब राजपुत्र ने कहा - ''यह अवश्य आयेगा तो इसीसे पूछता हूँ'' इस प्रकार कहते हुए उस कुमार के वह दिव्य बन्दी प्रत्यक्ष होकर 'कुमार! जय हो जय हो' यह बोला। कुमार ने कहा-

''हे दिव्य! कहो किस कारण शीघ्र आये हो? मेरे सामने प्रतिदिन क्यों वैराग्यवचन कहते हो?।। १००।।''

दिव्य ने कहा- "यदि तुम्हारे मन में कोई कौतुक है तो हे वत्स! इस पाताल गृह से निकलकर पूछना।। १०१।।"

उसने कहा - "किन्तु इस पाताल में वास करते हुए मुझको कितना समय बीत गया? यहाँ से मैं किस मार्ग से निकलूँ ?।। १०२।।"

उसने भी कहा - "इस पाताल में तुम बारह वर्ष तक रहे हो। तुम इस विवरद्वार से शीघ्र निकल जाओ।। १०३।।"

यह सुनकर कुमार उठ खड़ा हुआ। बन्दी तिरोहित हो गया। उन स्त्रियों ने नमन कर उस कुमार से कहा -"इसके अनन्तर देव क्या करना चाहते हैं?" कुमार ने कहा -"मैं दिव्य ज्ञानी भगवान् के पास किसी भी प्रकार जाकर पूछूँगा कि जो यह कहता है क्या यह सत्य है? इसे किया जाय या नहीं?" तब उन्होंने कहा - "जिस मार्ग को आप अङ्गीकार करेंगे, हम भी उसी का अनुसरण करेंगे।" इस प्रकार निश्चय कर कुमार ने तत्क्षण उठकर उसी विकटद्वार से निकल कर यहाँ हम स्थितों को मानकर आकर सन्देह पूछा और निकल कर गया हुआ वह यह चन्द्रगुप्त का पुत्र वैरिगुप्त है, पूर्वजन्म के सम्बन्धी से सङ्केतित देवकृत बन्दिप्रयोग से प्रतिबुद्ध हुआ है। तब गौतमगणधारी ने निवेदन किया -"भगवन्! वह कहाँ गया है?" भगवान् ने कहा -"उन कामिनीजनों को पाताल से निकालकर इस समय समवसरण के तृतीय तोरण के निकट यह आ पहुँचा है" भगवान् ने जब तक यह कहा तब तक कुमार ने स्त्रीवृन्द के साथ भगवान् की प्रदक्षिणा करके प्रणाम कर सुखासनस्थित होकर पूछा "भगवन्! किस कारण कौन यह दिव्य स्तुति का व्रत लिया हुआ प्रतिबोध कराता है? वह इस समय कहाँ है?" तब भगवन् ने पञ्चजनों की भवपरम्परा का विस्तार करना प्रारम्भ किया कि तब मणिरथकुमार, कामगजेन्द्र और वह तृतीय वैरिगुप्त स्वर्ग से च्युत होकर आप लोभदेव जीव यहाँ उत्पन्न हुए हो और प्रमत्त। तब मायादित्य और चण्डसोम ने अनेक प्रभातकालीन मङ्गलपाठ के मिष से प्रतिबोधित किया।" उसे सुनकर कुमार ने कहा -"भगवन्! अब क्यों विलम्ब करते हैं? दीक्षा देने की कृपा कीजिये।" तब भगवन् ने युवतिजनों के सहित वैरिगुप्त को प्रव्रजित कर दिया। तदनन्तर समस्त त्रैलोक्यरूपी सरोवर का अलङ्कार बना हुआ पुण्डरीक, पुण्डरीक की धवलमहिमा वाला श्रीवर्धमान हस्तिनापुर आकर समवसृत हो गया। भगवान् ने भी रागयुक्त और रागहीन देवता

के स्वरूप की व्याख्या की। स्कन्द, रुद्र, चतुर्मुख, व्यन्तरगणाधिप आदि सराग देव आराधित किये हुए लोगों को जनाधिपों की भाँति राज्यश्री प्रदान करते हैं और रुष्ट होते हुए वे उसे अपहृत भी कर लेते हैं। फिर कर्मरूपी इन्धन जिनका जल गया है ऐसे तीर्थङ्कर सिद्ध केवली रज, मद और मद से रहित ये नीराग स्वर्ग और अपवर्ग की श्री देते हैं।

इस बीच में श्यामल वक्षःस्थल पर शोभित ब्रह्मसूत्र वाले ब्राह्मणपुत्र ने तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् को प्रणाम कर पूछा -"भगवन्! कौन यह पक्षी मनुष्य वाणी में बोल रहा है? जो उसने कहा - वह युक्त है अथवा अयुक्त?" भगवान् बोले - "भद्र! वह पक्षी वन में दिव्य है, उसने जो कहा वह युक्त ही है।" यह कह कर वह समवसरण से निकल गया। तब ज्ञानवाले भी श्रीगौतम ने पूछा -"क्या यह सुखसंभव दायक है? इसने क्या पूछा?" इस प्रकार पूछे गये भगवान् ने कहा-

ज्यादा दूर नहीं, सरलपुर ब्राह्मणों का स्थान है। वहाँ महेभ्य सूत्रकण्ठ है। उसका पुत्र स्वयम्भुदेव है। वह यज्ञदेव कालक्रम से परलोक सिधार गया। उस ब्राह्मणपति के अस्त हो जाने पर सारा ही धन विलीन हो गया। पूर्वकार्यों के फलस्वरूप इसके पास एक दिन का भोजन नहीं रहा। इस प्रकार धनक्षीण हो जाने पर लोकयात्रा नहीं होती, अतिथि सत्कार समाप्त हो गए। बन्धुकर्म शिथिल हो गए और दान गलहस्ती बन गए।

जब तक घर में लक्ष्मी रहती है तब तक ही व्यक्ति गुरु और बान्धवों की महिमा का पात्र रहता है।। १०४।।

दरिद्रता का अञ्जन लगाये हुए लक्ष्मीवालों के सामने विद्यमान भी दृष्टि के अतिथि नहीं बनते।। १०५।।

मनुष्यों को लक्ष्मी के साथ अन्धापन और बहरापन हो जाता है इसीलिए वे दीन व्यक्ति को न देखते हैं और न उसका वचन सुनते हैं।। १०६।।

यह जानकर माता ने स्वयम्भुदेव को कहा-

"हे वत्सलमानस वत्स! लक्ष्मी से ही यहाँ सदा शोभित होते हैं, उसके बिना तो तुम यहाँ जीते हुए भी मृत हो।। १०७।।

वे पुण्यवान् तुम्हारे पिताजी अस्त हो गए, अतः कुटुम्ब का पोषण तुम्हारे ही अधीन है।'' यह सुनकर स्वयम्भुदेव माता के चरणों में नमस्कार के साथ अञ्जलि बनाये हुए बोला- ''माताजी! मन को खिन्न मत करो। मैं बहुत दिनों तक धन उपार्जित न किया हुआ घर में प्रवेश नहीं करूँगा।'' यह कहकर घर से निकल कर ब्राह्मणपुत्र ग्राम, नगर और खेट से व्याप्त विपुल चम्पापुरी में सभी उपायों से धन को खोजता हुआ पहुँचा। वहाँ सूर्यास्त हो जाने पर स्वयम्भुदेव पुरी के भीतर प्रवेश न पाता हुआ एक जीर्ण उद्यान में प्रवेश कर 'किस रीति से रात निकालने का उपाय करूँ?' यह सोचते हुए ने तमालवृक्ष पर चढ़कर चिन्तन किया -'इस जन्म को धिक्कार है कि इतने दिनों तक बीच में सर्वत्र घूमते हुए मेरे हाथ में एक कोड़ी भी नहीं चढ़ी। घर में कैसे प्रवेश करूँ?' इस तरह चिन्तन करता रहा। तब उस पेड़ के नीचे दो जने आये एक ने कहा, ''यह काम इस तालाब के नीचे करना चाहिए।'' दूसरा बोला - ''ऐसा हो'' तब दोनों ने दशों दिशायें देख कर कहा-''यह स्थान सुन्दर है।'' स्वयम्भुदेव उनकी बात सुनकर चुप रहा। तब उन दोनों ने खन्नि से जमीन खोद कर पहचान के साथ उसमें करण्ड रख कर कहा-''यहाँ जो भी कोई भूत, पिशाच या और कोई भी हो वह न्यास की गयी निधि की सदा रक्षा करे।। १०७।।''

यह कह कर वे दोनों यथास्थान चले गये। फिर उसने विचार किया-

'जहाँ जिसके द्वारा जब जो और जितना जिससे प्राप्त करने योग्य होता है, वहाँ उसके द्वारा तब वह उतना उससे प्राप्त कर लिया जाता है।। १०८।।'

यह सोचकर पेड़ से उतर कर करण्डक में रक्खे हुए पाँच रत्न देखकर रोमाञ्चित हुए उसने विचार किया- 'इसको स्वीकार कर अब मैं अपने घर चलूँ' यह विचारकर और लेकर स्वयम्भुदेव मार्ग में जाता हुआ जंगल पहुँचा। इधर सूर्य भी अस्तङ्गत हो गया। उसने भी बहुत वृक्षों से व्याप्त किसी प्रदेश में अनल्प श्यामपत्रों से युक्त एक न्यग्रोधवृक्ष पर आरूढ होकर विचार किया - 'अरे विधि को जो देना था उसने दे दिया। तो अब घर गया हुआ मैं एक रत्न बेच कर समस्त कुटुम्ब बान्धवों का जो कृत्य है वह करूँगा।' तब सूची भेद्य अन्धकार होने पर वहाँ विविध वर्णों वाले बहुत से उन्नत शरीर वाले पक्षी

स्वयम्भुदेव से अधिष्ठित उसी वट पर आकर आश्रित हो गये। पुनः वहाँ आकर एक पक्षी ने पक्षिसमुदाय के मध्य में स्थित वृद्धावस्था से जीर्ण अङ्गों वाले एक पक्षी को प्रणाम करके कहा- "तात! आपसे मैं उत्पन्न हुआ, आपने मुझे संवर्द्धित किया, मैं तरुण बन गया दोनों नयन मेरे आज सफल हो गये, कान भी कृतार्थ हो गये, यह पक्षियुगल भी सार्थक हो गया। आज मैं गरुड़ से भी अपने आपको गुरुतर मानता हूँ।" यह सुनकर जीर्णपक्षी ने कहा -"इस समय तुम अत्यन्त अमन्द आनन्द - सन्दोह से पूर्ण मनवाले से दीख रहे हो, अतः भ्रमण करते हुए तुमने जो कुछ भी देखा सुना या अनुभूत किया - वह सब बताओ।" उसने कहा -"तात! सुनिये, आज मैंने आपके पास से गगन में उड़कर कुछ आहार ढूँढते हुए गगन में भ्रमण किया तो हस्तिनापुर में तीन प्राकारों के बीच मनुष्यलोक को देख कर 'अहो! यह मैं क्या फिर देख रहा हूँ,' यह सोचकर द्वितीय प्राकार में पक्षियों के गण में जाकर बैठे हुए मैंने रक्त अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर बैठे हुए भगवान् को कोई दिव्यज्ञानी जान कर विचार किया -'अरे! जो मुझे द्रष्टव्य था त्रिभुवन में आश्चर्यकारी उसे मैंने देख लिया।' फिर तात! जब उस भगवान् ने समस्त संसार का स्वरूप बताया, यथा - प्राणिगण का विचार दर्शाया, कर्मप्रकृतिविशेष का विस्तार किया, विशेष करके बन्धन निर्जरा का अभाव कहा, संसाराश्रव का विकल्प बताया, उत्पत्ति- स्थिति- प्रलय का विशेष विस्तार किया, यथास्थित मोक्षमार्ग का निरूपण किया। तब मैंने भगवान् से पूछा -"हे नाथ! हमारे जैसे पक्षी वैराग्य किए हुए भी तिर्यग्योनि के कारण पराधीन हुए क्या करें?" तब भगवान् ने मेरा अभिप्राय जानकर कहा -"हे देवानुप्रिय! तुम संज्ञावान् पञ्चेन्द्रियों वाले पर्याप्त तिर्यग्योनि भी सम्यक्त्व को प्राप्त हो।" गणधारी ने कहा - "कौन से प्राणी नरकगामी होते हैं?" भगवान् ने कहा -"जो पञ्चेन्द्रिय वालों का वध करने वाले हैं और माँसाहारी हैं वे सभी देहधारी नरकगामी होते हैं। जो सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं वे नरक और तिर्यक् के द्वारों को बन्द करने वाले हैं।" मैंने कहा -"देव! पक्षी पञ्चेन्द्रिय वालों को मारने वाले माँसाहारी होते हैं तो वे कैसे सम्यक्त्व को धारण करते हैं? हमारा जीवन तो पापपरक ही होता है। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिये?" तब भगवान् ने कहा -

"जो स्नेह त्याग कर और सौव एवम् इन्द्रिय समूह को नियन्त्रित करके यथाविधि देह त्यागता है वह प्राणी सुन्दर गति प्राप्त करता है।। ११०।।

शुद्ध मन वाले पक्षी भी सम्यक्त्व को धारण करते हैं" यह कहकर उठकर भगवान् अन्यत्र विहार के लिए चले गये। मैं भी उस भगवान् के उपदेश को सुनकर उत्पन्न वैराग्य वाला बना हुआ और आहार न किया हुआ हे तात! आपके पास आया हूँ। अब कृपा करके मुझे भेज दो। मेरा सारा अपराध क्षमा कर दो जिससे स्वार्थपर हो जाऊँ।" तब वह पक्षी स्नेह की शृङ्खलाओं को छेद कर स्पर्शन आदि अश्वों के समूह को नियन्त्रित करके माता को, बड़े-छोटे भाई को और बड़ी छोटी बहन को, भार्या को, शिशुओं को और मित्रों को पूछ कर गगनतल में उड़ गया।

और इधर रात्रि व्यतीत होने पर सारा ही पक्षिवृन्द वटवृक्ष से प्रयाण कर गया। उस पक्षिवृन्द को उड़ा हुआ देखकर स्वयम्भुदेव भी विस्मितमना विचार करने लगा -"अरे, महान् आश्चर्य है कि इस वन में पक्षी भी मनुष्यों की भाषा बोलने वाले और सद्धर्म - परायण हैं। ये अवश्य देवपक्षी हैं। उस पक्षी ने कुटुम्ब को त्याग कर अपने हितकारी धर्म को स्वीकार किया है। यदि पक्षी भी धर्ममार्ग का अनुसरण करते हैं तो दूसरों के रत्न लेकर मैं कुटुम्ब का पोषण कैसे करूँ? तो इस समय मेरा यही कर्त्तव्य है जिसके पास उसने धर्मश्रवण किया था उसी से जाकर पूछूँ 'भगवन्! पक्षी कौन है? उन्होंने क्या मन्त्रणा की, यह पूछ कर जो कृत्य होगा उसे पश्चात् करूँगा, जो उस पक्षी ने किया' यह निर्णय कर वटवृक्ष से उतरकर इस हस्तिनापुर में आ गया, हे गौतम! मेरे समवसरण में वह यह प्रविष्ट हुआ है, इसने मुझे पूछा है, वह पक्षी वन में कौन था?, कहा मैंने कि यह दिव्य पक्षी है। यह सुन कर उत्पन्न वैराग्य वाला वह निकल गया। तब निवृत्त कामभोग वाला उत्पन्न वैराग्यवाला नष्ट चारित्र के आवरण कर्म वाला उन दोनों को रत्न सौंप कर मेरे ही पास अभी आ रहा है।" महावीर भगवान् यह बता ही रहे थे कि गौतमादि के सम्मुख स्वयम्भुदेव आ पहुँचा और भगवान् को प्रणाम करके बोला -"देव! वन में पक्षिवचन सुनकर मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मुझको दीक्षा दे दीजिये।" तब भगवान् ने यथाविधि स्वयम्भुदेव को दीक्षित कर दिया। चन्द्रसोमजीव स्वयम्भुदेव

पूर्वजन्म के संकेतित देव से पक्षि-प्रयोग से प्रतिबोधित कर दिया गया। तब भगवान् सर्वज्ञ श्रीमहावीरदेव मगधदेश मण्डल में श्रीगृह राजगृह चले गये। वहाँ सर्वदेवों द्वारा रचित समवसरण में श्री श्रेणिक पृथ्वीपति ने सपरिवार परमभक्ति से भगवान् को नमन कर यथास्थान आसीन होकर सादर पूछा -"भगवन्! श्रुतज्ञान क्या है?" तब भगवान् ने साङ्गोपाङ्ग विशिष्ट श्रुतज्ञान बताया-

"अ, इ, क, क, च, ट, त, प और श इनको शोभन वर्ण जानना चाहिए!

आ, ई, ख, छ, ढ, थ, फ, र और ष ये अशोभन वर्ण कहे गये हैं।। १११।। ए, उ, ग, ज, ड, द, ब, ल और स ये सब कार्यों में सुभग होते हैं। ऐ , औ, थ , झ, ढ, ध, भ, व, ह और न ये किन्हीं कार्यों में सुन्दर हैं।। ११२।। ओ, औ, ङ, ञ, ण, न, म, अं, अः ये कार्यों में मिश्र स्वरूप होते हैं। अब ऐसे वर्णों का सब फल भी बताऊँगा।। ११३।। शोभन-अशोभन, सुख-दुःख, सन्धि-विग्रह, आता है, नहीं आता है, लाभ-अलाभ, न जय तथा जय।। ११४।।

कार्य होता है नहीं होता है, क्षेम नहीं है क्षेम है नहीं है, सम्पत्ति, विपत्ति, जीवन एवं मृत्यु।। ११५।।

प्रथमवचन में भी प्रथम शुभवर्ण बहुत है, कार्यसिद्धि जानो, कार्य सिद्ध होता है, अशुभ नहीं।। ११६।।

अथवा पृच्छावचन प्रथम लेकर उसका निरीक्षण करे, विधिवचन में शुभ होता है और प्रतिषेध वाक्य में शुभ नहीं होता।। ११७।।

अथवा फल कुसुम, अक्षतपत्र, रूपक अन्य पुरुषरूप अष्टभागलब्ध को लेकर उससे फल जानना।। ११८।।

ध्वज में तो सब सफल है, धूम उद्वेगकारी होता है, सिंह में राज्य और श्रीविजय होती है और मण्डल में स्वल्पलाभ।। ११९।। वृष में तुष्टि पुष्टि, खर में गमन कलि, गज में पूजा होती ही है, काक में नित्य परिभ्रमण।। १२०।।"

इस बीच में श्रेणिकभूपति के अष्टवर्षीय पुत्र महारथकुमार ने स्वामी को नमन करके निवेदन किया -"भगवन्! आज मैंने स्वप्न में सुवर्ण मिश्रित कालायस देखा है। ततः अग्नि की ज्वाला से तपा हुआ वह गिरिसार क्षीण हो गया, वह केवल सुवर्ण ही रहा, उसका विशेष फल क्या है?" भगवान् ने

बताया -''भद्र! यह स्वप्न शोभन है। प्रान्त में सम्यक्त्व, चारित्रकेवलज्ञान समृद्धि की और शाश्वत सुख संगम को सूचित करता है। शिलासार के समान कर्म होता है और जीव तो सुवर्ण के समान। तुमने ध्यान रूपी अग्नि से उसे जलाकर अपनी आत्मा को निर्मल कर लिया है। हे भद्र! तुम चरमदेह बन गये हो। राजगृह में कुवलयमाला जीव देव च्युत होकर स्वर्गत हो गया। उसको मायादित्यादि देव सारा ही कह दिया। वे सभी प्रव्रजित हो गये। इन सुकृतियों को तुम देखलो।''

तो यह सुनकर महारथ कुमार ने कहा -''भगवन्! यदि ऐसा है तो यह मनोरूपी अश्व विषम है, क्यों विलम्ब करते हो? मुझको दीक्षा दे दीजिये।'' ऐसा कहने पर उस भगवान् श्री वर्धमान ने महारथकुमार को दीक्षित कर दिया। इस प्रकार वे पाँचों भी मिले हुए जन परस्पर जानते हैं यथा पूर्व में संकेत किए हुए सम्यक्त्वलाभ में हम हैं। इस प्रकार भगवान् श्री वर्धमान के साथ विचरण करते हुए उनके बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। जिनेश्वर ने कहा मणिरथ कुमारादि साधुओं को कि 'आपकी आयु थोड़ी है'' यह जानकर उन पाँचों ही यतियों ने अनशन कर राग द्वेष इन दो बन्धनों से रहित, तीन शल्य और तीन दण्डों से शून्य हुए क्षीण हुए चारों कषायों वाले, पञ्च इन्द्रियों के विजेता, छः जीवनिकायों के पालक बने हुए, सप्त भयस्थानों में रत हुए, आठ प्रकार मदस्थानों से विवर्जित, नवों ब्रह्मगुप्तियों में रत हुए, दश प्रकार के साधुधर्म के प्रतिपालन में उद्यत बने हुए एकादश अङ्गों के धारक, द्वादश प्रकार को तप को तपते हुए द्वादश प्रतिमाओं में रुचि बाँधे हुए, दुःसह परिग्रह को सहने वाले, स्वकीय देह में भी निरिच्छ बने हुए आमूल श्रामण्य धर्म को निष्कलङ्क पालते हुए अन्तिम समय में समाधि द्वारा आराधना की।

तथाहि कालविनयादि ज्ञानाचार अष्टप्रकार का है, निःशङ्कित आदि दर्शनाचार अष्टविध है, उसमें जो कोई भी अतिचार है, उसको सर्वथा ही त्याग देते हैं। एक इन्द्रिय वाले भूमि, तेज, वायु, वनस्पति आदि की, दो इन्द्रियों वाले कृमि, शङ्ख शक्ति, गण्डमूल जलौकादि की, तीन इन्द्रियों वाले यूका, मत्कुण, लिक्षा आदि की, चार इन्द्रियों वाले पतङ्ग मक्षिक, भृङ्ग, दंश आदि की, पाँच इन्द्रिय वाले जलचर, भूचर, खेचर, मानव आदि की हमारे द्वारा जो हिंसा की गयी

है सूक्ष्म या स्थूल मोह या लोभ से उसको त्याग देते हैं। हास्य से, भय से, क्रोध से अथवा लोभ से जो कुछ भी वृथा कहा गया उस सब की निन्दा करते हैं और प्रायश्चित्त करते हैं। जो स्वल्प भी धन दूसरे के बिना दिया हुआ रागद्वेष से लिया उस सब को भी त्याग देते हैं। पक्षी, मनुष्य, देव सम्बन्धी जो मैथुन हमारे द्वारा किया उन तीन प्रकार के मैथुनों को तीन प्रकार से त्यागते हैं। जो धन, धान्य, पशु आदि का लोभ से परिग्रह किया उसे त्यागते हैं। पुत्र, पत्नी, मित्र, बान्धव, धन, धान्य, गृह आदि में और अन्यों में भी जो ममत्व किया उस सबकी भी निन्दा करते हैं। इन्द्रियपक्ष में पराभूत हुए हमारे द्वारा चार प्रकार का भी आहार रात में जो किया गया उसकी भी तीन प्रकार से निन्दा करते हैं। क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, पैशुन्य, परनिन्दा, आख्यान आदि चारित्र के सम्बन्ध में जो दुराचार किया उस को तीन प्रकार से त्यागते हैं। वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, नमस्कार, परिवर्त्तनादि में वीर्याचार्य में जिस वीर्य का गोपन किया उसकी तीन प्रकार से निन्दा करते हैं। जिस किसी की भी कोई वस्तु अपहृत की, किसी को प्रहार दिया, या किसी को कर्कश वचन कहा और जिसका अपराध किया वे सभी हमारे उसको क्षमा करें। जो मित्र अमित्र स्वजन शत्रुजन हैं वे सभी क्षमा करें उन सब में भी समान हैं। तिर्यक्योनि में तिर्यञ्चों को, नरक योनि में नरकवासियों को, स्वर्ग में स्वर्गवासियों को और मनुष्य योनि में मनुष्यों को जिनको हमने दुःख में गिराया, वे सभी क्षमा करें हम भी उनको क्षमा कराते हैं। उन सब में हमारी मैत्री हो। जीवन, यौवन, लक्ष्मी, लावण्य और प्रियसङ्ग ये सभी वायु से नचायी हुई समुद्र की तरङ्गों के समान चञ्चल हैं। व्याधि, जन्म, वार्द्धक्य और मृत्यु से ग्रस्त देहधारियों के लिये जिनप्रणीत धर्म के बिना कोई भी अन्य धर्म शरण नहीं है। ये सभी जीव स्वजन और परजन उत्पन्न हुए उनमें अल्प भी हम सुधी जन कैसे प्रतिबन्ध करें? एक ही प्राणी उत्पन्न होता है,एक ही विपत्ति प्राप्त करता है। एक सुखों का उपभोग करता है और एक ही दुःखों का भी। शरीर अन्य है, धनधान्यादि अन्य है, बान्धव अन्य हैं, जीव अन्य हैं - कैसे हम उनमें वृथा मोहित होते हैं? रस, रक्त, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, यकृत्, शकृत् आदि से पूरित अपवित्रता के आलय शरीर में हम मूर्च्छा नहीं करते। यह देह नित्य पाला हुआ भी लालित किया हुआ भी किराये पर लिये गये घर की

तरह अस्थिर है, इसे छोड़ना ही है। धीर भी, कातर भी देहधारी मृत्यु प्राप्त करते हैं। हम उस प्रकार मरेंगे जिससे फिर हमको मृत्यु की पीड़ा नहीं हो। अब अर्हन्त, सिद्ध साधु और केवलि-भाषित धर्म ही हमारा शरण है। जिनद्वारा उपदिष्ट कृपामय धर्म माता है, धर्माचार्य पिता है और यह साधर्मिक बन्धु सहोदर है। अन्य सब तो इन्द्रजाल के सदृश है। भरत ऐरावत महाविदेहों में श्रीवृषभनाथादि जिनों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को, साधुओं को नमन करते हैं। सावद्ययोग उपधि को तथा बाह्य तथा आभ्यन्तर त्रिविध जीव को त्रिविध उपाय से त्यागते हैं। जीवन पर्यन्त चतुर्विध आहार को और अन्तिमश्वास में देह को भी त्यागते हैं। दुष्कर्मनिन्दा, प्राणिमात्र को क्षमा, भावना, चतुःशरण, नमस्कार तथा अनशन इस प्रकार आराधना षड्विध कही गयी है। तब ध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्मरूपी इन्धन समूह को क्षणात् दग्ध करके उत्पन्न कैवल्यज्ञान से त्रिलोकीतल को ज्ञात किये हुए वे पाँचों ही मुनीश्वर त्यक्तदेह वाले और श्रीयुत मुक्तिरूपी नितम्बधारिणी के स्तनों को अलङ्कृत करने वाले हार की सी शोभा वाले बन गये।

इस प्रकार श्रीपरमानन्दसूरि के शिष्य श्रीरत्नप्रभसूरि द्वारा विरचित श्रीकुवलयमाला कथा संक्षेप में श्रीप्रद्युम्नसूरिशोधित कुवलयचन्द्र-पितृसंगम-राज्यनिवेश-पृथ्वीसारकुमार-समुत्पत्ति-ग्रहणप्रभृतिक चतुर्थ प्रस्ताव पूर्ण हुआ।।4।।

।। यह कुवलयमाला कथा समाप्त हुई।।

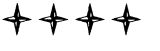

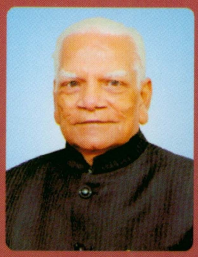

महोपाध्याय विनयसागर

एक परिचय

जन्म तिथि :1 जुलाई 1929

माता-पिता : (स्व.) श्री सुखलालजी झाबक श्रीमती पानीबाई।

गुरु : आचार्य स्व. श्री जिनमणिसागरसूरि जी महाराज

शैक्षणिक योग्यता-

1. साहित्य महोपाध्याय
2. साहित्याचार्य
3. जैन दर्शन शास्त्री
4. साहित्यरत्न (संस्कृत-हिन्दी) आदि

सामाजिक उपाधियाँ-

शास्त्रविशारद, उपाध्याय, महामनीषी, महोपाध्याय, विद्वद्रत्न

सम्मानित-

राजस्थान शासन शिक्षा विभाग, जयपुर,
नाहर सम्मान पुरस्कार, मुम्बई,
साहित्य वाचस्पति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
की सर्वोच्च मानद उपाधि
संस्कृत साधना सम्मान, राजस्थान सरकार

साहित्य सेवा-

सन् 1948 से निरन्तर शोध, लेखन, अनुवाद, संशोधन/संपादन, वल्लभ-भारती, कल्पसूत्र आदि विविध विषयों के 99 ग्रन्थ प्रकाशित और प्राकृत भारती अकादमी के 171 प्रकाशनों का सम्पादन, शोधपूर्ण डेढ़ सौ से अधिक निबन्ध प्रकाशित।

भाषा एवं लिपि ज्ञान-

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी भाषाओं एवं पुरालिपि का विशेष ज्ञान।

कार्य क्षेत्र-

सन् 1977 से प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर के निदेशक एवं संयुक्त सचिव पद पर कार्यरत।

प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017
दूरभाष : 0141-2524827, 2520230
ईमेल : prabharati@gmail.com

ISBN No. : 978-93-81571-27-9

एम. एस. पी. एस. जी. चेरीटेबल ट्रस्ट
13-ए, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017
मोबाइल : 93148-89903